रस सिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा

प्रो. सुरजनदास स्वामी
एम० ए० (संस्कृत)
साहित्य-व्याकरण-वेदान्त-सांख्ययोगाचार्य

(१)

प्रकाशक
नीरज शर्मा
सी-82, रामदास मार्ग, तिलक नगर, जयपुर

प्रथम संस्करण : 1983

मूल्य : 90/-

प्रकाशक : नौरत्न शर्मा

मुद्रक : सतीशचन्द्र गुप्त
वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

इस ग्रन्थ के रचयिता प्रोफेसर सुरजनदास स्वामी

प्रो. सुरजनदास स्वामी

जन्म संवत् १९६७, झुंझनू, शेखावाटी

दीक्षा जमात उदयपुर, शेखावाटी

शिक्षा श्री दादू महाविद्यालय, जयपुर व वाराणसी में। साहित्य व्याकरण, वेदान्त व सांख्य योगादि विषयों की आचार्यपर्यन्त तथा एम ए (संस्कृत) पर्यन्त। स्वर्गीय विद्यावाचस्पति प श्री मधुसूदन जी महाराज से वैदिक विज्ञान की शिक्षा।

अध्यापन सन् १९३१ से १९७४ तक विभिन्न महाविद्यालयों तथा जोधपुर विश्वविद्यालय में।

पुस्तकें अनेक पुस्तकों का सम्पादन। कुछ प्रमुख प्रकाशित पुस्तकें—दादू-वाणी और दर्शन, दादू वाणी की ९० पृष्ठात्मक भूमिका, आधिदैविकाध्याय, आशौचपंजिका, पदनिरुक्त, देवासुरख्याति, मन्वन्तरनिर्धार, पथ्यास्वस्ति, पुरुषोत्पत्तिप्रसग, सन्ध्योपासनरहस्य व यज्ञोपवीत-रहस्य। शतपथ ब्राह्मण के द्वितीय काण्ड तथा प्रथम काण्ड के ६, ७, ८, ९ अध्यायों का स्वरचित हिन्दी अनुवाद तथा स्व मोतीलाल जी के हिन्दी विज्ञान भाष्य के साथ सम्पादन।

यजुर्वेद के प्रथम, द्वितीय, तृतीय अध्यायों व अथर्ववेद के कुन्ताप सूक्तों पर महामण्डलेश्वर श्री गंगेश्वरानन्द जी द्वारा विरचित संस्कृत समन्वय भाष्य का तथा सामवेद पर हिन्दी समन्वय भाष्य का सम्पादन।

दर्शन, वेद व साहित्य सम्बन्धी अनेक शोधलेखों का प्रकाशन।

प्रकाशनाधीन पितृतत्त्व, पुराणरहस्य, विचारसागर का संस्कृत रूपान्तरण, दादूवाणी का संस्कृत पद्यानुवाद आदि।

स्व० त्यागमूर्ति स्वामी मङ्गलदासजी महाराज

त्यागिनां ब्रह्मलीनानां स्वामिनां समदर्शिनाम् ।
श्रीमन्मङ्गलदासानां गुरूणां चरणाम्बुजे ॥१॥
ध्यात्वा समर्प्यते भक्त्या तदीयकरकञ्जयो ।
रससिद्धान्त-शास्त्रीय-समीक्षेयं कृतिर्मया ॥२॥

सम्मतियाँ

मैंने प्रो सुरजनदास स्वामी की नव-प्रकाशित कृति 'रससिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा' का अवलोकन किया। रस-सिद्धान्त और उसके विविध पक्षों पर विगत वर्षों मे, विशेषत हिन्दी मे, अनेक ग्रन्थ लिखे गये हैं, और ऐसा प्रतीत होता है कि अब भारतीय काव्यशास्त्र के इस महनीय सिद्धान्त का कोई पक्ष अनालोचित नही रह गया है। इन ग्रन्थो मे रस-सिद्धान्त की व्याख्या भी हुई है और समीक्षा भी। व्याख्याकारो और समीक्षको मे परम्परागत पद्धति से भारतीय काव्यशास्त्र का गहन अध्ययन करने वाले मनीषी विद्वान् भी हैं और आधुनिक पद्धति से, मुख्यत अनुवाद के माध्यम से, उसका अनुशीलन करने वाले समीक्षक बन्धु भी हैं। कुल मिलाकर, अधिकारी और अनधिकारी दोनो प्रकार के लेखको द्वारा इस विषय पर इतना लिखा गया है कि उस सबकी समीक्षा और परीक्षा भी आज आवश्यक हो गई है।

प्रो स्वामी की प्रस्तुत कृति का उद्देश्य दोहरा है भारत के प्राचीन आचार्यों के मतो का यथातथ्य उपस्थापन करके रस सिद्धान्त, जिसकी व्यापक परिधि मे भाव, रसाभास, भावाभास आदि भी समाविष्ट हो जाते है, के विशद व्याख्यान द्वारा उसका स्पष्टीकरण तथा आधुनिक विद्वानो द्वारा प्राचीन आचार्यो के मतो के अवबोधन एव निरूपण मे दीख पडने वाली विसगतियो एव उनके परिणामस्वरूप रस के सम्बन्ध मे प्रचलित कतिपय भ्रान्तियो का निराकरण करके इसके सही स्वरूप का विशदीकरण। प्रो स्वामी ने आचार्य विश्वेश्वर, डा नगेन्द्र, डा प्रेमस्वरूप गुप्त तथा अन्य विद्वानो की रस-सम्बन्धी कतिपय भ्रान्त धारणाओ और निष्कर्षों का अपाकरण करके अपने मत की सयुक्तिक स्थापना की है। उदाहरणत, उन्होंने सिद्ध किया है कि भरत के रस-सूत्र मे उपात्त 'सयोग' शब्द का भट्टनायक-सम्मत अभिप्राय भोज्यभोजकभाव सम्बन्ध है, न कि भाव्यभावकभाव सम्बन्ध, और इसी प्रकार उक्त सूत्र मे निष्पत्ति' शब्द का अर्थ भुक्ति है, न कि भावना, जैसा कि डा नगेन्द्र (रस-सिद्धान्त, पृ १६६) की मान्यता है। डा नगेन्द्र की उपर्युक्त मान्यता का आधार अभिनवगुप्त की 'काव्येन भाव्यन्ते रसा:' यह उक्ति है, किन्तु प्रो स्वामी के अनुसार यहा 'भावन' का अर्थ 'साधारणीकरण' नही है जैसा कि डा नगेन्द्र समझते हैं, अपितु इसका अभिप्राय है 'विभाव आदि द्वारा जनित चर्वण या आस्वादनरूप प्रतीति का विषय होना' (अभिनवभारती, पृ २७७) 'यत्तु काव्येन भाव्यन्ते रसास्तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावन तदभ्युपगम्यत एव'। इसी प्रकार उन्होंने डा नगन्द्र द्वारा विहित भट्टनायक के मत की इस व्याख्या का भी खण्डन

किया है कि स्थायिभाव ही भावित होकर रस-रूप मे परिवर्तित हो जाता है। जैसा कि प्रो स्वामी ने निर्दिष्ट किया है, इस सम्बन्ध मे मम्मट का स्पष्ट कथन है कि 'साधारणीकृत रति आदि जब भोजकत्व व्यापार द्वारा आस्वादित या भुक्त होने हैं तब रस कहलाते हैं।' यहा मम्मट ने स्थायिभाव की भाव्यमानता स्वीकार की है, न कि रस की। भट्टनायक के मम्मट-निर्दिष्ट इस दृष्टिकोण का स्पष्टीकरण रसगगाधर (प्रथम आनन, पृ २४) मे इन शब्दो मे मिलता है—'तत्र भुज्यमानो रत्यादि रत्यादिभोगो वा रस।' डा नगेन्द्र आज रस-सिद्धान्त के प्रतिष्ठित विद्वान् माने जाते हैं, अतः प्राचीन आचार्यों के मतो का उनके द्वारा जिस रूप में निरूपण होगा, प्राय वही आधुनिक भारतीय काव्यशास्त्र के क्षेत्र मे—विशेषत हिन्दी काव्यशास्त्र-जगत् मे—मान्य व्याख्या के रूप मे प्रतिष्ठित होगा, चाहे वह निरूपण भ्रमपूर्ण क्यो न हो। इस प्रकार प्राचीन आचार्यों के मतो की भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याए सम्भव हैं। ऐसी भ्रान्तिपूर्ण व्याख्याए नई भ्रान्तियो को जन्म देंगी एव फलत रस आदि विविध काव्यशास्त्रीय तत्त्वो का स्वरूप 'निश्वासान्ध' दर्पण की भाति अप्रकाशित रह जाएगा तथा शनै शनै 'दुर्व्याख्याविषमूर्च्छित' हो जाएगा। इस स्थिति के परिहरण के लिए आवश्यक है कि भारत की काव्यशास्त्रीय परम्परा के 'साक्षात्कृतधर्मा' अधिकारी विद्वान्, मूल ग्रन्थो के सूक्ष्म अध्ययन, चिन्तन और मनन के आधार पर, विविध काव्य-शास्त्रीय सिद्धान्तो की सही व्याख्या प्रस्तुत करें। व्याख्या-सम्बन्धी मतभेद सम्भव हैं, परन्तु व्याख्या का आधार दृढ होना आवश्यक है और आधार की दृढता की कसौटी है प्राचीन ग्रन्थो के मूल पाठ (अनुवाद नही) का तात्त्विक अवबोध।

प्रो स्वामी का प्रस्तुत ग्रन्थ, जो उनकी वर्षों की साधना का विपाक है, इस दिशा मे एक स्तुत्य प्रयास है। मैं उनके इस अभिनव प्रयास का स्वागत करता हू एव उनका, इस आनन्दवर्धन उपलब्धि के लिए, अभिनन्दन करता हू।

धर्मेन्द्रकुमार गुप्त
आचार्य एव अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
पजाब विश्वविद्यालय, पटियाला।

अगस्त २७, १९८३

—०—

रससिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा शीर्षक ग्रन्थ मे श्री सुरजनदासजी स्वामी ने अपने गम्भीर एव व्यापक अध्ययन के आधार पर भरत मुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक के विद्वानो के रससम्बन्धी मतो को सही एव स्पष्ट रूप मे हिन्दी माध्यम से प्रस्तुत करने का स्तुत्य प्रयास किया है। इस प्रयास मे लेखक की शैली सर्वत्र युक्तियुक्त, तर्कसम्मत एव स्पष्टतायुक्त रही है। यद्यपि इस प्रकार के प्रयास डा० नगेन्द्र, डा० प्रेमस्वरूप गुप्त आदि विद्वानो ने भी किए हैं, परन्तु

मूल ग्रन्थों के दुरूह होने के कारण तथा संस्कृत में होने के कारण इन विद्वानों के विवेचन में यत्र तत्र त्रुटियों का रहना स्वाभाविक था। श्री स्वामीजी ने इन त्रुटियों का परिहार करके प्रशंसनीय कार्य किया है। रससिद्धान्त के दुरूह स्थलों को स्पष्ट करने में श्री स्वामीजी का उपर्युक्त विद्वानों से जहाँ जहाँ मतभेद है वहाँ श्री स्वामीजी का मत मूल का सही प्रस्तुतीकरण प्रतीत होता है। उदाहरण के लिए भट्टलोल्लट आदि के मतानुसार रस की स्थिति अनुकार्य, अनुकर्ता तथा सहृदय में से किसमें है? यह विचारणीय प्रश्न है। इस सम्बन्ध में डा० नगेन्द्र आदि हिन्दी के विद्वान् प्राय कह देते हैं कि भट्टलोल्लट आदि के मतानुसार रस का सहृदय से कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि जिस अनुकार्य आदि में वे रस की स्थिति मानते हैं वे काव्यगत हैं तथा वह काव्य सहृदय के ज्ञान का विषय है। अत अनुकार्य आदि में रस मानते हुए भी यह तो मानना ही पडेगा कि यह रस सहृदय के ज्ञानविषयभूत अथवा ज्ञानवर्ती पात्रों में है। अत सहृदय से रस के सम्बन्ध का अपलाप नहीं किया जा सकता। इसीलिए श्री स्वामीजी कहते हैं कि उनकी (भट्टलोल्लट आदि की) रसविषयक व्याख्या भी सहृदयसम्बन्धरहित नहीं हो सकती (पृ० ३४)। इसी प्रसंग में वे अपने मत के समर्थन में अभिनवभारती से भी उद्धरण प्रस्तुत करते हैं।

यद्यपि रसानुभूति आत्मानुभूति से भिन्न है तथापि लौकिक अनुभूति से भिन्न होने के कारण रसानुभूति का सादृश्य आत्मानुभूति से सम्भव है। इसीलिए संस्कृत विद्वानों ने रसनिरूपण के प्रसंग में यत्र-तत्र दार्शनिक प्रक्रिया का आश्रय लेकर दार्शनिक पदावली का प्रयोग किया है। रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चित्, साक्षिभास्यता, वृत्तिभास्यता आदि इसी प्रकार के दार्शनिक सिद्धान्त हैं। इनको समझने में हिन्दी के विद्वानों द्वारा भूल होना स्वाभाविक था। श्री स्वामीजी ने रसविवेचन के प्रसंग में इनका स्पष्टीकरण करके स्तुत्य कार्य किया है।

संस्कृत आलंकारिकों के रससम्बन्धी मतों का स्पष्टीकरण करने के अतिरिक्त विद्वान् लेखक ने यहाँ यथासम्भव उनके मतों की समीक्षा भी प्रस्तुत की है। मेरा विश्वास है कि रससिद्धान्त के विवेचन और स्पष्टीकरण की दृष्टि से यह एक अद्वितीय ग्रन्थ है। लेखक इसके लिए हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

ब्रह्मानन्द शर्मा
भू० पू० निदेशक
राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान
एवं
यू० जी० सी० रिसर्च प्रोफेसर
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर

राजस्थान के मूर्धन्य सस्कृत विद्वान् प्रो० सुरजनदास स्वामी, भूतपूर्व अध्यक्ष, सस्कृत विभाग, जोधपुर विश्वविद्यालय द्वारा प्रणीत "रस-सिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा" का आद्यन्त अवलोकन किया। इसमे स्वामीजी ने रस के स्वरूप, प्रक्रिया एव निष्पत्ति के साथ-साथ भाव, रसाभास, साधारणीकरण आदि विषयो का मूल सस्कृत ग्रन्थो के आधार पर गहन अध्ययन एव मनन के साथ तलस्पर्शी विवेचन प्रस्तुत किया है। रस-सम्बन्धी शास्त्रीय चिन्तन को उसके विशुद्ध एव अनाविल रूप मे प्रतिपादित करने वाला यह एक अप्रतिम ग्रन्थ कहा जा सकता है।

विद्वान् लेखक ने भरत के नाट्यशास्त्र तथा अभिनवगुप्त-कृत "अभिनव-भारती" "लोचन" आदि ग्रन्थो के आधार पर रस का यथार्थ स्वरूप स्पष्ट करत हुए अलकारशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा मे भामह, दण्डी, उद्भट, वामन, भट्ट-लोल्लट, शकुक, ध्वनिकार, आनन्दवर्धन, भट्टतौत, भट्टनायक, अभिनवगुप्त, धनजय, धनिक, भोज, मम्मट, शारदातनय, हेमचन्द्र, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ, मधुसूदन सरस्वती तथा पडितराज जगन्नाथ आदि प्रमुख आचार्यो के रसविषयक चिन्तन का विस्तृत एव विशद परिचय दिया है।

स्वामीजी ने भरत एव उनके प्रतिभाशाली व्याख्याकार अभिनवगुप्त की रस-सम्बन्धी मान्यताओ के आलोक मे परवर्ती चिन्तन का आकलन करते हुए उसकी उपलब्धियो व सीमाओ का भी निर्देश किया है। इसी क्रम मे उन्होन आधुनिक विद्वानो की रस-विषयक अनेक भ्रातिया या दुर्व्याख्याओ का भी स्पष्ट शब्दो मे युक्तिपुरस्सर खण्डन करते हुए रस-सिद्धान्त को उसके विशुद्ध शास्त्रीय परिप्रेक्ष्य मे हमारे सामने रखने का सराहनीय कार्य किया है।

'साधारणीकरण" का विवेचन करते हुए स्वामीजी ने आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य केशवप्रसाद मिश्र, डा० नगेन्द्र आदि हिन्दी विद्वानो से अपना मतभेद स्पष्ट करते हुए अपनी व्याख्या के समर्थन मे अनेक शास्त्रीय प्रमाण प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार डा० प्रमस्वरूप गुप्त, डा० राकेश गुप्त आदि रस-सिद्धान्त के आधुनिक अध्येताओ की अनेक भ्रान्त धारणाओ का भी उन्होंने युक्तिपूर्वक खण्डन किया है।

वस्तुत "रस-सिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा" स्वामीजी के अनेक वर्षो के अनवरत अध्ययन तथा गभीर चिन्तन-मनन का सारभूत नवनीत है। इसमें उनके भारतीय दर्शन तथा साहित्यशास्त्र के तलावगाही पाण्डित्य का मणिकाञ्चनयोग देखा जा सकता है। इस प्रौढ एव गभीर कृति के द्वारा स्वामी जी ने रस-सिद्धान्त के शास्त्र-सम्मत विशुद्ध स्वरूप की अवगति प्रदान करते हुए तद्विषयक विभिन्न भ्रान्त धारणाओ के निरावरण का स्तुत्य प्रयास किया है। उनके जैसा शास्त्र-निष्णात एव प्रखर मेधावी विद्वान् ही इस दुरूह कार्य को इतनी सफलता के साथ सम्पन्न कर सकता था।

यह ग्रन्थ रस-सिद्धान्त के अनुशीलन, विवेचन एवं मूल्याङ्कन को स्वामीजी की एक अमूल्य देन माना जायेगा, इसमे मुझे तनिक भी सन्देह नही।

काव्यशास्त्र के समस्त अध्येताओ, सस्कृत एव हिन्दी के विद्वानो, अध्यापको, शोधकर्ताओ एव उच्च कक्षाओ के प्रौढ विद्यार्थियो के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी एव ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा, यह कहने की आवश्यकता नही।

इस उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना द्वारा सस्कृत सरस्वती की आराधना के साथ-साथ हिन्दी भारती की भी महती सेवा एव श्रीवृद्धि के लिए प्रो० सुरजदास स्वामी समस्त साहित्य-सेवियो की हार्दिक कृतज्ञता एव बधाई के पात्र हैं।

डा० मूलचन्द्र पाठक
आचार्य एव अध्यक्ष
सस्कृत-विभाग, सुखाडिया विश्वविद्यालय,
उदयपुर

भारतीय काव्यशास्त्र मे रससिद्धान्त का मूर्धन्य स्थान है। इस सिद्धान्त के शास्त्रीय पक्ष का विकास भरत मुनि से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक बल्कि उनसे भी परवर्ती आचार्यों तक अनेक शताब्दियो के गहरे विचार-मथन के बाद हुआ है। सस्कृत मे इस पर अनेक प्रामाणिक शास्त्रीय ग्रन्थ उपलब्ध हैं। उनका आधार लेकर आधुनिक विद्वानो ने हिन्दी मे भी रससिद्धान्त के विवेचन करने वाले ग्रन्थ लिखे हैं जिससे हिन्दीजगत् का भी बडा उपकार हुआ है और संस्कृत ग्रन्थो की शास्त्रीय भाषा को कठिन पाने वाले जिज्ञासुओ को भी इसको हृदयगम करने मे बहुत सहायता मिली है। हिन्दी मे लिखे ऐसे ग्रन्थो मे डा नगेन्द्र का "रससिद्धान्त" उल्लेखनीय है। यह सौभाग्य की बात है कि अब आदरणीय स्वामी सुरजनदास जी ने, जो सस्कृत के वरिष्ठ विद्वान् और वर्षों तक राजस्थान के विश्वविद्यालयो मे सस्कृत विभाग के आचार्य रहे हैं, रससिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा सागोपाग रूप मे करने वाला यह ग्रन्थ हिन्दी मे लिखा है। मेरे विचार मे अनेक दृष्टियो से यह ग्रन्थ अन्य ग्रन्थो की अपेक्षा विशिष्ट और सग्रहणीय बन पडा है।

स्वामी जी वेद, दर्शन आदि के विशिष्ट विद्वान् तो हैं ही, लम्बे समय तक काव्यशास्त्र का अध्ययन और अध्यापन करने के कारण उनकी अन्तर्दृष्टि साहित्यशास्त्र के सिद्धान्तो मे भी पारदर्शिनी हो गई है। इसलिये इस ग्रन्थ मे भरत के नाट्यशास्त्र से ले कर डा. नगेन्द्र तथा डा. प्रेमस्वरूप गुप्त तक के रस-सिद्धान्तसम्बन्धी विवेचनो की समीक्षा कर स्वामी जी ने रस-सिद्धान्त का शास्त्रीय पक्ष बडे सराहनीय ढग से हिन्दी मे उतार दिया है। भट्टतौत, महिम-

भट्ट, रामचन्द्र गुणचन्द्र, मधुसूदन सरस्वती आदि को भी सम्मिलित करते हुए रस-सिद्धान्त के सभी आचार्यो के अभिमतो की समीक्षा कर विशेषकर अभिनवभारती और लोचन आदि टीकाओ तथा मूल ग्रन्थो के प्रमाणो को उद्धृत कर स्वामी जी ने इस ग्रन्थ को अधिक प्रामाणिक और वैदुष्य-पूर्ण बना दिया है। वे इसके पूर्णतः अधिकारी भी हैं क्योकि रससिद्धान्त मे वेदान्त और नव्यन्याय की पारिभाषिक सज्ञाओ और सिद्धान्तो का जहा तहा आचार्यों ने उपयोग किया है उसे समझने के लिये सस्कृत का वह शास्त्रीय ज्ञान अनिवार्य होता है जो सामान्यतः हिन्दी के विद्वानो मे कम ही पाया जाता है। स्वामी जी ने इस ग्रन्थ मे डा. नगेन्द्र ("रस सिद्धान्त") तथा डा. प्रेमस्वरूप गुप्त ("रस गगाधर का शास्त्रीय अध्ययन") जैसे कुछ विद्वानो द्वारा किये गये निर्वचनो से असहमत होकर उनकी भ्रांतियो का निवारण भी किया है।

उदाहरणार्थ डा. नगेन्द्र ने भट्टनायक के मत का विवेचन करते हुये यह स्थापित करने का प्रयत्न किया है कि स्थायी भाव "भावित" होकर रस बनता है अत. "विभावादि द्वारा भाव्यमान रति ही रस हैं" अर्थात् उन्होंने "सयोगाद्रसनिष्पत्तिः" मे सयोग शब्द का भाव्य-भावक-भाव सम्बन्ध अर्थ किया है न कि "भोज्य-भोजक-भाव सबध"। भोग को ये परवर्ती चर्वणप्रक्रिया मानते हैं। स्वामी जी ने इससे असहमत होते हुये यह स्पष्ट किया है कि भट्टनायक ने भावकत्व को तो साधारणीकरण की प्रक्रिया माना है और भोजकत्व को रस-निष्पत्ति की। इसका प्रबल आधार यह है कि भट्टनायक वस्तुत. साख्यमतानुसारी व्याख्याकार हैं और जिस प्रकार साख्य प्रकृति-पुरुष के सिद्धान्त मे बुद्धि के धर्मो को अविवेक के कारण भिन्न वस्तु का धर्म न समझते हुये "पुरुष" के भोग की अवधारणा करता है उसी के समानान्तर अवधारणा भट्टनायक ने रसनिष्पत्ति मे भी मानकर उसमे भोज्य-भोजकत्व सम्बन्ध स्वीकार किया है। इसे अन्य शास्त्रकारो के निर्वचनो से भी उन्होंने समर्थित किया है। (पृ. ७८-८२)

इसी प्रकार डा. गुप्त ने रसगगाधरकार जगन्नाथ द्वारा उल्लिखित साक्षि-भास्य" पारिभाषिक संज्ञा को जो वेदान्त के ज्ञानसिद्धान्त की विशिष्ट संज्ञा है, पूर्णतः न समझ पाने के कारण "नव्यास्तु" कह कर उद्धृत किये जाने वाले मत का निर्वचन अस्पष्ट कर दिया है। उसे स्पष्ट करते हुए स्वामी जी ने "वृत्तिभास्य" और "साक्षिभास्य" पदार्थों का भेद वेदान्त के अनुसार समझाते हुए नव्यमत के शब्दो की पूर्ण संगति कर निर्वचन प्रस्तुत किया है। डा. गुप्त ने रसदशा मे चित् के आवरणभग को आंशिक बतलाते हुए (शायद ब्रह्मस्वाद-दशा मे भेद दिखलाने के आशय से) जगन्नाथ के रसलक्षण की व्याख्या की है। उसका भी निराकरण करते हुए स्वामी जी ने बताया है कि आवरणभग जहाँ भी होता है, वहाँ पूर्ण ही होता है उसे आंशिक कहना वेदान्तसिद्धान्त के अनुरुप नही, आदि।

(पृ. २१६-२२४)

रस-विवेचन के साथ ही स्वामी जी ने "भाव" एव "रसाभास तथा भावाभास" पर भी एक-एक अध्याय दिये हैं। चूं कि रससिद्धान्त का विवेचन ही उनको अभीष्ट था, उनके भेदोपभेदो की गणना नही, अत उनके भेद और उदाहरण आदि का विस्तार नही किया गया है।

इस दृष्टि से यह ग्रन्थ हिन्दी तथा सस्कृत दोनो भाषाओ के विद्वानो द्वारा, विशेषकर सस्कृत और हिन्दी के शोधको और अध्येताओ द्वारा विशेष स्वागतयोग्य होना चाहिये क्योकि इसमे रससिद्धान्त के गहन शास्त्रीय विवेचनो को उतनी ही गहराई के साथ व्याख्यात किया गया है जितनी गहराई सस्कृत के दिग्गज विद्वानो के विवेचनो मे ही उपलब्ध हो सकती है। सस्कृत मे भी पिछले वर्षों मे सभी शास्त्रो का इतना गहन विवेचन करके रस पर लिखा ग्रन्थ देखने को नही मिला था। स्वामी जी ने अपने इस साधना-प्रसूत अवदान से समस्त जिज्ञासुओ को ऋणी बना दिया है। मुझे विश्वास है कि काव्यशास्त्र पर लिखी गई पुस्तकों मे यह ग्रन्थ अपना विशिष्ट स्थान बनायेगा और विद्वज्जगत् मे बहुचर्चित और प्रशसित होगा।

कलानाथ शास्त्री,
निदेशक
भाषा-विभाग,
राजस्थान

मजु निकुज,
पृथ्वीराज रोड,
जयपुर।

प्राक्कथन

आचार्य सुरजनदासजी स्वामी के इस ग्रन्थ का प्रकाशन नितान्त सामयिक है। रस-सिद्धान्त प्राचीन भारत की साहित्यसमालोचना का शिखर-बिन्दु है। यह परम गम्भीर आविष्कार एक व्यक्ति की साधना नहीं था, न एक दिन की कोई आकस्मिक उपलब्धि। यह तो भारतीय साहित्य-चिन्तन के क्रमिक विकास की चरम परिणति था। इसके पीछे भारतीय साहित्य मनीषा के अनेक कर्णधारों की साहसिक बौद्धिकयात्रा की लम्बी कहानी है। इसलिये यह स्वाभाविक है कि रस-तत्त्व की परिणतप्रज्ञा के उद्गाता आचार्य अभिनवगुप्त ने कण्ठोक्त शब्दों में स्वीकारा कि सिद्धान्त के रहस्यात्मक सौधों की ऊंचाई तक इसीलिये वे सरलता से पहुँच पाये, क्योंकि उन्हें सहज उपलब्ध था पूर्वगामी आचार्यों की साधना से निर्मित "विवेक-सोपान-परम्परा"[1] का सहारा।

किसी भी गम्भीर चिन्तन को अपनी गम्भीरता का दण्ड भुगतना ही पड़ता है। तो रस-सिद्धान्त को इससे कैसे छूट मिलती? परवर्ती काल के संस्कृत-लेखकों के हाथों रस पर जो नीरस पुनरुक्त लेखन, पिष्ट-पेषण आदि हुआ, सो तो हुआ ही, वर्तमान मुद्रण-युग ने तो रसविवेचन के अनेक गम्भीर पक्षों की विरुद्ध, विकृत या भ्रान्त प्रस्तुति से एक विप्लव सा मचा दिया है। मुद्रण-कला के अनर्गल प्रसार के फलस्वरूप आज जो समीक्षा-साहित्य की भरमार है, वह कोई स्वस्थ वृद्धि नहीं जो प्रसन्नता का कारण हो, बल्कि वह एक अस्वस्थ सृजन है जो चिकित्सा की अपेक्षा करती है। प्रस्तुत ग्रन्थ ऐसी ही हल्की-सी शल्यचिकित्सा का प्राथमिक दौर है।

वास्तव में बोलने-लिखने के हमारे प्राचीन आदर्श 'मित च सार च" के स्थान पर "पल्लवन" और "अर्थलाघव" ने जो आज की परिवर्तित परिस्थितिवश अवकाश पा लिया है, उसके परिणामस्वरूप भरत-अभिनवगुप्त की गौरवशाली परम्परा का रस-सिद्धान्त कुछ ऐसी स्थिति में पहुँच गया, जो भगवान आद्य शङ्कराचार्य के सामने भगवद्गीता की हो गयी प्रतीत होती है। गीताभाष्य की प्रस्तावना में वे लिखते हैं—"तदिदं गीताशास्त्रं दुर्विज्ञेयार्थं तदर्थाविष्करणाय अनेकैः विवृतपद-पदार्थ-वाक्यार्थ-न्यायमपि अत्यन्तविरुद्धानेकार्थत्वेन लौकिकैर्गृह्यमाणम्।'[2] अर्थात् 'इस नितान्त दुर्बोध गीताशास्त्र के तात्पर्य-निर्धारण के लिये यद्यपि अनेक विद्वानों ने शब्दार्थ-विवरण और तर्क-वितर्क की सहायता से इसकी अनेक व्याख्याएँ लिखी हैं, फिर भी आम बुद्धिजीवियों में इसके सम्बन्ध में अनेक विपरीत और

---

१ अभिनवभारती, प्रथम जिल्द, बड़ौदा, द्वितीय संस्करण, १९५६, पृ. २७८

२ भगवद्गीता शाङ्करभाष्य, प्रस्तावना, निर्णयसागर प्रेस (सात टीका सहित संस्करण), १९३६ पृ ५-६

नितान्त विरुद्ध धारणाएँ व्याप्त हैं' । मैं समझता हूँ, इन शब्दों में रस-शास्त्र की समसामयिक परिस्थिति का भी सटीक चित्रण उपलब्ध है । 'साधारणीकरण, जैसे बिन्दु पर परिसंवादों में क्या-क्या लिखा और बोला जाता है, यह बात किसी से छिपी नहीं है । किन्तु इसके लिये हम अपने तरुण विद्वद्वर्ग को कैसे दोषी ठहरा सकते हैं ? जब यह स्पष्ट है कि बड़े-बड़े नाम से मुद्रित सामग्री के प्रति उनकी सहज प्रामाण्यबुद्धि ही इसके मूल में है ।

मुझे विश्वास है कि प्रस्तुत ग्रन्थ ऐसे कतिपय प्रतिष्ठित लेखकों के लेखन के प्रति पाठकों के मन में रूढ़ प्रामाण्यबुद्धि को निश्चित ही हिलाएगा और पुनर्श्चिन्तन के लिए प्रेरित करेगा । साथ ही उन लेखकों को भी स्वपक्ष-समर्थन अथवा संशोधन के लिये बाध्य करेगा । वाद-प्रतिवाद की इस "स्थूणानिखनन-न्याय" की प्रक्रिया से रस के तत्त्वबोध का मार्ग प्रशस्त होगा । ऊपर से कुछ कटु या कठोर प्रतीत होने वाले प्रस्तुत ग्रन्थ के खण्डनपरक अंशों का यही वास्तविक लाभ है ।

ग्रन्थ के पृष्ठों के आपात अवलोकन से ही स्पष्ट हो जाता है कि इसके निर्माण में ग्रन्थकार के दो उद्देश्य हैं । पहला है, रसशास्त्र के विशुद्ध प्राचीन सम्प्रदाय-सिद्ध पक्ष का यथावत् प्रतिपादन । दूसरा उद्देश्य कुछ नकारात्मक अवश्य है, किन्तु इसमें दो मत नहीं हो सकते हैं कि आज वह नितान्त 'अवसर-प्राप्त' है । और वह है, हिन्दी में रस-सिद्धान्त पर लिखने वाले अर्वाचीन सिद्धहस्त लेखकों की विषयगत त्रुटियों, अशुद्ध अथवा अप्रामाणिक व्याख्याओं, प्रामादिक प्रस्तुतियों, दुस्तर्कों, अपसिद्धान्तों आदि की व्यापक चर्चा कर उनका योग्य निराकरण । कुछ पाठकों के मन में यह विचार उठ सकता है कि ग्रन्थकार का दृष्टिकोण आक्षेपात्मक कुछ अधिक हो गया है । किन्तु 'तपस्वी' स्वामीजी करते ही क्या ? जब वे "पूर्वाचार्य कलुषित"[1] वाली स्थिति का डट कर सामना करने का सङ्कल्प और साहसिक 'कटिबन्ध' कर चुके थे । "अथातो धर्मजिज्ञासा" सूत्र में "अथातो अधर्मजिज्ञासा" इस प्रकार पदच्छेद कर "अधर्मोऽपि जिज्ञास्य परिहाराय" कहने वाले मीमांसा-भाष्यकार आचार्य-धुरन्धर शबर स्वामी का मूल आशय यही था कि अधर्म के समानान्तर विचार के बिना धर्म का विचार पूर्ण नहीं होगा, कितना सटीक है यह नीतिनिर्धारण ? अर्थात्, किसी भी पक्ष के यथार्थ बोध के लिये उसके विरोधी पक्ष की भी व्यापक चर्चा परम आवश्यक है ।

---

१ ब्रह्मसूत्र का श्रीकण्ठ भाष्य (शिवार्कमणिदीपिकासहित), प्रास्ताविक पद्य ५, कुम्भघोण संस्करण, १९०८, पृ ६

पूरा पद्य इस प्रकार है—

व्याससूत्रमिदं नेत्रं विदुषां ब्रह्मदर्शने ।
पूर्वाचार्यैः कलुषितं श्रीकण्ठेन प्रसाद्यते ॥

हाँ, एक बात अवश्य है। इस कार्य में स्वामीजी ने प्राचीन शास्त्र-लेखकों की एक परम्परा को तो त्याग ही दिया। संस्कृत के हमारे शास्त्रकारों की खण्डनशैली में व्यक्ति के नामोल्लेख के बिना केवल विचारों की ही आलोचना हुआ करती थी, भले उसकी भाषा कठोर या कटु ही क्यों न हो। किन्तु इसके ठीक विपरीत स्थिति है आधुनिक शोध-प्रक्रिया की, जहाँ 'डाकूमेन्टेशन' का अपना एक अलग ही विधि-विधान है जो ऐसे प्रत्येक खण्डन-मण्डन में पूर्व-संदर्भ का स्पष्ट उल्लेख अनिवार्य मानता है। इसलिए स्वामीजी विवश हो गये, आधुनिक सरणि अपनाने में। यह है भी ठीक, क्योंकि वर्तमान संदर्भ में "इति केचित्, तन्न", "इति केचिन्मन्यन्ते, तत् तुच्छम्", "तद् असारम्", "तद् अज्ञानविजृम्भितम्" की पद्धति आज जर्जरित सिद्ध हो गयी है। इसलिये स्वामीजी का निर्णय सही था कि अब शोध के क्षेत्र में ऐसे 'केचिद्' वाले मुहावरों की दाल नहीं गलेगी और स्वस्थ आलोचना में आलोच्य पक्ष का पूर्व संदर्भ देना ही उपयोगी एवं उचित होगा।

विज्ञ पाठकों के लिये निश्चित ही यह विचारणीय प्रश्न है कि आखिर स्वामीजी की प्रस्तुति में और उन पूर्वलेखकों की प्रस्तुति में, जिन से पद-पद पर लोहा लेने का स्वामीजी ने साहस बटोरा है, इतना बड़ा अन्तर और अन्तराल क्यों है? मेरे विचार से इसके दो कारण हैं। (१) पहला स्वामीजी संस्कृत की उस प्रौढ प्राचीन पद्धति (*जो आज दुर्भाग्यवश मिटने की ओर तेजी से बढ़ती जाती है*) के मान्य प्रतिनिधियों में से हैं, जो किसी भी ग्रन्थ के अध्ययन-अनुशीलन में 'पङ्क्ति-पाठ' और 'पङ्क्ति-शुद्धि' पर महान् आग्रह करते हैं। ठीक इसके विपरीत है वर्तमान वेग-युग के अध्ययन का आदर्श जिसके बारे में एक पारम्परिक विद्वान् ने सुन्दर छन्द लिख डाला है—

> अन्तःपातमकृत्वैव निबन्धाभ्यन्तरस्थितम्।
> आपाततो दिदृक्षन्ते केचिदायासभीरवः॥[1]

भावार्थ इस प्रकार है—परिश्रम से कतराने वाले कुछ (आधुनिक) लोग ग्रन्थ के अन्दर डूब कर उसके प्रत्येक पद, मुहावरे और वाक्य के प्रौढ-गम्भीर विश्लेषण के द्वारा उसकी गहराइयों तक पहुँचने के क्लेश में पड़ना नहीं चाहते हैं। ऐसे शाब्दिक व्यायाम वगैरह के लिये उनके पास समय नहीं है। चाहते हैं केवल ग्रन्थ का सार। ऊपर-ऊपर से ग्रन्थ में निहित मूलभावों के समझनेमात्र से वे सन्तुष्ट हैं। ग्रन्थावलोकन में उनका लक्ष्य ही इतने तक सीमित है। (२) दूसरा कारण यह है कि स्वामीजी हमारे देश के विशुद्ध शास्त्रीय परम्परा के वाहक हैं, जिसे संस्कृत में कहते हैं 'सम्प्रदाय'। आजकल 'सम्प्रदाय' शब्द से ही लोग चिढ़ते हैं। धार्मिक-कुरीतियों से जुड़ जाने के कारण 'सम्प्रदाय' ही निन्द्य और हेय बन गया। जन-

---

१ शान्तिरक्षित-प्रणीत तत्त्वसङ्ग्रह (बड़ौदा संस्करण), प्रथम जिल्द, सम्पादक पं० एम्बार कृष्णमाचार्य की संस्कृतप्रस्तावना, पृ ७३

मानस में वह पिछलापन का प्रतीक और प्रगति का अवरोधक बन गया। किन्तु वास्तविकता ऐसी नही है। 'सम्प्रदाय' तो प्रत्येक शास्त्र की नीव है। जरा सोचिये। क्या सगीत-शास्त्र मे 'गुरु-सम्प्रदाय' के विना कोई आगे बढ सकता है? या कोई आधुनिक शास्त्र को ही लीजिये। रसायन के सम्प्रदाय से वर्जित कोई व्यक्ति यदि उनकी प्रयोगशाला मे अपना 'हस्तलाघव' दिखाने लगे, तो कैसी विस्फोटक स्थिति बनेगी। कतिपय प्राचीन शास्त्रो के क्षेत्र मे आज जो उपप्लव-पूर्ण स्थिति निर्मित है, उसका एक कारण तो है, 'गुरु-सम्प्रदाय' के प्रति अनास्था या अवहेलना।

ऊपर चर्चित दोनो बातो की आज महती आवश्यकता है। वास्तव मे किसी भी विद्या का यह सनातन नियम है कि उसके यथार्थ बोध के लिये 'सम्प्रदाय' एक अनिवार्य उपकरण है। इसीलिये आचार्य शङ्कर भगवत्पाद कहते हैं कि सम्प्रदायवर्जित विद्वानो से शास्त्रो को बडा खतरा है। गीताभाष्य मे वे लिखते हैं—"स्वयं मूढः अन्यांश्च व्यामोहयति शास्त्रार्थसप्रदायरहितत्वात् श्रुतहानिमश्रुत-कल्पनां च कुर्वन्। तस्माद् असप्रदायवित् सर्वशास्त्रविदपि मूर्खवदेवोपेक्षणीयः।"[1] अर्थात्, परम्पराहीन होने से ऐसे लोग स्वय गुमराह होकर दूसरो को भी गुमराह करते हैं। अतएव जो व्यक्ति किसी भी शास्त्र की परम्परा का जानकार नही है वह मूर्ख के समान ही त्याज्य है, भले वह सभी शास्त्रो का पारङ्गत हो क्यो न हो। परम्पराशून्य विद्वत्ता पर आचार्य शङ्कर का यह आक्रोशपूर्ण प्रहार कुछ अधिक कठोर लग सकता है, किन्तु यह खरा सत्य है। इसीलिये आगे भी गीताभाष्य मे ही एक और प्रसग मे[2] आचार्य शङ्कर "गुरु-सम्प्रदाय-रहित" विद्वानो को "पण्डित-म्मन्याः" का खिताब देकर उन से फिर भिड़ जाते है। उधर तो 'सुहृद् मूरवा' उनको समझाते है कि निराकार ब्रह्म इसीलिये उनकी बुद्धि मे उतरता नही क्योकि वे 'सम्प्रदाय' से दूर हैं, ब्रह्म का प्रत्यक्ष अनुभव पाने के लिये "गुरु-सम्प्रदाय" ही एकमात्र राजमार्ग है।

मैं तो यह भी स्वीकार करने के लिये तैयार हूँ कि वर्तमान परिवर्तित सामाजिक परिस्थिति मे, जब शिक्षा का दृष्टिकोण आमूलचूल भिन्न हो गया और विद्या का क्षेत्रविस्तार भी इतना हो गया कि वह सचमुच "अनन्तपार" हो ही गया; प्रत्येक के लिये 'सम्प्रदाय' पाना और ग्रन्थ-पक्ति मे डूबना आदि सम्भव नही है। यह तो युगधर्म है, इसके लिये व्यक्ति को दोषी ठहराना अन्याय होगा। किन्तु इसके साथ यह न्याय्य होगा कि ऐसे लोगो को चाहिये, कि ग्रन्थ-पक्तियो मे डूबने वाले तथा सम्प्रदाय मे अभिज्ञ प्रौढ पण्डितो की बात को वे जिज्ञासु बन कर ध्यान-पूर्वक सुनें। प्रस्तुत ग्रन्थ समस्त रसतत्त्व-जिज्ञासुओं के लिये ऐसा ही अवसर प्रदान कर रहा है। इसीलिये मैं जानता हूँ, 'सम्प्रदाय-शुद्धि' की दृष्टि से स्वामीजी का यह ग्रन्थ नितान्त उपादेय और आदरणीय है।

---

१. भगवद्गीता श्लोक १३ २ पर शाङ्करभाष्य, पृ ५३४

२ वही, श्लोक १८ ५० पर शाङ्करभाष्य, पृ ७३६

न्यूटन का तीसरा नियम कहता है, प्रत्येक क्रिया की उसकी ठीक विपरीत दिशा मे समान शक्ति की प्रतिक्रिया होती है। इसलिये स्वाभाविक है कि इस तीव्र आलोचना के विरुद्ध तीव्रतर प्रत्यालोचना भी होगी। होनी भी चाहिये। सम्भवत ग्रन्थ के लेखक भी यही चाहते हैं कि ऐसी उत्तेजना से तत्त्व सामने आवे। क्षोभ से व्यक्ति मे अधिक शक्ति उत्पन्न होती है। महाकवि कालिदास ने ठीक ही कहा है—

"ज्वलति चलितेन्धनोऽग्निर्विप्रकृत पन्नग. फणा कुरुते।
प्राय स्व महिमान क्षोभात्प्रतिपद्यते हि जन ॥"[१]

अब विद्वज्जन कालिदास के द्वारा ही प्रयुक्त मुहावरे—"पश्याव उरभ्र-सपातम्'[२] के अनुसार पूर्ण उत्सुकता के साथ रस-सिद्धान्त पर रसभरी बौद्धिक भिडत देखने की प्रतीक्षा कर सकते हैं।

अन्त मे एक बात और। मैं तो इसे एक सुयोग ही मानता हूँ कि यह ग्रन्थ, लेखक द्वारा सन्यास आश्रम स्वीकार करने के बाद लिखा गया है। मैं समझता हूँ कि उनका 'कषाय वस्त्र' इस बात का सबूत है कि इन आलोचनाओं के पीछे व्यक्तिगत 'रागद्वेष' की गन्ध भी नही है। वैसे तो जो स्वामीजी से पूर्व-परिचित हैं वे जानते हैं कि वे पहले भी सस्कार से तो सन्यासी ही थे। हम लोगो के लिये प्रसन्नता की बात है कि औपचारिक सन्यास आश्रम मे प्रवेश करने के बाद, नये रग-रूप मे "स्वामीजी" होने के बाद भी, आपने विद्या के प्रति अपना पूर्व-राग बचा रखा है। अतएव हम आशा कर सकते हैं कि इस संन्यासी की लेखनी भविष्य मे भी निरन्तर सक्रिय रहेगी और ऐसे "सम्यङ्मननपरिनिष्पन्न"[३] ग्रन्थो की सृष्टि से अन्य शास्त्रों की भी श्रीवृद्धि करती रहेगी।

वि. वेङ्कटाचलम्
आचार्य एव अध्यक्ष, सस्कृत-विभाग,
तथा
अध्यक्ष, कला संकाय
विक्रम विश्वविद्यालय, उज्जैन

---

१. अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६ ३१
२. मालविकाग्निमित्रम्, १ १५ का अनुवर्ती गद्यभाग।
३ मधुसूदन सरस्वती कृत अद्वैतसिद्धि का उपसहार पद्य (निर्णयसागर प्रेस सस्करण), १९१७, पृ ९००

भूमिका

स्वामी सुरजनदासजी व्याकरण, दर्शन एव साहित्य के विदग्ध विद्वान् तथा यशस्वी अध्यापक रहे है। उन्होने जो सारस्वत साधना की है और उसका जो फल अपनी विशाल एवं श्रद्धालु शिष्यमण्डली को दिया है उसी के कारण आज राजस्थान के विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में कुछेक विद्याविनयसपन्न अध्यापक संस्कृत के शास्त्राभ्यास का दीपक प्रज्वलित किये हुये है। दशको तक सस्कृत के अध्ययन अध्यापन की शास्त्रीय परम्परा मे तल्लीन रहने के बाद, 'अधीतमध्यापितमर्जितं यश.' की सूक्ति को सम्पूर्णत. चरितार्थ करने के पश्चात्, यह सौभाग्य की ही बात है कि स्वामी जी ने रससिद्धान्त का शास्त्रीय विवेचन प्रस्तुत करने के लिए अपनी लेखनी सर्वथा वीतराग अवस्था मे उठाई है। इनके सम्बन्ध मे यह लिखना अत्यन्त आवश्यक था क्योकि अध्ययन-अध्यापन का काम छोडकर या उपेक्षित कर लिक्खाड बनकर जीने की परम्परा बहुत चल पडी है। इसका एक परिणाम यह हुआ कि रससिद्धान्त जैसे प्रसिद्ध विषयो पर अनेक पुस्तक मिल जायेगी जिसमे "गुरुकुलक्लेश" या शास्त्राभ्यास की गन्ध नही मिलेगी।

स्वामी जी ने मूलत अभिनवभारती, लोचन, काव्यप्रकाश आदि मे निबद्ध एव अन्यत्र उपबृंहित रससिद्धान्त का शास्त्रीय मर्म उद्घाटित करने का कठिन काम किया है। यह काम कठिन इसलिए हो गया था क्योकि स्वामीजी के अनुसार डा० के० सी० पाण्डेय, डा० प्रेमस्वरूप गुप्त, डा० नगेन्द्र जैसे विख्यात लेखको ने भी प्राचीन शास्त्र को अनेक स्थानो पर सही नही समझा है। अत उनके लेखन से उत्पन्न भ्रान्तियो का निराकरण करते हुये शास्त्रीय अर्थ को पुन: सुप्रतिष्ठित करने का कार्य प्राचीन मन्दिर के जीर्णोद्धार के समान अत्यन्त महत्वपूर्ण एव पावन है। लोल्लट, शकुक, भट्टनायक की मूल व्याख्याओ की उपलब्धि न होने से, और जो प्रश्न साहित्यशास्त्र के नये सन्दर्भों मे लगातार उठते रहे हैं, उनके सम्बन्ध मे प्राचीन आचार्यों की ओर से उद्भावित समाधानो के होने के कारण मूल मन्तव्य के सम्बन्ध मे मतभेद निरन्तर बना रहेगा, किन्तु किसी पंक्ति का सही अर्थ न समझने के कारण जो भ्रम फैला है या अर्थ का अनर्थ हुआ है उसे दूर करने मे स्वामीजी की शास्त्रीय समीक्षा सर्वथा सफल होगी, इसमे मुझे सन्देह नहीं है।

इस ग्रन्थ की विषय-सूची को देखकर पाठक को यह पता चल जायेगा कि स्वामीजी ने किन विषयों का विवेचन विशेष रूप से किया है। विभिन्न शीर्षकों

एव उपशीर्षको मे विषय-विभाग के कारण पाठक का काम और भी सरल हो गया है। इन सब पर दृष्टि दौड़ाने के बाद यह स्पष्ट है कि स्वामीजी ने एक ओर तो रससूत्र के व्याख्याकारो लोल्लट, शकुक, भट्टनायक, अभिनवगुप्त आदि के मन्तव्य को शब्दश स्फुट किया है, दूसरी ओर रस के सम्बन्ध मे रसेतर सप्रदायो के आचार्यो भामह, दण्डी, उद्भट, वामन आदि की मान्यताओ को स्पष्ट किया है और तीसरी ओर रससूत्र की व्याख्या साक्षात् न करते हुये भी रस का प्रतिपादन करने वाले विभिन्न आचार्यो, जैसे कि धनिक, धनजय, भोज, शारदातनय, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, विश्वनाथ, मधुसूदन सरस्वती, पण्डितराज जगन्नाथ, के अभिप्राय को शास्त्रीय पद्धति मे स्पष्ट किया है। रससम्बन्धी प्रत्येक पक्ति के शास्त्रीय विवेचन किंवा शब्दशः व्याख्यान के कारण भाषाशैली मे हिन्दी के पाठक को अवश्य असुविधा होगी। यदि वह इस असुविधा को नही भोगना चाहता तो वह शास्त्रीय मर्म तक नही पहुच सकेगा और जो अपसिद्धान्त प्रचलित हैं उन्ही को टकसाली मानकर चलता रहेगा। इसमे दोष शास्त्र का नहीं अपितु नासमझी का है। पर हिन्दी के विद्वानो को यदि यह जिज्ञासा है कि आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, डा० नगेन्द्र, डा० प्रेमस्वरूप गुप्त आदि के रसविवेचन मे कहा-कहा शास्त्रीय दोष हैं, तो उन्हें इस ग्रन्थ का अवश्य अध्ययन करना चाहिये। शास्त्रीय परम्परा का सस्कृत-विद्यार्थी तो इस ग्रंथ की उपेक्षा कर ही नहीं सकता। रस के साथ प्रसगत प्राप्त भाव व रसाभास का ग्रन्थ के अन्त मे पूर्ण विवेचन बहुत ही महत्वपूर्ण है।

रस की जिस आनन्दरूपता तथा ऐकान्तिक महत्व की चर्चा आनन्दवर्धन से प्रारम्भ होकर पण्डितराज जगन्नाथ, मधुसूदन सरस्वती आदि मे प्राप्त होती है वह भरत मे नही है। भरत मे रस नाटय के लिये आवश्यक अगो मे (सग्रह) एकादश या पाच अगो मे है और उससे हर्षादि का अधिगम होना है। कोई एक मूल रस जैसे कि शान्त भी भरत स्वीकार नही करते। रस और भाव का पारस्परिक सम्बन्ध भी कार्यकारण की तरह उनके यहा सुनिश्चित नही होता। वस्तुत. भरत का अभीष्ट नाट्य की व्याख्या थी जिनके कई अग थे, काव्य मे रसप्रतिष्ठा भी उनमे एक थी। रसध्वनिवाद की काव्य मे प्रतिष्ठा तथा दार्शनिक व्याख्याओ के जाल के बाद रस की जो व्याख्या प्रवर्तित हुई, वह वस्तुतः भरत के रससूत्र का व्याख्यान-मात्र न होकर रससिद्धान्त के विकास के नये आयाम के रूप मे है। इसमे सबसे प्रमुख योगदान महामाहेश्वर अभिनवगुप्त का है। इसके बाद वैष्णव दार्शनिकों का और अन्त मे वेदान्तानुसारी व्याख्या के लिये हम पण्डितराज जगन्नाथ के ऋणी हैं। स्वामी जी ने उन दार्शनिक मन्तव्यो को बडी सूक्ष्मता के साथ स्पष्ट किया है जो रससिद्धान्त के दार्शनिक ऊहापोहों मे गर्भित हैं। उनकी व्याख्या के अनुसार पूर्व-मीमासक लोल्लट ने रामादि अनुकार्य मे विभावो से उत्पन्न स्थायिभाव को व्यभिचारिभावादि मे परिपुष्ट होने पर रस माना है (पृ० २९), शकुक ने रस को अनुकर्तृनिष्ठ तथा अनुमिति का विषय माना है (पृ० ४८), भट्टतौत के अनुसार रस

अनुव्यवसायविशेष का विषय है (पृ० ६२), सुखदु खोत्पादन-सामर्थ्य से युक्त बाह्य विभावादि सामग्री को एक सांख्यदर्शनानुयायी जिसके नाम का उल्लेख अभिनवभारती मे नही है, रस मानता था। भट्टनायक विभावादि के साधारणीकरणात्मक भावकत्व व्यापार से साधारणीकृत तथा भोगव्यापार द्वारा भुज्यमान रत्यादि को या उनके भोग को रस मानते है (पृ ७३)। आचार्य अभिनवगुप्त साधारणीकृत विभावादि से अभिव्यक्त सहृदयनिष्ठ रत्यादि को सहृदय द्वारा आस्वाद्यमान होने पर रस मानते हैं (पृ ९६)। स्वामी जी ने जो व्याख्या अपनाई है वह कई अशो मे पूर्व स्थापित व्याख्याओ से अनेकत्र भिन्न है अत उसका ज्ञान करने के लिये उनका ग्रन्थ पढना ही एकमात्र उपाय है। अत्यन्त सक्षेप मे भी उन सारे बिन्दुओ को यहा उपस्थित करना सम्भव नही है जो उन्होने प्राचीन आचार्यो तथा नवीन विद्वानो के खण्डन-मण्डन मे शास्त्रार्थप्रणाली से प्रस्तुत किये है। रस को स्वीकार करने वाले किन्तु ध्वनिवाद का खण्डन करने वाले आचार्यों मे रसभावनावादी धनिक एव धनजय (पृ १३२), अनुमान द्वारा रसप्रतीति मानने वाले महिमभट्ट (पृ १४०), दण्डी के मूलाधार पर किन्तु वस्तुतः स्वतन्त्र पद्धति से आत्मस्थित आगम, प्रत्यक्ष तथा अर्थापत्ति से आविर्भूत अहङ्कारगुण को शृगारादि रस मानने वाले भोज (पृ १४७), भट्ट लोल्लट के अनुयायी शारदातनय (पृ १६७), अनुकार्य, अनुकर्ता एव सहृदय मे लोल्लट की तरह उपचित स्थायी भाव को रस मानने वाले तथा रसो को सुखदु खोभयात्मक स्वीकार करने वाले रामचन्द्र गुणचन्द्र (पृ १७३), अभिनव तथा मम्मट का अनुसरण करने वाले साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ (पृ १८२), आत्मरूप आनन्द की निर्विकल्प अनुभूति करने वाले व भक्तिरस की श्रेष्ठता घोषित करने वाले मधुसूदन सरस्वती (पृ १८९), साधारणीकरणप्रक्रिया का व्यवस्थित विवेचन एव शाकर वेदान्त के अनुसार रससिद्धान्त की व्याख्या करने वाले पण्डितराज जगन्नाथ (पृ १९८) के मतो का स्वामी जी ने सटीक प्रतिपादन किया है। इसके साथ साथ भाव (पृ २२८) रसाभास तथा भावाभास (पृ २५६) का सभी आचार्यों के अनुसार विवेचन, विश्लेषण और अन्त मे साधारणीकरण को लेकर रामचन्द्र शुक्ल और डा नगेन्द्र जैसे हिन्दी के मूर्धन्य विद्वानो की मान्यताओ का प्राचीन परपरा के सदर्भ मे समीक्षण तथा डा राकेश गुप्त के द्वारा भट्टलोल्लटादि के रसविषयक मतो पर किये गये आक्षेपो के परिहार के साथ ग्रथ का उपसहार किया गया है।

रसव्याख्या से सम्बद्ध मूलग्रन्थो के शास्त्रीय व्याख्यान के द्वारा इस विषय मे व्याप्त भ्रातियो एव अपव्याख्यानो का निराकरण कर स्वामीजी ने प्राचीन रससिद्धात को सुदृढ प्रतिष्ठा प्रदान की है, तदय विद्वज्जगत् उनका सदा ऋणी रहेगा। हमारी यह भी अपेक्षा है कि आधुनिक साहित्य को लेकर समीक्षा के जो नये मानदण्ड स्थापित किये गये हैं तथा रससिद्धात की इस साहित्य के सदर्भ मे जो निरर्थकता की चर्चा की जाती है, उसके बारे मे भी वे आगे लिखें। प्राचीन

सिद्धात की व्याख्या के अतिरिक्त नये साहित्य से उसे जोड़ना भी आवश्यक है। यह कार्य भी स्वामीजी उसी प्रकार कर सकते हैं जैसे कि अलकारवादियो भामह, दण्डी, उद्भट आदि के विचारो का खण्डन करते हुये वाल्मीकि, व्यास, कालिदास जैसे प्रख्यात कवीश्वरो की रचनाओ का सौन्दर्यबोध करने के लिये रससिद्धान्त के नवीन उन्मेषो द्वारा प्राचीन आचार्यो ने किया था।

प्रोफेसर रामचन्द्र द्विवेदी
आचार्य व अध्यक्ष, संस्कृत—विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय,
जयपुर (राज)

निवेदन

'रससिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा' नामक पुस्तक लिखने मे मेरे दो उद्देश्य रहे हैं। प्रथम उद्देश्य—आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक प्राचीन मनीषी आचार्यों ने काव्यजीवातुभूत रस का जो स्वरूप बतलाया है उसका यथामति स्पष्टीकरण, तथा द्वितीय उद्देश्य—हिन्दी के मनीषियो ने उनके मतो का जो अन्यथा व्याख्यान प्रस्तुत किया है उसका युक्तिप्रमाणपुरस्सर निराकरण या परिमार्जन। दोनो ही उद्देश्य रससिद्धान्त की शास्त्रीय समीक्षा के क्षत्र मे आते हैं। क्योंकि प्राचीन मनीषियो द्वारा प्रतिपादित रसस्वरूप का विश्लेपण कर देने पर भी जब तक *हिन्दी जगत् मे लब्धप्रतिष्ठ आधुनिक दिग्गज मनीषियो के अन्यथा* व्याख्यान का निराकरण नही कर दिया जाता तब तक रसस्वरूप का विश्लेपणरूप उद्देश्य पूर्ण नही होता। क्योंकि आधुनिक हिन्दी व सस्कृत के माननीय प्राध्यापक *महानुभावो व विद्यार्थिवर्ग* की उन *मूर्धन्य विद्वानो पर पूर्ण आस्था है।* उनको उन मनीषियो का व्याख्यान ही प्रामाणिक प्रतीत होता है और रुचता है।

मैंने जिन विद्वानो के, रसविपयक भ्रान्त व्याख्यानो का निराकरण किया है, उन मे डा० नगेन्द्र व डा० प्रेमस्वरूप गुप्त प्रधान है। इन दोना विद्वाना ने क्रमश 'रससिद्धान्त' तथा रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन' नामक पुस्तका मे *प्राय सभी प्राचीन आचार्यों के रसस्वरूप का प्रतिपादन किया है।* इन दोनो मे मेरे विचार से डा० नगेन्द्र ने प्राचीन आचार्यों के सस्कृत ग्रन्थो का सम्भवत अध्ययन नही किया है क्योंकि वे इग्लिश व हिन्दी साहित्य के विद्वान् हैं। उनका *रसविपयक विवेचन सस्कृत ग्रन्थो के हिन्दी मे अनुवादक आचार्य विश्वेश्वर* के अनुवाद पर आधारित है। अतः वे सस्कृत के प्राचीन आचार्यों के रसस्वरूप को हृदयङ्गम न कर सके। डा० श्री प्रेमस्वरूप गुप्त ने, सस्कृत मे एम ए व पीएच डी होने के कारण, सस्कृत के साहित्यिक ग्रन्थो का अध्ययन व परिशीलन अवश्य किया है। किन्तु, प्रतीत होता है उन्होंने भी दार्शनिक ग्रन्थो का अध्ययन नही किया। और विभिन्न आचार्यों का रसस्वरूप, पूर्व मीमासा, न्याय, साङ्ख्य, वेदान्त, *प्रत्यभिज्ञा आदि दर्शनो की भित्ति पर आधारित है। अतः दार्शनिक तथ्यो के प्राची-*चीन ज्ञान के अभाव के कारण विभिन्न आचार्यों के रसस्वरूप के विवेचन मे भ्रान्ति होना उनको भी स्वाभाविक है। इसी कारण इन दोनो विद्वानो के रसस्वरूप के विवेचन मे विसङ्गतियां हुई हैं। उन विसङ्गतियो मे से कतिपय विसङ्गतियो का निर्देश कर उनका निराकरण इस पुस्तक मे किया गया है।

'साधारणीकरण' नामक प्रकरण मे मैंने हिन्दी के प्रसिद्ध विद्वान् आचार्य श्री रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य श्री केशवप्रसाद मिश्र तथा डा नगेन्द्र के साधारणीकरणसम्बन्धी मतो की भी सक्षेप मे आलोचना प्रस्तुत की है। उसका भी उद्देश्य साधारणीकरण के स्वरूप मे विद्वानो को भ्रान्ति न हो, यही है।

इसके अतिरिक्त आचार्य विश्वेश्वर, 'रसगङ्गाधर' पर सस्कृत मे चन्द्रिका-व्याख्याकार प श्री बदरीनाथ झा आदि की व्याख्या का भी एक दो स्थानों पर निराकरण किया है। वह भी उन विद्वानो के असद्व्याख्यान से जन्य भ्रान्ति से पाठको को बचाने के लिए ही किया है।

रसनिरूपण तथा भावविवेचन के विषय में डा० नगेन्द्र तथा डा० प्रेमस्वरूप गुप्त की यह धारणा रही है कि नाट्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त भरत के विरुद्ध चल रहे हैं। उन्होंने भरत के रसस्वरूप व भावस्वरूप को अपनी मान्यता पर टालने का प्रयास किया है। किन्तु इस पुस्तक में यह बतलाने का प्रयास किया गया है कि भरत और अभिनवगुप्त के रसस्वरूप व भावस्वरूप मे कोई अन्तर नही है। अत अभिनवगुप्त भरत नाट्यशास्त्र का अन्यथा व्याख्यान प्रस्तुत कर व्याख्याकार के कर्त्तव्य से च्युत नही हुए हैं।

भट्टनायक तथा अभिनवगुप्त का साधारणीकरण समान नहीं है किन्तु दोनो के साधारणीकरण मे अन्तर है, हिन्दी के विद्वानो की इस भ्रान्त धारणा का भी इनमे निराकरण किया गया है।

रसाभास के आस्वादन मे सहृदय की पूर्ण तन्मयता नही होती और न एकघन चमत्कार ही होता है, इस धारणा का भी निराकरण इसमे किया गया है।

यह पुस्तक समीक्षात्मक है। अत इसमे प्राचीन आचार्यो के अनुसार रसविवेचन प्रस्तुत करने के बाद कतिपय आचार्यों के मतो की समीक्षा का दुस्साहस भी किया गया है। मैं समझता हूँ कि माननीय विद्वान् उस समीक्षा पर अपनी लेखनी को व्यापारित कर उसके आलोचन द्वारा साहित्य की श्रीवृद्धि करेंगे। इससे मुझे प्रसाद प्राप्त होगा न कि विषाद। क्योंकि आलोचन प्रत्यालोचन की प्रवृत्ति सस्कृत साहित्य मे प्रारम्भ से चली आ रही है। इसी से आज इतना विशाल साहित्य का निर्माण हो सका है। आगे भी यह क्रम चालू रहना चाहिए, जिससे साहित्य की अभिवृद्धि हो। किन्तु आलोचना युक्तिप्रमाणपुरस्सर होनी चाहिए। जैसा कि प्राचीन आचार्यों के ग्रन्थो मे परिलक्षित होती है।

यह पुस्तक प्रेस मे देने से पूर्व पूर्णतया लिखी नही गई थी। कितने ही आचार्यों के मतो का प्रेस मे जाने के बाद ही शीघ्रता मे समावेश किया गया है। अत इसके मुद्रण मे अध्यायों आदि का समावेश नही किया जा सका है।

आज कल एम. ए. तथा आचार्य कक्षा मे मम्मटविरचित काव्यप्रकाश ग्रन्थ ही प्राचीन आचार्यों के रसविषयक मतो के परिज्ञान के लिए एकमात्र साधन है। वह ग्रन्थ प्रौढ तथा अत्यन्त समासशैली मे लिखा हुआ है। अत- उसमें निरूपित भट्टलोल्लट आदि आचार्यों के रस का स्वरूप प्रत्येक के लिए दुर्बोध है। अभिनवभारती तथा ध्वन्यालोकलोचन के सम्यग् अध्ययन व परिशीलन के बिना उन मतो का सम्यग् अवबोध नही हो सकता। अभिनवभारती व लोचन क्रमश नाट्यशास्त्र व ध्वन्यालोक की व्याख्याये है जो सस्कृत साहित्य के सभी विषयों के प्रौढ विद्वान् अभिनवगुप्त के द्वारा लिखित होने से समझने मे कठिन हैं। तथा अभिनवभारती का तो अभी तक पूर्णतया शुद्ध सस्करण भी उपलब्ध नही है। ऐसी स्थिति मे उसके अध्ययन मे पर्याप्त कठिनता का अनुभव विद्वानो को करना पड़ता है। अभिनवभारती पर कोई सस्कृतव्याख्या भी नही लिखी गई है जो उसके मर्म का उद्घाटन कर सके। अभिनवभारती व लोचन के व्याख्यारूप होने से एक ही स्थल मे क्रमश रसविषयक मत का पूर्णतया विवेचन उनमें नही हुआ है। प्रसङ्ग आने पर यत्र तत्र विप्रकीर्ण रूप से ही रस के विभिन्न तत्त्वो का विवेचन उनमे हुआ है। अत पूर्णतया अभिनवगुप्त के रसविषयक मत को हृदयङ्गम करने मे भी पर्याप्त काठिन्य का अनुभव होता है।

अभिनव से पूर्ववर्ती भट्टलोल्लट आदि आचार्यों के मतो को जानने का साधन एकमात्र अभिनवभारती ही है जिसमे पूर्वपक्ष के रूप मे सक्षेप से उनके मतो का उल्लेख मिलता है। अतः प्राचीन आचार्यों के रस के स्वरूप का सर्वथा समीचीन रूप मे विवेचन कठिन है। और मुझ जैसे मन्दमति पुरुष के लिए मतिमान्द्य के कारण और भी कठिन है। फिर भी येन केन प्रकारेण उपलब्ध ग्रन्थो के आधार पर उसका विवेचन करने का यह तुच्छ प्रयासमात्र है।

वर्तमान मे उपलब्ध रसस्वरूप का विश्लेषण करने वाली पुस्तकों मे गणेश-त्र्यम्बक देशपाण्डे की 'भारतीय साहित्य शास्त्र' नामक पुस्तक मुझे सर्वोत्तम प्रतीत हुई। इस की विवेचनशैली उत्तम है और रस का स्वरूप सरल शब्दो मे बतलाने का प्रयास इसमे किया गया है। फिर भी अभिनवभारती के कतिपय दुरूह स्थलो का व्याख्यान स्पष्ट न कर उन्होंने भी उनका सामान्य भावार्थमात्र बतलाकर छोड दिया है तथा कतिपय स्थलो का स्पर्श भी नही किया है। जैसे—

'आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत् सविद्विकासेऽधिगतागमित्वम्।
इत्य स्वयसिद्धमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोक.॥

इत्यादि दो कारिकाओं के भावार्थमात्र का भी इसमे निर्देश नही है, जो कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कारिकायें हैं। दो एक स्थलो मे मेरा भी उनसे मतभेद रहा है जिसका उल्लेख मैंने अभिनव के रसविवेचन के अवसर पर कर दिया है। मूल सस्कृत ग्रन्थो को छोड़कर मैंने हिन्दी मे डा. नगेन्द्र के 'रससिद्धान्त', डा०

प्रेमस्वरूप के 'रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन', गणेश त्र्यम्बक पाण्डेय के 'भारतीय साहित्यशास्त्र तथा श्री नगीनदास पारख की पुस्तक, अभिनव का रसविवेचन इन चार पुस्तकों का ही अध्ययन किया है। अन्य रसविषयक हिन्दी के ग्रन्थ न मुझ उपलब्ध हुए हैं और न उनकी उपलब्धि का प्रयास मैंने किया है।

भट्टतौत व आनन्दवर्धन के रसविषयक विवेचन मे मैंने देशपाण्डय के भारतीय साहित्यशास्त्र स सहायता ली है। इस विषय मे मैं उनका ऋणी हूँ। अन्य आचार्यों के मता का विवेचन मैंने मूल संस्कृतग्रन्थो के आधार पर ही किया है। इस विवेचन म मतिमान्द्य के कारण अनेक त्रुटियाँ रही हैं, उनकी पूर्ति स्वय विद्वान् पाठक करेंगे तथा उन त्रुटियो का निर्देश कर मुझे अनुगृहीत करेंगे।

मेरा यह प्रयास स्वल्पमात्रा मे भी विद्वानो का परितोष कर सकेगा तो मैं अपन परिश्रम को सार्थक समझूगा।

इस कार्य मे मेरे प्रिय, योग्यतम विद्यार्थी उदयपुर विश्वविद्यालय के संस्कृत-विभाग के प्रोफेसर डा मूलचन्द्र पाठक ने इसकी प्रारम्भिक पाण्डुलिपि को पढकर जो सुझाव दिय उसके लिए मैं उन्ह शुभाशी प्रदान द्वारा अभिनन्दित करता हूँ। और जीवन मे उनके उत्तरोत्तर अभ्युदय की कामना करता हूँ।

राजकीय महाविद्यालय अजमेर के संस्कृतविभाग के प्राध्यापक, मेरे विद्यार्थी श्री शिवचरण गर्ग न पाण्डुलिपि तैयार करने मे तथा प्रूफ आदि के संशोधन मे जो अमूल्य सहयोग दिया है उसके लिए मैं उनका भी आशीर्वाद से अभिनन्दित करता हू।

अन्त मे इस पुस्तक में विवेचित कतिपय विषयो का निर्देश पाठकों की जानकारी के लिये किया जा रहा है—

१ भट्टलोल्लट का रसविषयक मत पूर्वमीमासा पर अवलम्बित व उत्पत्तिवादी है, इसका सयुक्तिक विवेचन।

१ भट्टलोल्लट तथा शकुक के रसविषयक मत मे भी स्थायिभाव रति चाहे अनुकार्य व अनुकर्ता मे रहे किन्तु उसके ज्ञान से जनित रस (आनन्द) का सम्बन्ध सहृदय से ही है, इसका प्रतिपादन।

३ (क) भट्टनायक का रसविषयकमत भुक्तिवादी है और वह भुक्ति को लेकर ही साख्यमतानुसारी है न कि त्रैगुण्य के कारण।

(ख) भट्टनायक के मत मे विभावादि के साथ रस का भोज्यभोजक-भाव सम्बन्ध है न कि भाव्यभावकभाव सम्बन्ध।

(ग) भट्टनायक से पूर्व प्रचलित विभावादि के साधारण्य से भट्ट-नायकसम्मत साधारणीकरण के मौलिक भेद का प्रतिपादन।

(घ) भट्टनायक के मत मे सहृदय साधारणीकृत अनुकार्यरामनिष्ठ रति का ही भोगव्यापार द्वारा ज्ञानरूप आस्वादन करता है न कि स्वनिष्ठ रति का।

४ (क) अभिनवगुप्त के मतानुसार विभावादि के साधारण्य के द्वारा उद्बुद्ध *साधारणीकृत अत एव स्थायी रति से भिन्न तत्काला-* भिव्यक्त स्वनिष्ठ रति का ही सहृदय आस्वादन करता है।

(ख) अभिनवगुप्त का साधारणीकरण व्यापक है तथा भट्टनायक का सीमित—इस मान्यता का निराकरण।

५ (क) 'आनन्दो ह्यय न लौकिकसुखान्तरसाधारण, अनन्त करणवृत्ति-रूपत्वात्' इस जगन्नाथ की उक्ति का विवेचन।

(ख) व्यभिचारिभावो की अभिव्यक्ति के विषय मे १ स्थायिभाव-न्याय, २ रसन्याय तथा ३ व्यग्यान्तरन्याय, इस मतत्रैविध्य का निराकरण।

६ भावसामान्य तथा भावध्वनि का भेदविवेचन तथा ३३ व्यभिचारी भाव व देवादिविषयक रति इस प्रकार भावध्वनि ३४ ही प्रकार की है, इसका प्रतिपादन आदि।

मैंने प्राचीन आचार्यों के रसस्वरूप का विवेचन करते हुए मूल पुस्तक मे तथा पादटिप्पण मे उन आचार्यों के उद्धरणो को प्रायः पूर्णतया उद्धृत कर दिया है जिससे पाठक को इस पुस्तक मे प्रतिपादित तथ्यो की यथार्थता व अयथार्थता के ज्ञान के लिए इधर उधर पुस्तको की तलाश न करनी पडे।

इस पुस्तक के प्रकाशन मे वैदिक यन्त्रालय मे प्रबन्धक श्री सतीशचन्द्र शुक्ल का जो श्लाघीय सहयोग प्राप्त हुआ है उसके लिए मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

—सुरजनदास स्वामी

विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना

रसस्वरूपनिरूपण

भावविवेचन

रसाभास तथा भावाभास

साधारणीकरण

डा. राकेश गुप्त तथा रस

मङ्गलम्

ध्यात्वा रसात्मकं ब्रह्म 'रसो वै सः' इति श्रुतेः।
रसस्वरूपं व्याचक्षे पूर्वाचार्यनिरूपितम् ॥ १ ॥

जीवयितुं रसं तत्त्वं दुर्व्याख्याविषमूर्च्छितम्।
प्रयासः सफलो मे स्याद् रसब्रह्मप्रसादतः ॥ २ ॥

काव्यस्यात्मा रस इति साहित्ये प्रतिपादितम्।
तस्याऽऽत्मत्वं 'रसो वै स' इति श्रुत्या निरूपितम् ॥ ३ ॥

देहेन्द्रियमनःप्राणधीरूपत्वं यथाऽऽत्मनः।
निरस्य वेदान्ते प्रोक्ता सच्चिदानन्दरूपता ॥ ४ ॥

तथा रसस्य साहित्ये पारक्यरतिरूपताम्।
निरस्याभिनवाचार्यः प्राहानन्दघनात्मताम् ॥ ५ ॥

रसस्वरूपमाचार्यैरुक्तमाधुनिका बुधा।
तद्भावावबोधतश्चक्रुः दुर्व्याख्यानत आविलम् ॥ ६ ॥

आचार्याणामभिप्रायमाविष्कृत्य यथामति।
दुर्व्याख्याजनितान् दोषान्निराकृत्य प्रमाणतः ॥ ७ ॥

साहसं मन्दबुद्धेर्मे कर्तुं रसमनाविलम्।
मोहात् सिन्धोर्दुस्तरस्य नितीर्षवोडुपेन हि ॥ ८ ॥

सुधियोऽपि मत्वेदं नूनं बालविचेष्टितम्।
प्राप्स्यन्ति कञ्चिदामोदमिति मे प्रत्ययो दृढः ॥ ९ ॥

—०—

प्रस्तावना

रसपदार्थविवेचन

विभिन्न आचार्यों के रसविषयक मतो का विवेचन करने से पूव रसविषयक कतिपय मौलिक तथ्यो का निरूपण करना आवश्यक है जिनके ज्ञान से रसविषयक मतो के समझने मे तथा उनकी समीक्षा करने मे सहायता प्राप्त होगी। उन्हें रससिद्धान्त की प्रस्तावना के रूप मे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

रस के स्वरूप का निरूपण करते हुए यह बतलाया जाने वाला है कि रत्यादि के लौकिक कारणो, कार्यों व सहकारिकारणो द्वारा स्वगतरति या परगत-रति का बार बार अनुमान करने से जिन सहृदयो मे रति के संस्कार बन चुके हैं उनके हृदय मे जब उन्ही कारणो, कार्यों व सहकारिकारणो का साधारणीकरण द्वारा देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्ध का परिहार हो जाने पर विभावन, अनुभावन व समुपरजकत्वरूप *व्यभिचरण व्यापार द्वारा नमश विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी* शब्दों से व्यपदेश होता है, तब साधारणीकृत अतएव व्यक्तिविशेष-सम्बन्धरहित रूप से सहृदय के हृदय मे सस्काररूप मे विद्यमान सामाजिकरति आदि की *अभिव्यक्ति होती है तब वे ही रति आदि स्थायिभाव सामाजिको द्वारा प्रत्यक्षादि* प्रमाणो, अपरिपक्वयोगिज्ञान तथा आत्ममात्रपर्यवसित परिपक्वयोगिज्ञान से भिन्न बोधापरपर्याय रसनारूप अनुभूति से आस्वाद्यमान (ज्ञायमान) होने पर रस कहलाते हैं।

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है कि कोशादि द्वारा रसपद-मधुरादिरस, पारद (पारा), शब्दादिविषय, सार (तत्व), जलसंस्कार, अभिनिवेश, क्वाथ (काढा), शरीर की सात धातुओ मे प्रथम धातु और निर्यास (गोंद) अर्थों मे प्रसिद्ध है न कि इन से भिन्न अर्थ मे। अत आचार्य भरत ने किस प्रवृत्तिनिमित्त को लेकर रसपद का साहित्यिक रस मे प्रयोग किया है ? इस अभिप्राय से यह प्रश्न है कि 'रस इति क पदार्थ ?' इस प्रश्नवाक्य मे अर्थशब्द प्रवृत्तिनिमित्त का बोधक है। अर्थात् साहित्यिक शृङ्गारादि रसो मे रसशब्द की प्रवृत्ति (प्रयोग) का क्या *कारण है ? इसका उत्तर देते हुए भरत मुनि ने शृङ्गारादि रसो मे रसशब्द की प्रवृत्ति* का कारण आस्वाद्यत्व बतलाया है। अर्थात् जैसे मधुरादि लौकिकरस आस्वाद्य होते हैं उसी प्रकार ये साहित्यिक शृङ्गारादि रस भी सामाजिको द्वारा आस्वाद्य *हैं। अत आस्वाद्यत्व-रूप सादृश्य के कारण शृङ्गारादि में रस-शब्द का प्रयोग* किया है। लौकिक मधुरादि रसो के साथ अलौकिक शृङ्गारादि रसों का साम्य बतलाने के लिए भरत ने लौकिक दृष्टान्त का आश्रय लिया है। वे कहते हैं कि *जिस प्रकार लोक मे नाना व्यञ्जनो से सस्कृत अन्न को खाने वाले एकाग्रचित्त* पुरुष मधुरादिरसो का आस्वादन करते हैं और उन्हे हर्ष, पुष्टि, तृप्ति, जीवन, बल आरोग्य इन फलो की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार काव्य व नाट्य मे भी जब समाहित तथा निर्मलचित्तवाले *रसिक प्रेक्षक विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारिभावों*

से अभिव्यक्त, वाचिक, आङ्गिक, सात्विक, आहार्य अभिनय-प्रक्रिया पर आरूढ स्थायिभावरूप रसों का आस्वादन करते हैं और उससे उनको लोकोत्तर हर्ष व धर्मादि में वैदग्ध्यादि फल की प्राप्ति होती है। इस उदाहरण द्वारा लौकिक मधुरादि रसों के साथ काव्य व नाट्य के शृङ्गारादि रसों का भोग्य, भोक्ता व फल इन तीनों चीजों में साम्य प्रदर्शित किया है। जैसे लोक में व्यंजनसंस्कृत अन्न भोग्य (आस्वाद्य) है। एकाग्रचित्त वाला भोक्ता आस्वादयिता है और प्रहर्ष, पुष्टि, जीवन, बल, आरोग्य आदि की प्राप्ति उस आस्वादन का फल हैं। उसी प्रकार काव्य व नाट्य में विभावादि से अभिव्यक्त स्थायिभाव आस्वाद्य है। वर्णनीय स्थायिभाव में तन्मयीभाव वाला निर्मलहृदय सामाजिक आस्वादयिता है तथा हर्ष, धर्मादि में वैदग्ध्यादि की प्राप्ति उस आस्वाद का फल है।

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि लोक में मधुरादि रसों का आस्वादन तो रसनेन्द्रियजन्य है अतः उनमें तो रस शब्द का प्रयोग उचित है किन्तु काव्य-नाट्यरस शृङ्गारादि में रसनेन्द्रिय-जन्यता का अभाव है, अतः इनमें रसशब्द के प्रयोग में आस्वाद्यता को कारण कैसे माना जा सकता है? इसका समाधान यह दिया गया है कि काव्यगत व नाट्यगत रसों में मानससाक्षात्कार रूप रसनाव्यापार में भोग्य, भोक्ता तथा फल के साम्य के कारण लौकिक रसनव्यापार का आरोप करके उसे रस कहा है। वस्तुतः तो लौकिक मधुरादि रसों में भी रस का ज्ञान तो मन के द्वारा ही होता है न कि रसनेन्द्रिय द्वारा। इसीलिए भरत ने 'रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः' इस उक्ति के द्वारा एकाग्रचित्तवाले पुरुषों को मधुरादि रसों का आस्वाद बतलाया है अन्यों को नहीं। व्यंजनसंस्कृत भोग्य अन्न के साथ रसनेन्द्रिय का व्यापार तो प्रत्येक पुरुष में होता है। अतः रसनेन्द्रिय व्यापार के द्वारा मधुरादि रस का ज्ञान होता तो प्रत्येक पुरुष को होना चाहिए। इसीलिए अभिनवगुप्त ने भी 'एकाग्रमनसि च भोक्तर्यास्वादयितृता। अन्यचित्तस्य भुंजानस्याप्यास्वादाभिमानाभावात्" (अभिनव भारती गायकवाड़ सीरीज पृ. २८९) यह कहा है।

इससे यह सिद्ध है कि रसास्वादन मानसप्रतीति है न कि रसनेन्द्रियजन्य प्रतीति। 'सुमनसः' शब्द में 'सु' उपसर्ग का प्रयोग यह भी सिद्ध कर रहा है कि जिसका मन रागद्वेषादि विकारों से युक्त अर्थात् मलिन नहीं है उसीको मधुरादि रसों का आस्वाद होता है अन्य को नहीं, और उसी को रसास्वादनजन्य हर्ष, बल, जीवन आदि फलों की प्राप्ति वास्तविक रूप में होती है। आचार्य भरत मुनि ने 'अन्नं भुंजाना रसानास्वादयन्ति' इस उक्ति से रस का आस्वादन कराने वाला व्यापार अन्नभोजन व्यापार से भिन्न है यह बतलाया है। क्योंकि रसनेन्द्रियव्यापार का सम्बन्ध अन्न के साथ है तथा मानससाक्षात्कार या मानसप्रतीतिरूप व्यापार का सम्बन्ध मधुरादि रसों से है। इसीलिए भोजन व आस्वादनरूप दो व्यापारों का यहाँ निर्देश किया गया है और दोनों व्यापारों के अन्न व रसरूप भिन्न विषयों का भी

निर्देश किया गया है। अत आस्वादन रसनेन्द्रियजन्य न होकर भोजनानन्तर होने वाली मानसप्रतीति ही है। मधुरादि रसो मे आस्वादन रसनेन्द्रियव्यापार नही है किन्तु मानस प्रतीतिरूप ही है, और उस मानसप्रतीतिरूप व्यापार की सत्ता लौकिक मधुरादि रसो मे तथा काव्यगत व नाट्यगत अलौकिक शृङ्गारादि रसो मे समान है। लोक मे वह व्यापार रसनाव्यापार के बाद होता है किन्तु काव्य व नाट्य मे शृङ्गारादि रसो मे वह व्यापार रसनाव्यापार के बाद नही होता अत यहाँ उसका सादृश्यमूलक आरोप बतलाया है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने कहा है—

'रसनाव्यापाराद् भोजनादधिको यो मानसो व्यापार स एवास्वादनम्। एतदुक्त भवति न रसनाव्यापार आस्वादनम्। अपितु मानस एव। स चात्राविकलो-ऽस्ति। केवल लोके रसनाव्यापारानन्तरभावी स प्रसिद्ध इत्युपचार इह दर्शित इति।' (अ भा पृ २९० गायकवाड सीरीज)

अलौकिक रत्यादि की रसरूपता—

अभिनवगुप्त विभावादिसाधारण्य के द्वारा सामाजिक के हृदय मे विभावादि-चर्वणा के समय ही उद्बुद्ध सस्काररूप चर्व्यमाण अलौकिक रत्यादि को या उन की चर्वणा को ही रस मानता है न कि भट्टलोल्लटादि की तरह लौकिकरत्यादि स्थायिभावो को। किन्तु उनका यह मत 'नानाभावाभिव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका। (ना शा पृ २८६) तथा 'नानाभावो-पगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' (ना शा पृ २८८) इन उक्तियो के द्वारा स्थायिभावों के आस्वादन को रस बतलाने वाले भरतमत से आपातत विरुद्ध प्रतीत होता है। इस विरोध का परिहार अभिनवगुप्त ने "नानाभावोपगता नाना-भूतैर्विभावादिभिरुप समीप प्रत्यक्षकल्पता गता लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीवित रसत्व तत्र प्रतिपद्यन्ते।' (अ भा पृ २८८) इस व्याख्या के द्वारा कर दिया है। अर्थात् भरत ने जो स्थायिभावो मे रस्यमानतारूप रसत्व बतलाया है उनको लोकापेक्षया स्थायी कहा है। अर्थात् लोक मे वे रत्यादि स्थायी कहलाते हैं अत उन्हे स्थायी कहा है। किन्तु सहृदयो द्वारा जो रस्यमान (आस्वाद्य-मान) होते हैं वे लौकिक स्थायिभाव नही हैं किन्तु सामाजिको के हृदय मे सस्कार-रूप से विद्यमान तथा साधारणीकृत विभावादि द्वारा साधारणीकृत रूप से प्रतीय-मान अलौकिक रत्यादि ही सहृदयो द्वारा रस्यमान होकर रस बनते हैं। रस्यमानता-दशा मे उनमे स्थायित्व नही है वह तो लोकदशा मे है। रस्यमानतादशा में तो विभावादिचर्वणासमकाल मे ही उनका उदय होता है न कि पूर्वापर काल मे। अतः उसको स्थायी कहना सभव नहीं है। इसीलिए रस को विभवादिजीविता-वधि माना गया है। इसीलिए 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति' इस सूत्र में 'स्थायितो रसनिष्पत्ति' इस प्रकार से स्थायी का उपादान नहीं किया गया है।

प्रश्न यह उपस्थित होता है कि जब भरत को स्थायिभाव का रसत्व अभिप्रेत नही है और इसीलिए उन्होंने रससूत्र मे स्थायी का उपादान नही किया तो 'नानाभावोपगता स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' इसमे स्थायी का उपादान क्यो किया ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि लोक में रत्यादि स्थायिभावो के जो कारण, कार्य व सहकारिकारण रूप से प्रसिद्ध तत्व हैं वे ही काव्य व नाट्य मे उपनिबद्ध होने पर साधारणीकृत होकर विभावनादि-व्यापारो द्वारा विभावादिशब्द से व्यवहृत होते हैं तथा उन्ही से सामाजिक के हृदय मे वासनारूप से विद्यमान साधारणीकृत अलौकिक रत्यादि का उद्बोध होता है। अर्थात् रस्यमान अलौकिक सस्काररूप रति के उद्बोधक जो विभावादि हैं वे लोक में स्थायिभाव के कारणादि थे। लौकिक रत्यादि स्थायिभाव के जो कारणादि थे उन्ही मे विभावनादि व्यापार द्वारा उस अलौकिकरति की चर्वणा कराने का औचित्य है, अन्य मे नही। इसी अभिप्राय से 'स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' यह कहा गया है।[1]

किन्तु लौकिक रत्यादि स्थायिभाव तथा रसरूपता को प्राप्त करने वाले सहृदयहृदयनिष्ठ अलौकिक रत्यादि भाव सर्वथा भिन्न हैं। इनकी भिन्नता का निरूपण भक्तिरसायन मे निम्नरीति से किया गया है—

'काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्या. स्थायिन सन्ति लौकिका. ।
तद्बोद्धृनिष्ठास्त्वपरे तत्समा अप्यलौकिका ॥' (भ र ३।४)

अर्थात् काव्य मे रामादि आश्रयो मे निरूपित किये जाने वाले रत्यादि लौकिक हैं किन्तु रसास्वाद के समय सहृदयो मे उद्बुद्ध सस्काररूप रत्यादि अलौकिक हैं।

रसो और भावो के विषय में एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि रसो से विभावादि भावो की निष्पत्ति होती है अथवा विभावादिभावो मे शृङ्गारादिरसो की निष्पत्ति होती है अथवा रसो से भावो की और भावो से रसो की इस प्रकार परस्पर निष्पत्ति होती है। इन तीन पक्षो मे विभावादि भावो से शृङ्गारादि रसो की निष्पत्ति होती है—इस द्वितीय पक्ष का प्रतिपादन 'विभावानुभावव्यभिचारि-सयोगाद्रसनिष्पत्ति.' इस सूत्र के द्वारा किया जा चुका है। किन्तु लोक में रत्यादि के जो कारण, कार्य व सहकारिकारण हैं उनमे विभावादिरूपता तभी आती है जबकि वे रसप्रतीति के उपयोगी होते हैं। अत. विभावादिभावो में रसोपयोगिता के कारण विभावादिरूपताप्रनिपत्ति होती है। अत. रस विभावादि-भावो की निष्पत्ति के कारण है—यह प्रथम पक्ष सिद्ध होता है। उपर्युक्त दोनो पक्षो मे प्रतिपादित रीति से रसो से विभावादिभावो तथा विभावादिभावो से रसो

१ केवलमौचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसभूत इति। औचित्य तु तत्स्थायिगतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धानामधुना चर्वणोपयोगितया विभावादित्वावलम्बनात्।' (अ भा पृ २८४)

की परस्पर निष्पत्ति होने से परस्पराश्रयदोष आता है। क्योकि रसनिष्पत्ति हो तो रसोपयोगी होने से कारणादि मे विभावादिरूपता की प्रतिपत्ति हो। और विभावादिरूपता की प्रतिपत्ति हो तब विभावादि भावो से रस की निष्पत्ति हो—इस प्रकार अन्योन्याश्रय दोष होने से न रसा से भावा की तथा न विभावादि-भावो से रसो की निष्पत्ति बन सकती है। क्योकि अन्योन्याश्रित कार्यों की सिद्धि नही हुआ करती, यह प्रश्न है। इस प्रश्न का समाधान रससूत्र के अनुसार यह है कि विभावादिभावो के सयोग से रस की निष्पत्ति होती है। और प्रमदादि आलम्बन-विभाव, ऋतुमाल्यादि उद्दीपन विभाव, कटाक्षभुजाक्षेपादि अनुभाव तथा लज्जा, औत्सुक्य धृत्यादि सचारी भाव लोक मे प्रसिद्ध हैं। उनके ज्ञान के लिए रसप्रतीति की अपेक्षा नही है, अत अन्योन्याश्रय दोष नही है। भाव शब्द की व्युत्पत्ति भी इसी तथ्य को प्रमाणित कर रही है क्योकि जो काव्यार्थरूप रस की भावना अर्थात् निष्पत्ति करते हैं उन्हे भाव कहते हैं। विभावादि चूकि रस की निष्पत्ति करते है इसी से उन्हे भाव कहा जाता है। यही बात—

भावाभिनयसम्बन्धाद् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्यमोक्तृभि ॥

नानाद्रव्यैर्बहुविधैर्व्यञ्जन भाव्यते यथा ।
एव भावा भावयन्ति रसानभिनयै सह ॥ (ना शा पृ २९३)

इन आनुवश्य श्लोको मे भी बतलाई गई है। अत यह सिद्ध है कि रस कभी भावरहित नही होता। अर्थात् भावो के बिना रस की निष्पत्ति नहीं होती।

किन्तु इस पक्ष मे पुन यह शङ्का होती है कि जैसे रस की सिद्धि भावो के बिना नही हो सकती वैसे ही भावो की निष्पत्ति भी बिना रस के नहीं हो सकती। क्योकि प्रमदादि मे विभावादिरूपता लोकप्रसिद्ध नही है। लोक मे तो प्रमदादि मे कारणत्वादिता ही प्रसिद्ध है। विभावादिरूपता की सिद्धि तो उनमे रसोपयोगी होने से ही होती है। अत विभावादि से रस की सिद्धि तथा रसो-पयोगिता से विभावादिरूपता की सिद्धि से अन्योन्याश्रय दोष की प्रसक्ति है ही। इस दोष का परिहार करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि अन्योन्याश्रय दोष तभी हो सकता है जब रस की सिद्धि (अस्तित्व) विभावादि से हो और विभावादि की सिद्धि (अस्तित्व) रस से हो। किन्तु प्रकृत मे यह बात नही है। रस की सिद्धि के हेतु प्रमदादि का अस्तित्व कारण, कार्य, सहकारिकारण रूप से लोक मे प्रसिद्ध हैं, उनकी सिद्धि रस से नही होती। अत उनसे रस की सिद्धि बन जाती है। पश्चात् रस की सिद्धि हो जाने पर उन प्रमदादि कारणो मे केवल विभावादि-शब्दव्यपदेश्यता (विभावादिशब्दव्यवहार) रस के कारण होती है न कि उन रसकारणीभूत प्रमदादि की सिद्धि रस से होती है। इसी तथ्य को उन्होंने 'अभिनये साक्षात्कारे सम्पन्ने तदुपयोगितया विभावादिशब्दव्यपदेश' (अ भा पृ २९३)

इस वचन के द्वारा व्यक्त किया है। अर्थात् रसहेतुभूत प्रमदादि कारणों की सिद्धि लोक से प्रसिद्ध है उनकी सिद्धि के लिए रस की आवश्यकता नहीं, किन्तु रस-साक्षात्कार हो जाने पर उन प्रमदादि में रसोपयोगी होने से विभावादि शब्दों का व्यवहार हो जाता है। इसी का स्पष्टीकरण उन्होंने व्यञ्जनौषधिसंयोग व अन्न तथा तन्तुपट के दृष्टान्त से किया है। अर्थात् व्यजनौषधिसंयोग अन्न में स्वादुता और अन्न, व्यञ्जनादि में स्वादुता उत्पन्न करता तो अन्योन्याश्रय दोष होता। किन्तु ऐसा नहीं है, व्यञ्जनादिसंयोग अन्न मे आह्लादजनकरसवत्ता (रस) को उत्पन्न करता है और अन्न व्यञ्जनादि मे रसवत्ता उत्पन्न न कर उसका आश्रय बन कर व्यञ्जनादि म रसव्यञ्जकत्व की योग्यता उत्पन्न करता है। रसाश्रय अन्न के बिना व्यञ्जनादि मे रसव्यञ्जकत्व नहीं उत्पन्न हो सकता। अत रसोत्पादकत्व व रसव्यञ्जकत्वयोग्यतारूप क्रियाभेद के कारण यहाँ अन्योन्याश्रय नहीं है। एक ही स्थान मे एक ही समय एक ही क्रिया की परस्पर जनकता होने पर अन्योन्याश्रय दोष होता है। इसी प्रकार दूसरे दृष्टान्त में पट की सिद्धि तन्तुओं से तथा तन्तुओं की सिद्धि पट से होती तो अन्योन्याश्रय दोष होता। किन्तु ऐसी बात नहीं है। तन्तु पटसिद्धि से पूर्व विद्यमान हैं अत उनकी सिद्धि के लिए पट की अपेक्षा नहीं है। किन्तु उन तन्तुओं मे ये तन्तु पटकारण हैं—इस व्यवहार की सिद्धि पटरूप कार्य से होती है। अत अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। इसी प्रकार रससिद्धि के लिए आवश्यक प्रमदादि की सिद्धि रस से पूर्व लोकप्रसिद्धि मे विद्यमान है। उनकी सिद्धि के लिए रस की अपेक्षा नहीं है। किन्तु रसकारणीभूत प्रमदादि मे विभावादिव्यवहार की सिद्धि के लिए रस की अपेक्षा है क्योंकि रसोपयोगिता के कारण ही उन प्रमदादिकारणों में विभावादिव्यवहार होता है। अत यहाँ भावों से रस की सिद्धि और रस से भाव की सिद्धि इस प्रकार का अन्योन्याश्रय दोष नहीं है। रस के कारणीभूत प्रमदादि की सिद्धि तथा प्रमदादि कारणरूप भावों से रस की सिद्धि—इस रूप से एक ही सिद्धिरूप क्रिया के लिए रस और भावों की परस्पर अपेक्षा होती तो अन्योन्याश्रय दोष होता। किन्तु यहाँ क्रियाभेद है क्योंकि प्रमदादि कारणों से रससिद्धिरूप क्रिया निष्पन्न होती है। और रस से प्रमदादि कारणों की सिद्धि न होकर उनमें विभावादिव्यवहार होता है। अत सिद्धि तथा व्यवहाररूप भिन्न क्रियाओं के दोनों में होने से एक क्रिया की निष्पत्ति मे परस्पर की अपेक्षा नहीं है। इसीलिए यहाँ इतरेतराश्रय दोष नहीं।[1]

यदि उपर्युक्त रीति से भावों से रसनिष्पत्ति होती है तो 'न हि रसादृते

1 एतदुक्तं भवति एकस्यैवैक-क्रियायामन्योन्याश्रयत्वं दोषो न तु क्रियाभेदे। यथा व्यञ्जनौषधिसंयोगेनान्नस्याह्लादिरसवत्ता क्रियते। अन्नेन चाश्रयभूतेन सता व्यञ्जनौषधिसंयोगव्यङ्ग्यता क्रियते। एवं भावैः रसस्यमानता। रसैश्च विभावादिव्यपदेश्यता कारणादीनाम्। यथा पटापेक्षया तन्तवः पटकारणमिति व्यपदेश्याः। तन्त्वपेक्षया पटः कार्यम्। न चेतरेतराश्रयत्वं, तथा प्रकृतेऽपि। (अ भा २९३-२९४)

कश्चिदर्थः प्रवर्तते।' अर्थात् रस के बिना किसी भी नाट्यविषय की प्रवृत्ति नहीं होती—इस भरतवचन की संगति कैसे होगी? तथा भाव रसो से पूर्ववर्ती हैं तो 'रसा भावा अभिनया' (ना शा ६, १०) मे भावो का नामनिर्देश पहिले करना चाहिए था और आगे भी रसो के निरूपण से पूर्व भावो का निरूपण करना चाहिए था। किन्तु ऐसा नहीं किया गया—इसका क्या कारण है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान आचार्य भरत ने इस प्रकार किया है कि जैसे वृक्ष से ही पुष्पो व फलो का उद्गम होता है किन्तु वृक्ष का भी मूल बीज है। उसी प्रकार सामाजिक मे रसप्रतीति का मूल कविगत रस है। अर्थात् कवि जब लोक से गृहीत अर्थों की साधारणीभाव से चर्वणात्मक प्रतीति करता है तब वह साधारणीभूत अर्थप्रतीति ही कविगत रस है। अर्थात् उस समय कवि उन अर्थों की देशकाल-व्यक्तिविशेषसम्बद्धता से प्रतीति नही करता किन्तु साधारण्य से करता है। वह साधारणीभूत सवित् ही कविगत रस है। कवि का हृदय उस रस से परिपूर्ण हो जाता है और सम्पूर्ण विश्व को रस से परिपूर्ण ही देखता है। इस प्रकार कवि-हृदय के रससवित् से पूर्ण हो जाने पर वही रससवित् बाहर उच्छलित होती हुई कवि के वाग्व्यापार का अर्थात् काव्य का कारण बनती है और काव्य मे भी वह व्याप्त रहती है। काव्यरूप मे परिणत उसी कविगत रसप्रतीति से वशीकृत सामाजिक को भी रसप्रतीति होती है। यह रसप्रतीति विभावादिविशिष्ट रत्यादि की सामूहिक चर्वणा है। पश्चात् अर्थात् रसप्रतीति के अनन्तर जब सामाजिक रसघटक तत्वो का अपोद्धारबुद्धि से विश्कलन करता है तब विभावादि का ज्ञान होता है। इस प्रकार कवि से प्रारम्भ कर सामाजिक तक एक ही रसप्रतीति व्याप्त है। उससे बाद मे विभागबुद्धि द्वारा भावो की प्रतीति होती है। अत रस से भावो की प्रतीति होती है। उस विभावादिरूप भावप्रतीति का मूल रसप्रतीति है। इस विचार से प्रथम मूलभूत रसो का निर्देश किया है पश्चात् भावो का। और उसी प्रकार से प्रथम रसो का निरूपण है पश्चात् भावो का। इसीलिए आचार्य भरत ने कहा है—

> 'यथा बीजाद् भवेद् वृक्षो वृक्षात् पुष्प फल तथा।
> तथा मूल रसाः सर्वे तेभ्यो भावा प्रकीर्तिता ॥' (ना शा अ ६, का ३८)

इसी का स्पष्टीकरण करते हुए व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने कहा है —

'बीज यथा वृक्षमूलत्वेन स्थितम्। तथा रसा। तन्मूला हि प्रीतिपूर्विका व्युत्पत्ति (विभावादिप्रतीति) रिति। कविगतसाधारणीभूतसविन्मूलश्च काव्य-पुरस्सरो नटव्यापार। सैव च सवित् (कविगतसाधारणीभूतसवित्) परमार्थतो रस। सामाजिकस्य च तत्प्रतीत्या वशीकृतस्य पश्चादपोद्धारबुद्ध्या विभावादि-प्रतीतिरिति प्रयोजनं नाट्ये काव्ये सामाजिकधियि च। तदेव मूल बीजस्थानीय' कविगतो रस। कविर्हि सामाजिकतुल्य एव। तत एवोक्त 'शृङ्गारी चेत्कवि' इत्याद्यानन्दवर्धनाचार्येण। ततो वृक्षस्थानीय काव्यम्। तत पुष्पस्थानीयोऽभि-

नयादिर्नटव्यापार । तत फलस्थानीय सामाजिकरसास्वाद । तेन रसमयमेव विश्वम् ।' (अ भा पृ २९४)

यहां अभिनवगुप्त ने कवि को जो सामाजिक के समान बतलाया है उसका तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार सामाजिक काव्यशब्दो द्वारा प्रतीयमान अर्थों की साधारणीकरण के द्वारा प्रतीति करता है तभी रसानुभूति होती है, उसी प्रकार जब कवि लोकानुभूति से प्राप्त लौकिक अर्थों का साधारण्य सम्पादन कर साधारणीभाव से प्रतीति करता है तभी उसे रसास्वादन होता है और कविगत रसप्रतीति का जो सामाजिक मे सक्रम बतलाया है उसका भी यह तात्पर्य है कि कवि जब लोकानुभव से प्राप्त अर्थों का साधारण्यप्रक्रिया स ज्ञान प्राप्त करता है तब उसे रसप्रतीति होती है। उस साधारणीभूत प्रतीति से हृदय के व्याप्त होन पर वमन द्वारा या घटपूर्णजल की तरह उच्छलनप्रक्रिया द्वारा उसका काव्य के रूप में बाहर उच्छलन होना है तब कविगत रस काव्य मे भी व्याप्त होता है किन्तु काव्य द्वारा कविगत रस ही सामाजिक मे नहीं पहुँच जाता। कविसजातीय रसप्रतीति सामाजिक में होती है। अर्थात् काव्यशब्दो द्वारा प्राप्त अर्थों का साधारण्यज्ञान अपेक्षित है। तभी वे सामाजिक को रसप्रतीति करा सकते हैं। इतना जरूर है कि कविगत रसप्रतीति का ही उच्छलन या निष्यन्द काव्य है, अत उनमे यह सामर्थ्य है कि वह सामाजिक में साधारणीकरणप्रक्रिया द्वारा उसे रसप्रतीति करा सकता है। कवि जिन अर्थों का सामाजिक में प्रेषण करता है वे अर्थ लौकिक नहीं किन्तु साधारणीभाव द्वारा अलौकिक अर्थ हैं। उन अर्थों के प्रेषण का माध्यम है काव्य या नाट्य। काव्य कवि-व्यापार द्वारा तथा नाट्य अभिनयव्यापार द्वारा कवि के साधारण्येन प्रतीत अर्थों का सामाजिक मे प्रेषण करता है। अत काव्य के अध्ययन से तथा नाट्य के दर्शन से सामाजिक मे साधारणीकरण द्वारा कविगतसाधारणीभूत रसप्रतीति की सजातीय साधारणीभूत सविद्रूप रसप्रतीति का प्रेषण उपपन्न हो जाता है जो कि सामान्य लौकिक शब्दो के द्वारा नहीं होता। क्योंकि लौकिक शब्द लोकानुभूत व्यक्तिविशेष-सम्बन्धयुक्त अर्थों का ही प्रेषण करते हैं जबकि काव्यशब्द साधारणीभूत अलौकिक अर्थों का प्रेषण करते हैं जो कि रसप्रतीति के मूल हैं। काव्यशब्द कवि की साधारणीभूत रसप्रतीति के उच्छलनरूप हैं। अत उनमें रसप्रतीतिसाधक अलौकिक अर्थों के बोधन का सामर्थ्य है, अन्य शब्दों में नहीं।

तात्पर्य यह है कि कवि लौकिक अर्थों का साधारण्य आपादन कर रसप्रतीति के बाद काव्य में जिन शब्दो का प्रयोग करता है वे दोषाभाव व गुणालङ्कार से सस्कृत शब्द होते हैं। अत वे लोक की तरह शब्दों से देशकालव्यक्तिविशेष-सम्बद्ध अर्थ की प्रतीति कराते हुए भी सामाजिक मे उन अर्थों में साधारणीकरण की योग्यता रखते हैं। अत साधारण्यापादन-समर्थ गुणालङ्कारसस्कृत शब्दो से सामाजिक साधारणीकरण प्रक्रिया द्वारा देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धरहित अलौकिक अर्थ की प्रतीति कर लेता है। किन्तु यह सामर्थ्य लौकिकशब्दों व अन्य शास्त्रीय

शब्दो मे नही है। क्योकि उन लौकिक तथा शास्त्रीय शब्दो का प्रयोग करने वाले उन व्यक्तियो ने उन ग्रर्थों का साधारण्य उपपादन कर रसप्रतीति नही की है। अत उनके द्वारा प्रयुक्त शब्द रसप्रतीति के उच्छलनभूत नही है और न गुणालङ्कारसस्कृत शब्द ही हैं।

रसो की आनन्दरूपता

अभिनवगुप्त के अनुसार शृङ्गार, करुण आदि सभी रस आनन्दरूप हैं। सभी का आनन्द मे ही पर्यवसान है क्योकि साधारणीकृत विभावादि उपायो से सामाजिकहृदय मे पहिले से ही सस्काररूप मे विद्यमान रति देशकालव्यक्ति-विशेषादि सभी विशेषताओ से रहित होकर रतित्वरूप से ही अभिव्यक्त होती है। उसमे तन्मयीभाव के द्वारा जब सामाजिक का चित्त रजोगुण व तमोगुण के अभिभव से युक्त सत्त्वगुण की प्रधानता से अन्तर्मुख होकर आत्मा मे निमग्न होता है तब वह साधारणीकृत रतिविशिष्ट आनन्दघन, सविद्रूप (ज्ञानरूप) आत्मा की अनुभूति करता है। आत्मा आनन्दघन है, अत आनन्द की ही प्रतीति होती है किसी प्रकार के दु ख की नही। यद्यपि रसास्वादनवेला मे सामाजिक का चित्त परिपक्व योगी की तरह शुद्ध आत्मा की अनुभूति नही करता किन्तु साधारणीकृत रत्यादि भावो की भी। अन्यथा ब्रह्मास्वाद और रसास्वाद म किसी प्रकार का अन्तर न होने से रस ब्रह्मास्वादसहोदर न कहा जाता। अत वहाँ सुखदु खात्मक रत्यादि भावो की भी स्थिति होने से सुख के साथ दु ख की प्रतीति भी सभावित है, अत रस को इस तरह एकान्तत आनन्दरूप नही माना जा सकता। तथापि रत्यादि भावो की सुखदु खात्मकता लोक मे है। अर्थात जब रत्यादिभाव लोक से सम्बद्ध होते हैं तभी लौकिक सुखदु ख के जनक होते हैं। सर्वविध लोकसम्बन्ध स हट जाने पर उनमे न सुखात्मकता रहती है और न दु खात्मकता। जैसे पुत्रोत्पत्ति सुखजनक है किन्तु वह सुखजनक तभी है जब पुत्र के साथ हमारा स्वत्वसम्बन्ध जुडा हुआ है। उसके हट जाने पर उसमे सुखजनकता नही। जैसे स्वत्वसम्बन्धरहित पडोसी के लिए वह पुत्र सुखजनक नही है। इसी प्रकार पुत्रवियोग शोक का जनक उसी व्यक्ति के प्रति है जिसके साथ उसका स्वत्वसम्बन्ध है। उस सम्बन्ध के हट जाने पर वह शोकजनक नही होता जैसे पडोसी को। इससे सिद्ध है कि लौकिक पदार्थ तभी तक सुखजनक व दु खजनक है जब उनके साथ व्यक्ति का स्वकीयत्व व परकीयत्व सम्बन्ध बना हुआ है। उसके हट जाने पर न वे सुखजनक हैं और न दु खजनक। जैसे उदासीन योगी को सासारिक पदार्थ न सुखजनक हैं और न दु खजनक। यह स्थिति तो लोक मे रहते हुए भी देखी जाती है। इसी प्रकार रसास्वादनकाल मे आस्वाद्यमान रत्यादि लौकिक सर्वविध विशेषताओ का परित्याग कर लोकसम्बन्ध-रहित हो गये हैं अत उन साधारणीकृत भावो मे उस समय न सुखजनकता है और न दु खजनकता। इन्दुमती की मृत्यु पर अज को शोक तभी दु खजनक है जबकि उसका इन्दुमती से व इन्दुमती की मृत्युरूप कारण मे तथा मृत्युपूर्व इन्दुमती

के साथ घनिष्ठ प्रेमालापो की स्मृति से सम्बन्ध हैं। इन सब लोकवस्तुओं और लोकपरिस्थितियो के सम्बन्ध के दूर हो जाने पर निरपेक्ष शोकभाव कभी दुःखजनक नही हो सकता और काव्य मे साधारणीकृत विभावादि से व्यक्तिविशेषसम्बन्ध-रहित शोकसंस्कार के उदय पर तन्मयीभाव से सामाजिकात्मा के उसमे निमग्न होने पर उसमें कदापि दुःखजनकता नही रहती। अतः रसास्वादनकाल में साधारणीकृत रूप से उद्‌बुद्ध शोकादिभाव लोकसम्बन्धराहित्य के कारण दुःखजनक नही होते। उस समय आनन्दघन शोकादिप्रतीति का ही आस्वाद होता है। इस प्रतीति मे आनन्दघनता आनन्दरूप आत्मा के कारण है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने कहा है—'अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का। केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापार, तदुद्‌बोधने चाभिनयादिव्यापार।' (अ भा पृ २९२)

तात्पर्य यह है कि रसास्वादनवेला मे अभिनयादिव्यापार से उद्‌बुद्ध संस्काररूप साधारणीकृत रतिशोकादि भावों का भी सम्बन्ध रहता है। वे भाव सर्वविधलोकसम्बन्धातीत होने से सुखदुःखजनकता से तो रहित हैं किन्तु उस आनन्द मे स्वोपरंजन द्वारा वैचित्र्य पैदा करते हैं अतः वह शुद्ध आत्मप्रतीति न रहकर रत्यादि से चित्रित (शबलित) आत्मप्रतीति होती है। इसीलिए इस प्रतीति को ब्रह्मास्वाद न कहकर ब्रह्मास्वादसहोदर कहा जाता है। और इसी कारण सभी रसो मे आत्मप्रतीति के एकरूप होने पर भी उसमे वैचित्र्यजनक रत्यादिसंस्कार के कारण उसके शृङ्गार, हास्य, करुण आदि विभिन्न नाम भी हो गये हैं। आनन्द-घनप्रतीति या संवेदन मे वैचित्र्य पैदा करने वाले भाव रत्यादि ९ हैं। इसलिए तज्जनित वैचित्र्य के कारण वह प्रतीति नवधा विभक्त हो जाती है। इसलिए शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत व शान्त ये ९ ही रस हैं।

अभिनवगुप्त का कथन है कि लोक मे भी लौकिक शोक की चर्वणा करते हुए तन्मयीभाव के द्वारा उस शोक से सम्बन्धित स्व, पर आदि व्यक्तिविशेषों का, शोक के कारण मृतव्यक्ति आदि लोकवस्तुओं का तथा लौकिक परिस्थितियो का परिहार हो जाता है तब एक मात्र शोक की चर्वणा रह जाती है और इसी मे शोक करनेवाले व्यक्ति की हृदय विश्रान्ति हो जाती है। तथा उस समय उसे शोकजन्य दुःख का लेशमात्र भी भान नही होता और सुख का ही भान होता है, क्योंकि निर्विघ्न हृदयविश्रान्ति ही साख्य-शास्त्र के अनुसार सुख का स्वरूप है। इस प्रकार करुणरस मे एकघन शोक की चर्वणा जब सामाजिक को होती है तब शोकसंविच्चर्वणा मे सामाजिक की निर्विघ्न हृदयविश्रान्ति हो जाने से करुणादि रस भी आनन्दरूप ही हैं।[1]

१ तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधाना। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। यथा हि—एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिरन्तरायशून्य-विश्रान्तिशरीरत्वात् सुखस्य। (अ भा पृ २८२)

आचार्य भरतमुनि का भी रसो की आनन्दरूपता ही अभिप्रेत है। इसीलिए उन्होंने 'नानाभावाभिव्यजितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' (ना शा पृ २८९) इस उक्ति के द्वारा रसास्वादन से हर्ष (आनन्द) की प्राप्ति ही बतलायी है। यहाँ आदिपद से शोक का ग्रहण नही किन्तु रसास्वादोत्तरकालिक होने वाले धर्म, अर्थ काम आदि पुरुषार्थों मे वैदग्ध्यप्राप्ति का ग्रहण है। क्योंकि निर्मलचित्त वाले तथा भाव के साथ तन्मयीभाव वाले सामाजिको मे दु ख की सभावना ही नही है। दृष्टान्त मे नानाव्यजनसस्कृत अन्न को खाने वाले एकाग्रचित्त पुरुषो मे मधुरादिरसास्वादन से कभी दु ख नही होता किन्तु हर्ष ही होता है। दृष्टान्त मे हर्षादि मे आदि पद से हर्षजन्य पुष्टि, जीवन, बल, आरोग्य आदि का ही ग्रहण है, दु ख का नही। इसी प्रकार दार्ष्टान्त मे आदि पद से धर्मादि मे वैदग्ध्यप्राप्ति का ही ग्रहण है शोक का नही। इससे यह निष्कर्ष स्वत सिद्ध है कि रसास्वादन स हर्षादिप्राप्ति बतलाते हुए भरत रसो की आनन्दरूपता ही स्वीकार करते हैं।

अभिनवभारती के प्रथम, द्वितीय व षष्ठ अध्याय के हिन्दी व्याख्याकार आचार्य विश्वेश्वर ने 'योऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु खसमन्वित । सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ।।' (ना शा प्र अ का ११९) की व्याख्या मे यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि अभिनव रसो को सुखदु खोभयात्मक मानते हैं न कि एकान्तत सुखात्मक। इसीलिये उन्होने उपयुक्त कारिका की व्याख्या मे चर्वणीय अर्थ रत्यादिभावो को 'सुखदु खविचित्रण समनुगत सोऽर्थ । न तु तदेकात्मा' (अ भा पृ ४३) मे सुखदु खोभयात्मक कहा है और एकान्तत सुखात्मकता व दु खात्मकता का निषेध किया है। तथा आगे इसी का स्पष्टीकरण करते हुए रति, हास, उत्साह तथा विस्मय भावो को सुखस्वभाव और क्रोध, भय, शोक, जुगुप्सा भावो को दु खरूप कहा है।[1]

किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह सिद्ध नही होता। क्योंकि अभिनव ने रत्यादि चार भावो की सुखरूपता तथा क्रोधादि चार भावो की दु खरूपता का प्रतिपादन कर 'एव लौकिका ये सुखदु खात्मानो भावा.' इस उक्ति के द्वारा लौकिक रत्यादि भावो को सुखात्मक व दु खात्मक बतलाया है। किन्तु साधारणीकरण द्वारा लोकसम्बन्धातीत अलौकिक सस्काररूप रत्यादि भावो को उभयात्मक नही कहा है। लोकसम्बद्ध अतएव लौकिक रत्यादि भावो की सुखात्मकता तथा क्रोधादि भावो की दु खात्मकता तो लोकदृष्टि के अनुसार सभी को अभिप्रेत है। प्रश्न तो साधारणीकृत अत एव लोकसम्बन्धातीत अतएव अलौकिक, सहृदय द्वारा चर्वणीय सस्काररूप रत्यादिभावो का है। उनकी चर्वणा तो सर्वथा आनन्दरूप ही है। इसलिए उसने लौकिकभावो को नाट्य नही बतलाया है किन्तु आङ्गिकादि अभिनयप्रक्रिया से प्रत्यक्षकल्प बने हुए अलौकिक रत्यादिभावो को नाट्य कहा

१ अ भा पृ ४३

है। यह बात 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' इस विशेषण से व्यक्त कर दी है। अर्थात लौकिक सुखदु ख-स्वभाव रत्यादि ही आङ्गिकादि अभिनयप्रक्रिया के द्वारा लोकसम्बन्ध का अतिक्रमण कर साधारणीभाव को प्राप्त होकर अलौकिक और आस्वाद्य बनता है तब वह नाट्य अर्थात् रस कहलाता है। ये आङ्गिकादि अभिनय ही लौकिक सुखदु खात्मक रत्यादि भावो को साधारणीकरणप्रक्रिया द्वारा लोक-सम्बन्ध से अतीत अलौकिक दशा में पहुँचाकर तथा आस्वादयोग्य बनाकर उन्हें शृङ्गारादिरसाभिमुख बनाते हैं। अत उन्हें लोक व शास्त्र में अप्रसिद्ध अभिनय शब्द से व्यपदिष्ट किया गया है। अभिनवगुप्त ने 'अङ्गाद्यभिनयोपेत' की दूसरी व्याख्या भी की है—अर्थात् यहाँ अङ्गशब्द स्थायिभावो के अङ्गभूत व्यभिचारि-भावो का बोधक है। आदि-शब्द विभावों का बोधक है तथा अभिनयशब्द अनुभावो का बोधक है। ये तीनो लौकिक सुखदु खात्मक रत्यादिभावों को साधारणतापादन द्वारा शृङ्गारादि-रसाभिमुखताप्राप्ति के योग्य बनाने वाले हैं अत इन्हे अभिनय कहा है। जैसा कि 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति' इस सूत्र के द्वारा बतलाया गया है। इन्ही के द्वारा लौकिक रत्यादि स्थायिभाव साधारण व अलौकिक बन कर सामाजिक के ज्ञानदर्पण पर सक्रान्त होते हैं तब वे रसनाप्रतीति का विषय बन कर रस कहलाते हैं। यही नाट्य है।[1]

यह नाट्यरूप अर्थ रसास्वादन के अनन्तर अलौकिकता से हटकर पुन लौकिक बन जाता है तब सुखदु खरूप फल से युक्त होता है और तदनुसार ही हानोपादानवुद्धि का विषय भी बनता है। किन्तु यह सुखदु खरूपफलयुक्तता रसास्वादन के बाद की है। इसीलिए 'सुखदु खसमन्वित' कहा है। अर्थात सुख-दु खरूप फलो से युक्तता 'अनु' रसास्वादनानन्तर की स्थिति है। क्योकि सुखदु ख-रूप फल का सम्बन्ध रत्यादिभावो के रसास्वादनानन्तर लौकिक स्थिति में आने पर होता है।[2]

इस सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि अभिनव रत्यादिभावो मे सुखदु खात्मकता लोकस्थिति मे मानता है, न कि साधारणीकरण द्वारा अलौकिकस्थित्यापन्न रसास्वाददशा में।

रसों के सुखदु खोभयात्मकतावादी आचार्य

रसो को सुखदु खोभयात्मक मानने वालों की एक परम्परा है जिनमें सांख्य-वादी, भोज, तथा रामचन्द्र गुणचन्द्र हैं, जिन्होंने स्पष्ट रूप से रसों की सुखदुःखो-भयात्मकता का कथन कर ही दिया है। जैसे—

'रसा सुखदु खावस्थारूपा।' भोज—(शृ प्र० २ भाग पृ ३६९)
'सांख्यदृशा सुखदु खस्वभावो रस।' सांख्यवादी (अ भा पृ २७६)

---

१. अ भा पृ ४४
२ अ भा पृ ४५

'स्थायी भाव श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभि. ।
स्पष्टानुभावनिश्चेय सुखदु खात्मको रस ।।'
(ना द तृ वि का १०९ रामचन्द्र गुणचन्द्र)

रसो की एकान्तत आनन्दरूपता तथा सुखदु खोभयात्मकता मानने वालो के लिए एक प्रकार की कसौटी की कल्पना भारतीय साहित्यशास्त्र के लेखक श्रीगणेश त्र्यम्बक देशपाण्ड ने निश्चित की है कि जो उपचित लौकिक स्थायिभावो को रस मानते हैं वे रसो को सुखदु खोभयात्मक मानने वाले हैं। क्योकि लोक मे रत्यादि कतिपय स्थायिभाव सुखात्मक हैं तथा कुछ क्रोधादि स्थायिभाव दु खात्मक हैं जिसका निरूपण अभिनवभारती मे अभिनव गुप्त ने—

'योऽय स्वभावो लोकस्य सुखदु खसमन्वित ।
सोऽङ्गाद्यभिनयोपेतो नाट्यमित्यभिधीयते ।।' (ना शा प्र अ ११६ का)

की व्याख्या मे किया है। अत उपचित स्थायिभावरूप रस भी सुखदु खोभयात्मक होंगे। *किन्तु यह मानदण्ड उचित प्रतीत नही होता। क्योकि दण्डी, वामन, भट्टलोल्लट* आदि भी उपचित स्थायिभाव को रस मानने वाले हैं किन्तु वे रसो को सुखदु खोभयात्मक नही मानते। जैसे श्री शङ्कुकने रत्यनुकरण को रस माना है। अत वह भी एक प्रकार से रत्यादि स्थायिभाव को ही रस मानने वाला है, क्योकि रति का अनुकरण अन्ततोगत्वा तो रति के समान ही है। फिर भी वह रस को सुखदु खोभयात्मक न मानकर सुखात्मक ही मानता है। यह अभिनवभारती के निम्न सदर्भ से सिद्ध है—'ये तु रत्याद्यनुकरणरूप रसमाहु । अय चोदयन्ति शोक कथ सुखहेतुरिति। परिहरन्ति च अस्ति कोऽपि नाट्यगताना विशेष इति।" (अ भा पृ २९१) अर्थात् रत्यादि स्थायिभावो का अनुकरण ही रस है। ऐसा मानने पर शोक स्थायिभाव के लोक मे दु खरूप होने से उसका अनुकरणरूप करुणरस सुखजनक किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान करते हुए कहा है कि चाहे शोक लोक म दु खजनक हो किन्तु नटगत अभिनयात्मक विशेषताओ के कारण दु खजनक शोक का अनुकरणरूप रस नाट्य मे सुख का ही कारण है। यदि शङ्कुक रसा को सुखदु खोभयात्मक मानते तो यह प्रश्न और उत्तर असङ्गत होता।

भामह, दण्डी व भट्टलोल्लट उपचित लौकिक स्थायिभाव को रस मानत हुए भी उसे आनन्दजनक ही स्वीकार करते हैं। यह तथ्य अभिनवभारती के निम्नाङ्कित उद्धरण स सिद्ध होता है—'अन्ये त्वादिशब्देन शोकादीनामत्र सग्रह । स च न युक्त । सामाजिकाना हर्षैकफल हि नाट्य न शोकादिफलम्। तथात्वे निमित्ताभावात्तत्परिहारप्रसगाच्चेति मन्यमाना 'हर्षाश्चाधिगच्छन्ति' इति पठन्ति।' (अ भा पृ २८९)। तात्पर्य यह है कि नानाभावो से प्रतीत वाचिकादि अभिनया के कारण प्रत्यक्षवत् बने हुए स्थायिभावो का निर्मल व समाहित चित्त वाले सामाजिक आस्वादन करते हैं और उससे उनको हर्षादि की प्राप्ति होती है। किन्तु हर्षादि कहने पर आदिपद से शोकादि का ग्रहण होगा। और नाट्य का फल शोकप्राप्ति

हो नहीं सकता, क्योंकि उसका फल केवल हर्ष है अतः 'हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति' के स्थान में 'हर्षांश्चाधिगच्छन्ति' ऐसा पाठ मानते हैं। इसमें यह सिद्ध है कि दण्डी, भट्टलोल्लट आदि भी रत्यादि के आस्वादन का फल सामाजिकों में हर्ष (सुख) की प्राप्ति ही मानते हैं न कि दुःख की प्राप्ति।

इसी प्रकार भावप्रकाशनकार शारदातनय ने भी परिपुष्ट स्थायिभाव को रस माना है।[1] फिर भी उन्हें सुखदुःखोभयात्मक न मानकर उन्हें आह्लादजनक ही स्वीकार करता है।[2]

दशरूपककार धनञ्जय भी—

'विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वाद्यत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥ (दश. ४ प्रकाश का १)

वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः॥ (दश. ४ प्रकाश का. ३७)

इन कारिकाओं के द्वारा कहीं पर शब्दवाच्य और कहीं पर प्रतीयमान रत्यादि स्थायिभाव को रस स्वीकार करता हुआ भी उसे आनन्दरूप ही मान रहा है न कि सुखदु खोभयात्मक। इसीलिए प्रारम्भ में ही उन्होंने—

'आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।' (दश. १ प्रकाश का. ६)

इस उक्ति के द्वारा रूपकों को आनन्दनिष्यन्दी कहा है।

उपर्युक्त सन्दर्भ में सिद्ध है कि उपचित, परिपोषित या उत्कर्ष-प्राप्त स्थायिभाव को मानने वाले बहुत से आचार्य रस को आनन्दरूप या आनान्दजनक मान रहे हैं। अतः यह निष्कर्ष निर्धारित करना कि स्थायिभाव को रस मानने वालों की परम्परा रस को सुखदुःखोभयात्मक मानने वाली है, समीचीन प्रतीत नहीं

---

१. (क) विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः॥ (भावप्रकाशन २ अध्याय)
(ख) विकारो मानसो यस्तु बाह्यार्थालम्बनात्मकः।
विभावाद्याहितोत्कर्षो रस इत्युच्यते बुधैः॥ (भावप्रकाशन २ अध्याय)
(ग) उद्दीपिता विभावैस्तैरनुभावैश्च पोषिता।
भावैश्च सात्त्विकैर्योग्यसंसर्गैर्व्यभिचारिभिः।
चित्रिताः स्थायिनो भावा रसोपादानभूमयः॥ (भावप्रकाशन २ अध्याय)

२. (क) मनसो ह्लादजननः स्वादो रस इति स्मृतः। (भावप्रकाशन २ अध्याय)
(ख) एवं मद्गुल्योऽन्योन्यं देशकालगुणादिभिः।
शृङ्गाराद्या मदन्याना भवन्ति ह्लादना यतः।
तस्मात् सामाजिकैः स्वाद्या रसवाच्या भवन्ति ते॥ (भावप्रकाशन २ अध्याय)

होती। जो रस को सुखदुःखोभयात्मक मानते हैं उन्होंने अपने रसविवेचन में उसका स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि रस सुखदुःखस्वभाव है। अतः इनसे भिन्न आचार्य चाहे परिपुष्ट लौकिक स्थायिभाव को रस मानने वाले हों या विभावादि से साधारणीकृत अतएव सर्वविधविशेषताओं से परिहृत अलौकिक रत्यादि को रस मानते हों, सभी रस को सुखात्मक मानने से आनन्दवादी हैं।

रस से आनन्द ही प्राप्त होता है इस तथ्य को 'रसो वै स.। रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति' (तै उ २ वल्ली ७ अनुवाक) यह तैत्तिरीय श्रुति भी प्रमाणित कर रही है। और आनन्दप्राप्ति के लिए ही रसिकों की काव्य के अध्ययन व नाट्यदर्शन में प्रवृत्ति होती है। इसलिए मम्मट ने भी—

'काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥' (का. प्र १ उल्लास का २)

में काव्य के प्रयोजनों का निर्देश करते हुए रसास्वादनसमुद्भूतविगलितवेद्यान्तर आनन्द को ही काव्य का सकलमौलिभूत प्रयोजन बतलाया है। अत. रस की आनन्दरूपता ही प्रामाणिक प्रतीत होती है।

रस और आनन्द

रस से ही आनन्द की प्राप्ति सहृदयों को होती है, यह सिद्धान्त आचार्य भरत से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ तक सभी को मान्य है। आचार्य भरत ने 'नानाव्यंजनसस्कृतमन्न भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति, इति सुमनसः पुरुषाः इत्यभिख्याताः, तथा नानाभावाभिनयव्यजितान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति हर्षादीश्चाधिगच्छन्तीति प्रेक्षकाः सुमनस. इत्यभिख्याताः' अर्थात् जैसे नाना व्यंजनों से सस्कृत अन्न को खाने वाले पुरुष षाडव मधुरादि रसों का आस्वादन करते हैं और आस्वादजन्य हर्ष, तृप्ति आदि का अनुभव करते हैं उसी प्रकार विभाव अनुभाव आदि नानाभावों और वाचिक, आंगिक, सात्त्विक, आहार्य अभिनयों से व्यक्त स्थायिभावों का सहृदय आस्वादन करते हैं और उसके द्वारा हर्ष, आनन्द आदि को प्राप्त करते हैं। इस उक्ति के द्वारा रसास्वादन से आनन्द की प्राप्ति बतलाई है।

आनन्दवर्धन ने भी 'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्' इस उक्ति के द्वारा सहृदयमनःप्रीतिरूप आनन्द को ही रसादि ध्वनि का प्रयोजन बतलाया है। और वस्तु, अलंकार, रसादि रूप से भिन्न त्रिविध ध्वनि में रसादि ध्वनि[1] को ही वे

---

१. (क) प्रतीयमानस्य अन्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैव उपलक्षण प्राधान्यात्। (ध्वन्यालोक-प्रथमोद्योत पृ. ८६)
   (ख) रस एव वस्तुत आत्मा, वस्त्वलङ्कारध्वनी तु सर्वथा रस प्रति पर्यवस्येते। (लोचन-प्रथमोद्योत पृ. ८५)
   (ग) व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन् विविधे सम्भवत्यपि।
   रसादिमय एकस्मिन् कविः स्यादवधानवान् ॥ (ध्वन्यालोक ४-५)

प्रधान मानते हैं अतः यह आनन्द वस्तुतः रस का ही प्रयोजन है यह उनको भी अभिप्रेत है।

आचार्य अभिनवगुप्त भी—

धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्ति प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥

इस कारिका द्वारा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष तथा कलाओं में कुशलता एवं कीर्ति एवं प्रीति को सत्काव्य का प्रयोजन बतलाकर उपर्युक्त प्रयोजनों[1] में आनन्द रूप प्रीति को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन मानते हैं। केवल चतुर्वर्गादि-व्युत्पत्ति को प्रयोजन मानने पर प्रभुसम्मित उपदेश प्रदान करने वाले शब्दप्रधान वेदादिशास्त्रों से, हितप्राप्ति व अहितपरिहाररूप मित्रसम्मित उपदेश प्रदान करने वाले अर्थ-प्रधान इतिहास-पुराणादि शास्त्रों से, कान्तासम्मित उपदेशप्रधान इस काव्यशास्त्र की क्या विशेषता होगी? अतः काव्य का प्रधान प्रयोजन आनन्द ही है। धर्मार्थ-काममोक्षरूप चतुर्वर्गव्युत्पत्ति में भी अन्तिम प्रयोजन मोक्ष है और वह निरतिशय आनन्दरूप है अतः उसका भी तात्पर्य या पर्यवसान आनन्द में ही है। इस सन्दर्भ के द्वारा काव्य का प्रधान प्रयोजन आनन्द ही बतलाया है।

काव्य द्वारा उस आनन्द की प्राप्ति रसास्वादन द्वारा ही होती है। इसी तथ्य को मम्मट ने काव्यप्रकाश में[2] बतलाया है। धनञ्जय व धनिक भी[3] काव्य का प्रयोजन आत्मानन्दोद्भूति को ही बतलाते हैं। इतना ही नहीं दशरूपक के प्रारम्भ में भी—

आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु
व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धिः।

इस पद्यार्ध के द्वारा रूपकों का प्रधान प्रयोजन आनन्द को ही उन्होंने बतलाया है और वह प्रयोजन रसास्वाद द्वारा ही प्राप्त होता है जैसाकि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है। इसी तथ्य को धनिक ने 'तदुद्भूतिनिमित्तत्व च विभावादि-संसृष्टस्य स्थायिनः एव जायते' इस वचन के द्वारा व्यक्त किया है।

---

१ 'तथापि तत्र प्रीतिरेव प्रधानम्। अन्यथा प्रभुसम्मितेभ्यो वेदादिभ्यो, मित्रसम्मितेभ्यश्च इतिहासादिभ्यो व्युत्पत्तिहेतुभ्यः कोऽस्य काव्यरूपस्य व्युत्पत्तिहेतोर्जायासम्मितत्वलक्षणो विशेष इति प्राधान्येन आनन्द एवोक्तः। चतुर्वर्गव्युत्पत्तेरपि च आनन्द एव पार्यन्तिकं फलम्।' (ध्वन्यालोकलोचन पृ ४०, ४१)

२ 'सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरमानन्दमिति।'
—काव्यप्रकाश, प्रथम उल्लास।

३ काव्यबन्धानां च स्वसंवेद्यातिशयकाम्या निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपादनीय-पादतया प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेन अवधार्यते।
(धनिक, द० रू० पृ २४७, २४८)

आचार्य कुन्तक भी काव्यरसास्वादजन्य चमत्कार को ही प्रधान मानते हैं। चमत्कार पद से उनको आनन्द ही अभिप्रेत है, इसलिए उन्होंने स्वय 'अन्तश्चमत्कारो वितन्यते'[1] की व्याख्या करते हुए 'आह्लाद पुन पुन क्रियते' यह लिखा है। कुन्तक ने—

शब्दार्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥ (व. जी. १-५)

इस पद्य मे 'तद्विदाह्लादकारिणि बन्धे' इस उक्ति से काव्य को सहृदयो के आह्लाद का कारण बतलाते हुए आह्लादरूप आनन्द या चमत्कार को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन माना है। और काव्य मे वह आनन्द रसास्वाद द्वारा ही प्राप्त होता है इस बात को भी आचार्य कुन्तक ने—

निरन्तररसोद्गारगर्भसन्दर्भनिर्भरा।
गिरः कवीनां जीवन्ति न कथामात्रमाश्रिता॥ (व जी. ४-११)

इस कारिका के द्वारा निरन्तर रसयुक्त कवि-वचनो की श्रेष्ठता बतलाते हुए सिद्ध किया है। क्योकि रसयुक्त कविवचन ही उस परम प्रयोजन को सिद्ध करने मे समर्थ होते हैं। मम्मट ने भी आरम्भ मे, मगलाचरण मे ही—

नियतिकृतनियमरहिता ह्लादैकमयीमनन्यपरतन्त्राम्।
नवरसरुचिरा निर्मितिमादधती भारती कवेर्जयति॥

इस उक्ति के द्वारा कविवाणी का प्रयोजन एकमात्र आनन्द बतलाया है। और वह भी रसास्वादन के द्वारा ही प्राप्त होता है इस तथ्य की अभिव्यक्ति 'नवरसरुचिराम्' इस विशेषण के द्वारा की है। आगे काव्यप्रयोजनो का निरूपण करते हुए 'सद्य परनिर्वृति' रूप प्रयोजन की व्याख्या करने हुए 'सकलप्रयोजनमौलिभूत समनन्तरमेव रसास्वादनसमुद्भूत विगलितवेद्यान्तरमानन्द' इस वचन के द्वारा आनन्द को ही काव्य का प्रधान प्रयोजन माना है और वह प्रयोजन रसास्वाद से ही प्राप्त होता है, यह भी स्पष्ट बता दिया है।

आचार्य हेमचन्द्र ने भी रसास्वादजन्य प्रीतिरूप आनन्द को परमप्रयोजन बतलाते हुए वह आनन्द रसास्वाद से उत्पन्न होता है इसी बात को सिद्ध किया है।[2]

अग्निपुराण मे भी परब्रह्म के स्वाभाविक आनन्दरूप की अभिव्यक्ति कदाचित् ही होती है और परब्रह्म के सहजानन्द की अभिव्यक्ति चैतन्य, चमत्कार

---

१. चतुर्वर्गफलास्वादमप्यतिक्रम्य तद्विदाम्।
काव्यामृतरसेनान्तश्चमत्कारो वितन्यते॥ (व जी. १-११)।

२ सद्यो रसास्वादजन्मा निरस्तवेद्यान्तरा ब्रह्मास्वादसदृशी प्रीतिरानन्द।
इद सर्वप्रयोजनोपनिषद्भूत कविसहृदययो प्रयोजनम्। (हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन पृ ३)

या रस कहलाती है—यह कहा है। इससे यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि परब्रह्म के सहज आनन्द की अभिव्यक्तिरूप क्रिया रस कहलाती है और रसात्मक अभिव्यक्ति-क्रिया से ही आनन्द की प्रतीति होता है अन्यथा विद्यमान आनन्द भी रसात्मक अभिव्यक्ति के अभाव मे प्रतीत नही होता। अत यह सहज आनन्द रसात्मक व्यक्तिरूप क्रिया द्वारा व्यग्य होने से रसास्वादनजन्य ही है। भाव-प्रकाशनकार शारदातनय ने भी आनन्दरूप सुख की प्राप्ति रसभोगापरपर्याय रसास्वाद मे बतलाई है।[1] इसी प्रकार—

> इत्थमुक्तक्रमोपेत नाट्य सर्वरसाश्रयम्।
> प्रेक्षकस्य प्रयोक्तुश्च कवे. स्याद्भुक्तिमुक्तिदम्॥ (भावप्रकाशन पृष्ठ ३१३)

इस पद्य के द्वारा सर्वरसाश्रय नाट्य को कवि सहृदय व अभिनेता के लिए मुक्ति व भुक्ति का दाता बतलाते हुए रसास्वाद से ही भुक्ति-मुक्ति रूप लौकिक व अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, इस बात का स्पष्ट बतलाया है।

उपर्युक्त सदर्भ से यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि आनन्दप्राप्ति रसास्वादजन्य है इस बात को आचार्य भरत से लेकर उत्तरवर्ती सभी आलकारिक शब्दत या अर्थत स्वीकार करते हैं। इन सबका मूलभूत वह तैत्तिरीयोपनिषद-श्रुतिवाक्य है जिसमे स्पष्ट शब्दो मे रसप्राप्ति अर्थात् रसास्वाद से ही आनन्द की प्राप्ति बतलाई गई है—

'रसो वै स रस ह्येवाय लब्ध्वा आनन्दीभवति'।
(तैत्तिरीयोपनिषद् २ वल्ली ७ अनु)

रसास्वादजन्य यह आनन्द आत्मा की स्वरूपावस्थिति से प्राप्त होता है, क्योंकि वेदान्तसिद्धान्तानुसार ज्ञानरूप आत्मा ही आनन्दरूप है जैसाकि 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियो से सिद्ध है। यह आत्मानन्द अज्ञानादि-आवरण से तिरोहित रहता है अत आत्मा के शाश्वत होने पर भी सर्वदा उसका भान नही होता। किन्तु विशेष परिस्थितियों में जब चित्त एकाग्र होकर अन्तर्मुख होता है, तब उसका आवरण नष्ट हो जाता है और निरावरण चित्त उस आत्मानन्द का भान करता है। यहा तक कि विषयों के आस्वाद से जो आनन्दप्राप्ति होती है वह भी आत्मरूप ही है। अभीष्ट विषय केवल चित्तवृत्ति को निश्चल बनाकर उसे अन्तर्मुख करने मे ही कारण होते हैं। इसी कारण साधारण लोग इस आनन्द को विषय-जन्य समझते हैं। वस्तुत. वह आनन्द विषयो मे नही है किन्तु आत्मा मे ही है। इसका सम्यक्निरूपण विचारसागर के चतुर्थ तरग मे किया गया है।

शैवदर्शन भी इसी तथ्य को मानता है। जैसे—'स्वरूपस्य स्वात्मन. परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमयता दधदानन्द इत्युच्यते। तथाहि देहादि-

---

१ रसालम्बनभावानाम् उक्ता साधारणा गुणा।
सुखमूलमन्ते सर्वेऽपि भोगस्तत्सुखसाधनम्॥ (भाव-प्रकाशन ४-१)

संकोचकलुषापरिपूर्ण-प्रत्यगात्माहृभाव-निष्ठत्वेन शरीरस्य रिक्ततया क्षुधातुरस्य व्यतिरिक्तान्नाभिलापविवशीकृतमतेरात्मपरामर्शः अयमेकवनवृत्त्या यतो न सम्भवति, ततः अयमनानन्द इवाम्ने। सति आत्मपरामर्शमये स्वानन्दे यदा तु अन्नपरिपूर्णजठरता अस्य, तदा तद्रिक्ततोद्रेकरूपा तावदपूर्णता विनष्टा। संस्काररूपतया तु तदानीं यदभिलषणीय कान्तालिङ्गनादिपरामर्शनीय स्थित, तद्योगादपूर्णोऽयमानन्द इति परमानन्दः अय न भवति। सांसारिकश्च सर्व अस्य आनन्दो—व्यतिरिक्ताकाक्षाविच्छेदमयना सर्वात्मना न स्वीकुरुते इति ततोऽपि अपूर्ण एव। यस्तु आनन्दांशस्तत्र स्वात्मपरामर्शरूपतैव प्रयोजिकेति।

यत्रापि अत्यन्तमन्यथाभावमतिक्रम्य सुखमास्वाद्यते अर्जनादिमभाव्यमानविघ्नान्तरनिरासाद् वैषयिकानन्दविलक्षणशृङ्गारादौ नाट्यकाव्यादिविषये, तत्र वीतविघ्नत्वादेव असौ चर्वणा, रसना, निर्वृति, प्रतीति, प्रमातृताविश्रान्तिरेव। तत एव हृदयेन परामर्शलक्षणेन प्राधान्याद् व्यपदेश्या व्यवस्थितस्यापि प्रकाशभागस्य वेद्यविश्रान्तस्य अनादरणात् सहृदयतोच्यते इति निर्विघ्ना स्वादरूपाश्च रसनातद्गोचरीकार्याश्चित्तवृत्तयो नव रसा इत्ययमर्थोऽभिनवभारत्या नाट्यवेदविवृतौ व्युत्पादितोऽस्माभिरिति तत्कुतूहली तामेव अवलोकयेत्।[1]

उपर्युक्त सन्दर्भ मे विषयानन्द, रसानन्द व विशुद्ध आत्मानन्द इन त्रिविध आनन्दों का निरूपण है।

शैवदर्शन के अनुसार स्वरूपभूत आत्मा का परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशन ही आत्मपरामर्शरूप आनन्द है।

विषयानन्द मे आत्मव्यतिरिक्त विषय की अभिलाषा से वशीभूत बुद्धि वाले व्यक्ति का यह आत्मपरामर्श परिपूर्ण नहीं होता। अतः यह आनन्द अनानन्द के समान है, क्योंकि परिपूर्ण आत्मपरामर्श ही आनन्द होता है। जैसे क्षुधातुर पुरुष के शरीर के रिक्त होने से देहादिसंकोचरूप कालुष्य के कारण अपरिपूर्ण प्रत्यगात्मनिष्ठता रहती है। जहाँ उस व्यक्ति का उदर अन्न से परिपूर्ण हो जाता है वहाँ भी कान्तालिङ्गनादि विषयान्तर की इच्छा रहने से आत्मपरामर्श अपूर्ण ही रहता है परिपूर्ण नहीं। अत. यह आनन्द अपूर्ण होने से परमानन्द नहीं कहलाता। अपरिपूर्ण होने पर भी वहाँ जो आनन्दांश प्रतीत होता है वह स्वात्मपरामर्शरूप ही है।

रसानन्द में विषयानन्द की तरह अन्नकान्तालिङ्गनादि विषयार्जनादिरूप विघ्न के न होने से आत्मप्रतीति विघ्नरहित है। अतएव इस प्रतीति को, वीतविघ्ना होने से, प्रतीत्यन्तरों से भिन्न रसना, चर्वणा, निर्वृति, चमत्कार आदि शब्दों से व्यवहृत किया गया है। यहाँ आत्मरूपवेद्य मे विश्रान्त प्रकाशभाग का वेद्यान्तर से तिरस्कार नहीं है तथापि यहाँ भी हृदय की आत्मविश्रान्ति रत्यादि के संस्कारों

१. 'रसगगाधर का शास्त्रशास्त्रीय अध्ययन' से उद्धृत पृ.१७१।

से अनुविद्ध है, अतः शुद्ध आत्ममात्र मे विश्रान्त नही है। रत्यादि संस्कारों का अनुवेध होने से ही इसे ब्रह्मास्वादसहोदर कहा जाता है न कि ब्रह्मास्वादरूप।

किन्तु विशुद्ध ब्रह्मानन्द मे हृदय के विषयान्तरशून्य तथा उनके संस्कारों से शून्य आत्ममात्र मे विश्रान्त होने से उसे ब्रह्मानन्द कहा जाता है। तात्पर्य इसका यही है कि रस मे हृदय की परिपूर्ण एकघन विश्रान्ति होने से रसास्वाद परिपूर्ण आनन्दस्वरूप ही है। इसीलिये अभिनवगुप्त ने 'संवेदनमेवानन्दघन-मास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का। केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासना-व्यापार.। तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः' (ल. भा. पृ. २९२) यह कहा है।

उपर्युक्त रीति से रस के साथ आनन्द का अव्यवच्छिन्न सम्बन्ध है। अत-एव रस आनन्दस्वरूप है।

□□

रसस्वरूपनिरूपण

रससिद्धान्त के परिज्ञान के लिए उपयोगी कतिपय मौलिक तत्त्वो के विवेचन के बाद अब क्रमश विभिन्न आचार्यों के मतानुसार रससिद्धान्त का विवेचन प्रस्तुत किया जायगा। उपलब्ध रसविषयक ग्रन्थो के आधार पर आचार्य भरत का सर्वप्रथम स्थान है। अत सर्वप्रथम उन्ही के अनुसार रस का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्य भरत—

रस के विषय मे आचार्य भरत से भी पूर्व विचार प्रचलित था। और भरत से भी पूर्व कतिपय आचार्यों ने इस पर सभवत ग्रन्थ भी लिखे हो, जिनमे कुछ आचार्यों का तथा उनके विचारो का उल्लेख शारदातनय के भावप्रकाशन ग्रन्थ मे मिलता है। जैसे भरतवृद्ध[1] वासुकि[2] नारद[3] आदि का। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र मे भरत के द्वारा उद्धृत आनुवश्य श्लोको से भी इस बात का स्पष्ट अनुमान होता है। कोहल भी भरत से पूर्व नाट्याचार्य थे। इस तथ्य का उल्लेख—

'रसा भावा अभिनया धर्मा वृत्तिप्रवृत्तय।
सिद्धि. स्वरास्तथातोद्य गान रङ्गश्च सग्रह'॥' (ना शा अ ६ पृ २६३)

इस कारिका की व्याख्या मे 'अभिनयत्रय गीतातोद्ये चेति पञ्चाङ्ग नाट्यम्। अनेन तु श्लोकेन कोहलमतेनैकादशाङ्गत्वमुच्यते। न तु भरते' इस उक्ति के द्वारा अभिनवगुप्त ने किया है। स्वय आचार्य भरत ने भी शृङ्गारादि आठ रसो का नामोल्लेख करके ये आठ रस महात्मा द्रुहिणने बतलाये

---

१ तथा भरतवृद्धन कथित गद्यमीदृशम—यथा नानाप्रकारैर्व्यञ्जनोपधै पाकविशषैश्च सस्कृतानि मधुरादिरसानामन्यतमेनात्मना परिणमन्ति तदभोक्तृणा मनोभिस्तादृगात्मना स्वाद्यन्ते तथा नानाप्रकारैर्विभावादिभावैरभिनयै सह यथाङ्गमभिवर्धिता स्थायिनो भावा सामाजिकाना मनसि रसात्मना परिणमन्तस्तेषा तादात्विकमनोवृत्तिभेदभिन्नास्तद्रूपेण तं रस्यन्ते।' (भावप्रकाशन, अधिकरण २ पृ ३६)

२ नानाद्रव्यौषधै पाकैर्व्यंजन भाव्यते यथा।
एते भावा भावयन्ति रसानभिनयै सह।
इति वासुकिनाप्युक्तो भावेभ्यो रससभव ॥ (भावप्रकाशन, अधि २ पृ ३६-३७)

३ उत्पत्तिस्तु रसाना या पुरा वासुकिनोदिता।
नारदस्य मते सैषा प्रकारान्तरकल्पिता॥ (भावप्रकाशन, अधि २ पृ ४७)

हैं यह कह कर स्वपूर्ववर्ती द्रुहिण का उल्लेख किया है[1] जिससे उनका भी रसविषयक ग्रन्थ था इसका अनुमान होता है। किन्तु उन आचार्यों का कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिससे रसविषयक सिद्धान्त का स्पष्ट ज्ञान हो। इस विषय मे सर्वप्रथम ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र ही उपलब्ध है। इस के आधार पर रसविवेचन भिन्न भिन्न विद्वानो ने किया है। उन सब का मूल मुनि भरत का रसविवेचन है। अत सर्वप्रथम भरत के अनुसार ही रस का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

मुनि भरत का रसविषयक मूलसूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रस-निष्पत्ति' यह है। इस सूत्र मे विभावो अनुभावो तथा व्यभिचारिभावो के सयोग से रसनिष्पत्ति बतलाई है। किन्तु रसभावापत्ति किस तत्त्व को प्राप्त होती है, इसका उल्लेख इस सूत्र मे नही है। फिर भी इसको समझाने के लिए जिस दृष्टान्त का उपादान किया गया है उसके स्पष्टीकरणवाक्य मे विभावानुभावव्यभिचारियो की सम्यग्योजना से रसत्व को प्राप्त होने वाले तत्त्व का उल्लेख है। जैसे—

'को दृष्टान्तः। अत्राह—यथा हि नानाव्यजनौषधिद्रव्यसयोगाद्रस-निष्पत्ति। तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्ति। यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यंजनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्यायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति इति।' (ना शा पृ २८७, २८८)

इस वचन मे भरत ने स्पष्ट रूप मे स्यायिभाव को रसत्वप्राप्ति विभावादि के सयोग से बतलाई है। इस प्रकार रसविषयक मूल सूत्र मे स्थायिभाव का उल्लेख न होने पर भी दृष्टान्त के स्पष्टीकरणवाक्य मे स्पष्ट रूप से स्थायी का उल्लेख है। अत रसविषयक सूत्र मे भी स्थायी का अध्याहार करना चाहिए। ऐसा अभिप्राय रसविषयक सूत्र की व्याख्या करने वाले परवर्ती बहुत से विद्वानों का है। इसलिए भरत के परवर्ती भामह, दण्डी, उद्भट, लोल्लट, शकुक आदि रस-सूत्र के अनुसार रस की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए विभावादिसयोग द्वारा ज्ञात स्थायी भाव को रस बतलाते हैं। भरत नाट्यशास्त्र मे रसविषयक सूत्र की व्याख्या मे प्रस्तुत दृष्टान्तवाक्य मे यह स्पष्ट है कि स्थायी भाव का ही रसरूप में परिणाम होना है। आगे भी रसास्वादनप्रकार का प्रतिपादन करते हुए—'कथमास्वाद्यते रस। यथा हि नानाव्यजनसस्कृतमन्न भुजाना रसानास्वादयन्ति सुमनस. पुरुषा हर्षादीश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यजितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायि-भावानास्वादयन्ति सुमनस. प्रेक्षका. हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति।' (ना शा पृ २८८-२८९) इस वाक्य मे सहृदयो द्वारा क्रियमाण स्थायिभावास्वादन ही रस है यह कहा है। इसी प्रकार स्ववचन की पुष्टि के लिए भरत द्वारा उद्धृत—

भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधा.।
आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृता ॥ (भ ना शा अ ६ का. ३३)

---

1 शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानका।
वीभत्साद्भुतसज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसा स्मृता ॥ (भरतनाट्यशास्त्र ६ अध्याय का १५)
एते ह्यष्टौ रसा प्रोक्ता द्रुहिणेन महात्मना ॥ (भरतनाट्यशास्त्र ६ अध्याय का. १६)

इस आनुवश्य श्लोक में भी स्थायिभाव का ही आस्वादन बतलाया गया है। इस सन्दर्भ से ऐसा प्रतीत होता है कि उपचित, अनुमित या उत्कर्षप्राप्त स्थायिभाव रस है यह भरत को अभिप्रेत है। किन्तु सूक्ष्मदृष्टि से विचार करने पर यह धारणा निर्मूल सिद्ध होती है। इस विषय में निम्नांकित तर्क विचारणीय हैं—

१—जिन स्थायिभावों का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं उन्हें 'नानाभावाभिनयव्यंजितान्' इस विशेषण के द्वारा विभावों, अनुभावों तथा व्यभिचारिभावों से व्यंजित बतलाया गया है। किन्तु लौकिक रत्यादि भाव जोकि नायक में रहते हैं तथा जिनका नाट्य में अभिनयादि द्वारा प्रदर्शन किया जाता है वे तो कारण, कार्य व सहकारी से उत्पन्न होते हैं न कि व्यक्त होते हैं। जैसा कि भट्ट लोल्लट ने कहा है—'विभावैर्ललनोद्यानादिभि. कारणैः रत्यादिको भावो जनितः।' (काव्यप्रकाश ४ उल्लास) 'भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेव व्याचख्यु-विभावादिभि संयोगोऽर्थात् स्थानयिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावाश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्।' (अ भा. पृ २७२) विभावादि से अभिव्यक्ति तो सहृदयहृदय में सस्काररूप से विद्यमान रत्यादिभावों की होती है और वे स्थायी नहीं हैं क्योंकि विभावादिचर्वणाकाल में ही उनकी अभिव्यक्ति होती है, पूर्वापरकाल में नहीं। अतः नायकादिनिष्ठ लौकिक स्थायिभावों का यहाँ प्रेक्षकों द्वारा आस्वाद भरत को अभिप्रेत नहीं है किन्तु सहृदयहृदयनिष्ठ सस्काररूप से विद्यमान रत्यादिभावों का आस्वाद ही अभिप्रेत है।

२—दूसरा तर्क यह है कि सहृदय अपने रत्यादि का ही आस्वादन कर सकता है नायकादिनिष्ठ परकीय रत्यादि भाव का नहीं। क्योंकि 'भावाभिनयसबद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधा। आस्वादयन्ति मनसा' इस कारिका के द्वारा भरत ने मन से रत्यादि का आस्वाद बतलाया है और सहृदयों के मन से स्वनिष्ठ रत्यादि का ही सम्बन्ध है न कि परकीय रत्यादि का।

३—तीसरा तर्क यह है कि रत्यादि का आस्वादन करने वाले प्रेक्षकों को 'सुमनसः' इस विशेषण के द्वारा निर्मलचित्त वाले सहृदय कहा गया है। और सहृदय वे होते हैं जिनके शुद्ध अन्तःकरण में वर्णनीयभाव के साथ तन्मयीभाव की योग्यता है।[1] वर्णनीयभाव के साथ तन्मयता हो जाने पर वह भाव उस सहृदय के भाव के साथ अभिन्न हो जाता है। और यह अभेद साधारणीकरण द्वारा उस भाव में देशकालव्यक्तिविशेषता का परिहार होने पर हो होता है। इन विशेषताओं का परिहार हो जाने पर उसमें स्थायिता का भी परिहार हो जाता है जैसा कि

---

१. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।' (ध्वन्यालोकलोचन प्रथम उद्योत पृ. ३८, ३९)

अभी द्वितीय तर्क का प्रतिपादन करते हुए बतलाया जा चुका है। इसी बात का स्पष्टीकरण 'भावाभिनयसम्बद्धान्' इत्यादि कारिका की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने किया है।[1]

४—चौथा तर्क है कि इन रत्यादि भावों के आस्वादन से सामाजिकों को हर्ष की प्राप्ति बतलाई है। हर्षप्राप्ति साधारणीकृत, सहृदयहृदय में संस्काररूप से विद्यमान अलौकिक रत्यादि के आस्वादन से ही हो सकती है। लौकिक स्थायि-भावों के आस्वादन से तो उन रत्यादि से लोकानुसार सुख व दुःख दोनों की ही प्राप्ति होगी न कि एकान्ततः सुख की। क्योंकि लोक में शोकस्थायिभाव के द्वारा दुःख की प्राप्ति ही शोकाकुल व्यक्ति में अनुभवसिद्ध है। और यदि नाट्य में शोक स्थायिभाव के आस्वादन से दुःखप्राप्ति होगी तो किसी भी सहृदय की शोकप्रधान करुणरस के नाट्य के दर्शन में प्रवृत्ति नहीं होगी। उपर्युक्त तर्कों से यह निश्चित है कि भरत को साधारणीकृत अतएव अलौकिक रत्यादि का आस्वादन अभिप्रेत है न कि लौकिक अर्थात् नायकादिव्यक्तिविशेषनिष्ठ स्थायिभावों का।

अब प्रश्न यह अवशिष्ट रहता है कि जब भरत को प्रेक्षकों द्वारा स्थायि-भावों का आस्वादन अभिप्रेत नहीं है तो 'स्थायिभावानास्वादयन्ति' इस उक्ति के द्वारा स्थायिभावों का आस्वाद क्यों बतलाया? इसका समाधान यही है कि सामाजिक, विभावादि से व्यंजित, वाचिकाद्यभिनयप्रक्रियारूढ, साधारणीकृत जिन अलौकिक रत्यादि का आस्वादन करते हैं वे रत्यादि लौकिक स्थायी की सजातीय चित्तवृत्तियां हैं। अतः 'स्थायिभावान्' का अर्थ है—लौकिक स्थायिसदृश सहृदय की चित्तवृत्तियां। इसीलिए अभिनवगुप्त ने 'स्थायिभावान्' की व्याख्या करते हुए कहा है—'लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते।' (अ. भा. पृ २८८)

भरत के उत्तरवर्ती विद्वानों ने रस की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए 'स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' इत्यादि भरतवाक्यों में 'स्थायी' पद से स्थूल दृष्टि से लौकिक स्थायी भाव का ग्रहण किया। अतः उन्होंने उपचित या उत्कर्षप्राप्त लौकिक स्थायिभावों को ही रस माना। तथा जिन्होंने सूक्ष्म दृष्टि को अपनाते हुए उपर्युक्त रीति से स्थायी पद से स्थायिसजातीय, साधारणीकृत, अलौकिक एवं सहृदयहृदय में वर्तमान रत्यादिभावों का ग्रहण किया उन्होंने रस की अलौकिक व्याख्या प्रस्तुत की। उन्हीं उभयप्रकार के विद्वानों के रसविषयक मतों का क्रमशः विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

उपचित स्थायिभाव को रस मानने वाले आचार्य

भरत के बाद नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार भट्टलोल्लट ने रसविषयक विचारधारा को सुव्यवस्थित रीति से प्रस्तुत किया है किन्तु उनसे पूर्व भी भामह,

1. 'भावा अत्र [illegible] विभावव्यभिचारिणः। अभिनया अनुभावाः। इह पृथग् वचनं प्राधान्यात्। नैवं मन्तव्यं बहुधा हृदयसंवादवशेन तन्मयीभावादानन्द-[illegible] स्थायिनः।' (अभि भा पृ [illegible])

दण्डी, वामन तथा उद्भट ने भी सामान्यत रसविषयक सामान्य विचार व्यक्त किये हैं। उनका भी सक्षेप से निरूपण आवश्यक है, इसी दृष्टि से इन्हे यहां प्रदर्शित किया जा रहा है। इनमे भामह, दण्डी, उद्भट ने रसवदलकार या रसालकार नाम देकर रसकी गणना अलकारो मे की है। ये तीनो आचार्य प्रधानतया अलकारवादी माने जाते हैं और ये अलकार को ही काव्य का जीवन मानते हैं। अत इन्हाने रस को भी अलकार माना है।

भामह

भामह ने काव्य को रसवदलकार से युक्त माना है। रसवद् का लक्षण उन्होने निम्न किया है—

> रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम्।
> देवी समागमच्छद्मसरकरिप्पतिरोहिते ।। का अ १, का ६

जहां शृगारादि रसा की स्पष्ट प्रतीति होती है उसे वे रसवदलकार मानते हैं। जैसे छद्मवेषधारी शिव के तिरोहित न होने पर अर्थात् उनके रहते ही पार्वती का उनसे मिलन हो गया। वहा शिव-पार्वती-सगम द्वारा शृगार रस की स्पष्ट प्रतीति है। अत. यह रसवदलकार है। यहां यद्यपि विभावादि मे से केवल विभाव का निर्देश है तथापि 'समागमत्' शब्द से जिस सगम की प्रतीति हो रही है उससे उनके पारस्परिक प्रीत्यतिशयरूपी शृगार की स्पष्ट प्रतीति होनी है। अतः अनुभावादि का शब्दो द्वारा निर्देश न होने पर भी उनका आक्षेप हो जाने से शृगार की स्पष्टता मे कोई बाधा नही पहुचती। यह बात भामह ने "दर्शितस्पष्टशृगार" पद के द्वारा व्यक्त की है।

भामह के इस निरूपण से इतना स्पष्ट है कि वह रस की स्थिति नायक-नायिकारूप अनुकार्य मे मानता है जैसा कि लोल्लट मानते हैं। इसी प्रकार भाव को भी वह प्रेयोऽलकाररूप मानता है। जैसे—

> प्रयो गृहागत कृष्णमवादीत् विदुरो यथा।
> अद्य या मम गोविन्द जाता त्वयि गृहागते।
> कालेनैषा भवेत् प्रीतिस्तवैवागमनात्पुनः ।। का अ १, का ५

यहां पर कृष्ण के घर आने पर कृष्ण-विषयक प्रीति विदुर मे उत्पन्न हुई है और यह प्रीति ही प्रेयोऽलकार है। भामह के अनुसार रसादि की उत्पत्ति होती है। यह बात रसवदलकार व प्रेयोऽलकार के लक्षणो म क्रमशः "उदय" तथा "जाता" इन पदो के द्वारा स्पष्ट है।

दण्डी

दण्डी भी अलकारवादी आचार्य हैं। यद्यपि उन्होंने श्लेषादि दस शब्दगुणो की स्थिति काव्य मे मानी है और वैदर्भ्यादि मार्गों की सत्ता भी अगीकृत की है

तथापि वामन की तरह इन्होंने गुणो को काव्यत्वाधायक तत्त्व न मानकर अलकारो को ही माना है। दण्डी की रसविषयक चेतना भामह की अपेक्षा अधिक जागरूक है। उन्होंने रस व भाव को रसवत् व प्रेयोऽलकार रूप मानते हुए भी स्पष्ट तौर से शान्तवर्जित शृंगारादि ८ रसो की सत्ता स्वीकार की है और अलकारों को काव्य का आवश्यक तत्त्व मानते हुए भी उन्हें[1] रसनिषेक का साधन मानकर रस की अपेक्षा अन्य अलकारो को गौण स्थिति बतलाई है और रस को ही सहृदयो की आनन्दानुभूति का कारण माना है।[2]

दण्डी लोल्लट की तरह विभावादि से परिपुष्ट स्थायिभाव को रस मानते हैं। उनके शृंगारादि रसो के लक्षणो को देखने पर इनकी प्रतीति स्पष्ट हो जाती है। जैसे—

मृतेति प्रेत्य संगन्तु यया मे मरणं मतम्।
सैवावन्ती मया लब्धा कथमत्रैव जन्मनि ॥ का द. २, २८०

प्राक्प्रीतिर्दर्शिता सेयं रतिः शृंगारतां गता।
रूपबाहुल्ययोगेन तदिदं रसवद्वचः ॥ का द २, २८१

निगृह्य केशेष्वाकृष्टा कृष्णा येनाग्रतो मम।
सोऽयं दुःशासनः पापो लब्ध किं जीवति क्षणम् ॥ काव्यादर्श २, २८२

इत्यारुह्य परा कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः।
भीमस्य पश्यत शत्रुम् इत्येतद् रसवद्वच ॥ काव्यादर्श २, २८३

अजित्वा सार्णवामुर्वीमनिष्ट्वा विविधैर्मखैः।
अदत्वा चार्थमर्थिभ्यो भवेय पार्थिवः कथम ॥ काव्यादर्श २, २८४

इत्युत्साहः प्रकृष्टात्मा तिष्ठन् वीररसात्मना।
रसवत्त्व गिरामासा समर्थयितुमीश्वरः ॥ काव्यादर्श २, २८५

यस्याः कुसुमशय्यापि कोमलाङ्ग्या रुजाकरी।
साधिशेते कथं देवी हुताशनवतीं चिताम् ॥ काव्यादर्श २, २८६

इति कारुण्यमुद्रिक्तमलंकारतया स्थितम् ॥ काव्यादर्श २, २८७

उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट है कि दण्डी परिपुष्टस्थायिभावो को ही रस मानते हैं। इस तथ्य को अभिनव भारती मे भट्ट लोल्लट के मत का निरूपण करते हुए अभिनवगुप्त ने भी स्वीकार किया है—'चिरतनाना चायमेव पक्षः। तथाहि दण्डिना स्वालंकारलक्षणेऽभ्यधायि" "रतिः शृंगारतां गता। रूपबाहुल्ययोगेनेति।' 'इत्यारुह्य परा कोटिं क्रोधो रौद्रात्मतां गतः' इत्यादि च। (अ भा. पृ. २७२)

दण्डी भी भामह की तरह अनुकार्य मे ही रस की स्थिति मानते हैं। जैसे

१. काम सर्वोऽप्यलङ्कारो रसमर्थे निषिञ्चति। (काव्यादर्श प्र परि. का ६२)

२. येन माद्यन्ति धीमन्तो मधुनेव मधुव्रता। (काव्यादर्श प्र परि का ५१)

शत्रु को देखकर उत्कृष्ट कोटि को प्राप्त भीम का क्रोध ही रौद्र रस बनता है। दण्डी ने काव्य की रसवत्ता रसों के कारण ही मानी है। जैसे—

इह त्वष्टरसायत्ता रसवत्ता स्मृता गिराम् (काव्यादर्श २, २९२)

उद्भट

उद्भट ने यद्यपि नाट्यशास्त्र पर टीका लिखी है जिसका उल्लेख अभिनव भारती में यत्र तत्र उद्धृत 'इत्योद्भटाः' इत्यादि उक्तियों के द्वारा किया गया है। अतः उसमें 'विभावानुभावसचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' इस सूत्र का विशद विवेचन अवश्य किया होगा, किन्तु उस व्याख्या के उपलब्ध न होने से उद्भट के रस-विषयक विचारों के परिज्ञान का साधन अब एकमात्र काव्यालंकारसारसंग्रह तथा अन्य ग्रन्थकारों के द्वारा उद्धृत उनके वचन ही हैं। रसवत् काव्य, प्रेयस्वत् काव्य, ऊर्जस्वी काव्य, समाहित काव्य, इस प्रकार काव्य के भेद उनने किए हैं। उन्होंने प्रेयस्वत् व रसवत् काव्य का निरूपण निम्न रूप से किया है—

रत्यादिकाना भावानामनुभावादिसूचनैः।
यत्काव्य बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वद् उदाहृतम् ॥ का. सा. सं. ४, २

रसवद्दर्शितस्पष्टशृंगारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसंचारिविभावाभिनयास्पदम् ॥ का. सा. सं. ४,३

उपर्युक्त कारिकाओं से यह स्पष्ट हो जाता है कि उद्भट की रसविषयक विवेचना भामह व दण्डी की अपेक्षा अधिक उद्बुद्ध व आगे बढ़ी हुई थी। उद्भट ने भामह व दण्डी की तरह केवल प्रियतर आख्यान को प्रेयस्वत् काव्य नहीं माना अपितु रत्यादि भावों को, जिनकी सूचना अनुभावों तथा विभावों के द्वारा होती है, प्रेयस्वत् काव्य माना है। इसी प्रकार स्वशब्द, स्थायी, संचारी, विभाव तथा अनुभाव द्वारा रस का जहाँ स्पष्ट प्रदर्शन है उसे रसवत् अलंकार कह कर स्थाय्यादि-भावों द्वारा रस का प्रदर्शन बतलाया है। उद्भट की प्रेयस्वत्काव्यविषयक धारणा भरत के—

भावाभिनयनं कुर्याद् विभावानां निदर्शनैः।
तथैव चानुभावानां भावात् सिद्धिः प्रकीर्तिता ॥ (ना शा. २५,३८)

इस पद्य से मिलती जुलती है। अतएव उसके अति सन्निकट है। उद्भट की रसवत्-काव्यविषयक धारणा के विषय में भी यही बात है। वे रस को स्वशब्दास्पद, स्थायिभावास्पद संचारिभावास्पद, विभावास्पद व अभिनयास्पद (अनुभावास्पद) मानते हुए भरत के 'विभावानुभावसंचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' के अत्यन्त सन्निकट पहुँचे हुए हैं। इतना ही भेद है कि जब ध्वनिवादी आचार्य आनन्दवर्धनादि रत्यादि व रस को स्वशब्दवाच्य नहीं मानते तथा व्यंग्य मानते हैं, वहां उद्भट उन्हें स्वशब्दवाच्य मानकर अभिधेय भी मानते हैं। और रत्यादि भावों की यह अभिधेयता एक प्रकार

से दशरूपककार धनंजय ने भी मानी है। रस के स्वरूप का विवेचन करते हुए धनंजय ने—

> वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
> वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायिभावस्तथेतरः ॥ द रू ४

इस कारिका के द्वारा वाच्य रत्यादि को भी विभावादि के सम्बन्ध से रस माना है। व्यक्ति के कामक्रोधादि से आविष्ट होने पर अनुचित रूप में प्रवृत्त रसों और भावों का निबन्धन जहाँ है वह ऊर्जस्वी काव्य है।[1] संभवतः उद्भट का यह ऊर्जस्वी काव्य ही आगे जाकर रसाभास का मूल बना है।

वामन

वामन ने रीति[2] को काव्य की आत्मा माना है तथा विशिष्ट अर्थात् गुणालङ्कृत[3] पदरचना को रीति बतलाकर अलंकारों की अपेक्षा गुणों को ही काव्य-त्वाधायक तत्त्व माना है और इस प्रकार काव्य की आत्मा के विषय में अलंकारवादी भामह आदि की अपेक्षा नवीन दृष्टिकोण उपस्थित किया है। जहाँ अलंकारवादी भामह आदि अलंकारों को काव्य में विशेष महत्त्व प्रदान करते हैं वहाँ वामन ने गुणों को सर्वातिशय महत्त्व प्रदान किया। और गुणों का रस के साथ अव्यभिचारी सम्बन्ध माना। जैसा कि ध्वनिवादी आचार्यों ने आगे जाकर स्वीकार किया—

> "ये रसस्यांगिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः।
> उत्कर्षहेतवस्ते स्युः, अचलस्थितयो गुणाः ॥" (काव्यप्रकाश ८-१)

श्लेषादि दस शब्द गुणों की तरह उन्होंने काव्य में दस प्रकार के अर्थगुणों की भी सत्ता मानी है और शब्दगुणों तथा अर्थगुणों के नामों[4] को समान मानते हुए भी उनके लक्षणों में स्पष्ट भेद माना है। कान्तिनामक अर्थगुण का "दीप्तरसत्वं कान्तिः" यह लक्षण मानकर काव्य में रस का पूर्ण प्रकाश भी माना। किन्तु रस-स्वरूप के विषय में वे मौन ही रहे। अतः इस दृष्टि से वामन का कोई उल्लेखनीय स्थान नहीं है।

रुद्रट

काव्यालंकारकर्ता रुद्रट ने केवल शृंगारादि[5] ८ रसों से अतिरिक्त शान्त

---

१ मनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्। भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते।
का सा. स ४, ६

२ रीतिरात्मा काव्यस्य। का ल सू १, २, ६

३ विशिष्टा पदरचना रीतिः। का ल सू १, २, ७

४ ओजःप्रसादश्लेषसमतासमाधिमाधुर्यसौकुमार्योदारतार्थव्यक्तिकान्तयो बन्धगुणाः का अ सू ३ १ ४ 'त एव अर्थगुणाः का ३ २ १।"

५ शृंगारवीरकरुणा बीभत्सभयानकाद्भुता हास्यः।
रौद्रः शान्तः प्रेयानिति मन्तव्या रसाः सर्वे ॥ (काव्यालंकार सूत्र १२-३)

और प्रेयस्वान् को भी रस माना तथा रस को काव्य में[1] सर्वाधिक आनन्ददायी व आवश्यक तत्त्व स्वीकार किया। उन्होंने रस को केन्द्रबिन्दु मानकर उसके औचित्य के आधार पर ही अलंकार, गुण, रीति आदि के विवेचन का भी संकेत किया है।[2]

भट्ट लोल्लट

नाट्यशास्त्र के टीकाकार भट्टलोल्लटादि ने भरत के बाद रस के स्वरूप पर सुव्यवस्थित विचार प्रारम्भ किया क्योंकि भरत ने सूत्ररूप से रस के जिस स्वरूप का निरूपण किया था उसका विशद विवेचन करना इन टीकाकारों का प्रधान कर्त्तव्य था तथा रस के घटक, उत्पादक तथा ज्ञापक तत्त्व जिनका कि सूत्र में संक्षेप से निरूपण था उनकी स्पष्ट व्याख्या भी उनके लिए आवश्यक थी। अत आगे इन्हीं आचार्यों के मतानुसार रसस्वरूप का विवेचन उपस्थित किया जायेगा। किन्तु इन मतों का विवेचन करने से पूर्व इस बात की तरफ पाठकों का ध्यान आकृष्ट कर देना आवश्यक है कि रस का विवेचन केवल मनोवैज्ञानिक दृष्टि को अपनाने से ही पूर्णतया नहीं हो सकता। उसके लिए दार्शनिक दृष्टि को अपनाना भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उसके बिना रसस्वरूप का यथार्थ विवेचन नहीं बन सकता। अत बाद के टीकाकारों ने दोनों दृष्टियों को अपने समक्ष रखा। इनमें मनोवैज्ञानिक तत्त्वों, स्थायिभावों व व्यभिचारिभावों के समान होने पर भी टीकाकारों में रसस्वरूप के विषय में जो महान् मतभेद दृष्टिगोचर होता है, उसका एकमात्र कारण दार्शनिक पृष्ठभूमि का भेद ही है।

भट्टलोल्लटकृत नाट्यशास्त्र की व्याख्या के उपलब्ध न होने से उनका रसविषयक विवेचन भी उनके शब्दों में तो उपलब्ध नहीं होता, किन्तु अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र की स्वरचित व्याख्या अभिनवभारती में तथा ध्वन्यालोकलोचन में पूर्वपक्ष के रूप में उनके मत का जो उल्लेख किया है उसी के आधार पर भट्ट लोल्लट का रसविषयक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है—

"भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेवं व्याचख्यु —विभावादिभि संयोग अर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्ति। तत्र विभावाश्चित्तवृत्ते स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाश्च न रसजन्या विवक्षिता, तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्, अपितु भावानामेव ये अनुभावा। व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न

---

१ एते रसा रसवतो रमयन्ति पुंस सम्यग् विभज्य रचिताश्चतुरेण चारु।
यस्मादिमाननधिगम्य न सर्वरम्य काव्य विधातुमलमत्र तदाद्रियेत।
अनुसरति रसाना रस्यतामस्य नान्य सकलमिदमनेन व्याप्तमाबालवृद्धम्।
तदिति विरचनीय सम्यगेष प्रयत्नात् भवति विरसमेवानेन हीन हि काव्यम्॥
(काव्यालंकार १४-३७)

२ वैदर्भीपांचाल्यौ प्रेयसि करुणे भयानकाद्भुतयो।
लाटीयागौडीये रौद्रे कुर्यात् यथौचित्यम्॥ (काव्यालंकार १५-२०)

सहभाविन स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिता। दृष्टान्तेऽपि कस्यचित् वासनात्मकता स्थायिवत् अन्यस्य उद्भूतता व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभि उपचिता रस। स्थायी त्वनुपचित। स चोभयोरपि, मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये अनुकर्तर्यपि च नटे रामादिरूपतानुसंधानबलात् इति।"[1] अर्थात् विभावादि के साथ स्थायिभाव का सम्बन्ध होने से रस की निष्पत्ति होती है। इनमें विभाव स्थायिरूप चित्तवृत्ति की उत्पत्ति मे कारण हैं। अनुभावो से यहाँ रस से उत्पन्न होने वाले कार्यों का ग्रहण नही है किन्तु स्थायिभावजन्य अनुभावों का ही ग्रहण है। अर्थात् स्थायिभाव का सम्बन्ध उनसे जन्य अनुभावों से अभिप्रेत है। यद्यपि रत्यादि स्थायिभाव तथा लज्जा औत्सुक्यादि व्यभिचारिभाव दोनो ही चित्तवृत्तिरूप हैं और एक काल मे एक से अधिक चित्तवृत्ति की स्थिति न होने से चित्तवृत्तिरूप व्यभिचारिभावो से चित्तवृत्तिरूप स्थायिभाव का सम्बन्ध नहीं बन सकता, तथापि स्थायिभाव यहाँ वासनारूप से विवक्षित हैं। अर्थात् स्थायी उस समय संस्काररूप (अनुद्भूतरूप)से विद्यमान रहते हैं और व्यभिचारिभाव उद्भूतरूप से। अत उद्भूत चित्तवृत्ति उस समय व्यभिचारिरूप ही होगी। उद्भूत चित्तवृत्तियाँ ही एक काल में एक से अधिक नही रहती। अनुद्भूत नाना भाव भी एक काल मे रह सकते हैं। अत स्थायिभाव का सम्बन्ध व्यभिचारिभावो से हो जाता है। दृष्टान्त में अर्थात् "नानाव्यजनसंस्कृतमन्न भु जाना" इत्यादि दृष्टान्तवाक्य मे भी कोई व्यजन संस्काररूप से अर्थात् अनुद्भूत अवस्था मे रहता है और कोई व्यजन व्यभिचारिभावो की तरह उद्भूतरूप में रहता है। सभी व्यजन उद्भूत नही होते। इस प्रकार विभावादि से उपचित (परिपुष्ट) स्थायिभाव ही रस है। परिपुष्ट स्थायिभाव रस कहलाता है और अपरिपुष्ट स्थायिभाव स्थायिभाव ही कहलाता है। यह रस मुख्य वृत्ति से रामादि अनुकार्य में रहता है क्योकि उसी में सीतादि विभावो से रत्यादि स्थायिभावों की उत्पत्ति हो सकती है, नट और सहृदयो मे नहीं। उनके प्रति सीतादि विभाव ही नही हैं। इस प्रकार उनमे रत्यादि की उत्पत्ति न होने से उसकी परिपुष्टि नही बन सकती। किन्तु चतुर्विध अभिनयों द्वारा रामरूपता के आरोप या ज्ञान से नट म भी गौण अर्थात् आरोपित रस की प्रतीति बन जाती है।

निष्कर्ष यह है कि सीतादि आलम्बन विभावो तथा चन्द्रदर्शनादि, उद्दीपनविभावो से राम मे रति की उत्पत्ति होती है, कटाक्षभुजाक्षेपादि अनुभावरूप कार्यों से वह प्रतीतियोग्य बनती है तथा लज्जौत्सुक्यादि सहकारिकारणरूप व्यभिचारिभावो से वह परिपुष्ट होती है। और इस प्रकार परिपुष्ट रति ही शृगाररस कहलाती है। सीतादि विभावो से रति राम में उत्पन्न हुई है अत उसका व्यभिचारिभावों से परिपोष भी राम मे ही होगा। यह परिपुष्ट रति ही रस है अत वह रस मुख्य वृत्ति से राम म ही रहता है किन्तु रामनिष्ठ रस का साक्षात् ज्ञानरूप आस्वाद सहृदय नही कर सकते क्योकि अभिनयकाल में राम की स्थिति नहीं है।

---

१ द भा पृ ७१२

तन्निष्ठ रति की भी स्थिति नहीं है। अभिनयकाल मे सहृदयों के समक्ष रामादि अनुकरण करने वाले नटादि की स्थिति है। यह अनुकर्त्ता नट आंगिक, वाचिक, त्त्वक व आहार्य, इन चारो प्रकारो के अभिनय से राम का पूर्णतया अनुकरण ता है। अतः सहृदयों को नट मे राम का ज्ञान हो जाता है। अथवा उसमे रामत्व आरोप कर उसे राम समझ लेते हैं। नट में राम का आरोप होते ही उसमे रति आरोप या ज्ञान स्वत बन जाता है। उस रति का सहृदय ज्ञानरूप अलौकिक रूप के द्वारा साक्षात्कार करते हैं और उस साक्षात्कारज्ञान से सहृदयो को ान्द की अनुभूति होती है।

उपर्युक्त रीति से स्थायिभाव का विभावो के साथ उत्पाद्य-उत्पादक-भाव म्बन्ध, अनुभावो के साथ प्रत्याय्यप्रत्यायकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारिभावो के थ पोष्यपोषकभाव सम्बन्ध है। यही बात काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका में गोविन्द कुर ने तथा वामनराव झलकीकर ने बतलाई है। "विभावादिभि उपचित स्थायि-भो रस" इस लोल्लट की उक्ति मे उपचित पद से उत्पन्न, प्रतीत तथा परि-' तीनो का ग्रहण है। यद्यपि अभिनवभारती मे उल्लिखित लोल्लट-मत के देखने तीनो की स्पष्ट प्रतीति नही होती तथापि "विभावाश्चित्तवृत्ते स्थाय्यात्मिकाया' त्तौ कारणम्" इस वाक्य से विभाव के साथ स्थायिभाव का उत्पाद्य-उत्पादक-व सम्बन्ध है, यह स्पष्ट हो ही जाता है। तथा ध्वन्यालोकलोचन मे "प्रागवस्थाया स्थायी स एव व्यभिचारिसंपातादिना प्राप्तपरिपोष. अनुकार्यगत एव रस"[1] उक्ति से व्यभिचारिभावो के साथ स्थायी का परिपोष्यपरिपोषकभाव सम्बन्ध है, *अर्थ की भी स्पष्ट प्रतीति हो जाती है। शेष रहता है अनुभावो के साथ स्थायि-* व का प्रत्याय्यप्रत्यायकभाव सम्बन्ध। वह भी "अनुभावै कटाक्षभुजाक्षेप-तिभि. कार्यैः प्रतीतियोग्य. कृत."[2] इस मम्मट की उक्ति से स्पष्ट हो जाता है।

अभिनवभारती मे प्रतिपादित भट्टलोल्लट के मत को देखने से यह बात भी ष्ट हो जाती है कि अनुभाव पद से स्थायिभावो के ही अनुभावो का ग्रहण है, रस अनुभावो का नही। क्योंकि विभावानुभावादि को रस का कारण बतलाया है। जन्य अनुभाव रस के कार्य होने से रस के कारणो की गणना मे नही आ सकते। बात "अनुभावाश्च न रसजन्या अत्र विवक्षिता, तेषा रसकारणत्वेन गणना-ावात् अपितु भावानामेव ये अनुभावा:" इस उक्ति से स्पष्ट कर दी गई है।

यहा पर भाव पद से स्थायिभावो का ग्रहण है। किन्तु डा कान्तिचन्द्र डेय ने अपने शोध-ग्रन्थ 'इण्डियन एस्थेटिक्स' मे तथा डा प्रेमस्वरूप ने अपने ग्रन्थ 'रस गगाधर का शास्त्रीय अध्ययन' मे यहा भाव पद से विभाव का ग्रहण या है और कहा है कि यहा अनुभाव रसजन्य नही लिए गए हैं। इसका तात्पर्य है कि रस आश्रय राम मे रहता है अतः राम के कटाक्षभुजाक्षेपादि अनुभावो का

---

1. लोचन पृ. १८४
2. का. प्र. चतुर्थ उल्लास

यहा अनुभाव पद से ग्रहण नही है किन्तु विभाव अर्थात् सीता के कटाक्षभुजाक्षेपादि अनुभावा का ही ग्रहण है। डा प्रेमस्वरूप का उपर्युक्त कथन ग्राह्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' इस सूत्र मे विभावादि पदो से क्रमश रत्यादि स्थायिभावा के कारण, कार्य, सहकारिया का ग्रहण है। जैसा कि निम्नलिखित कारिका मे स्पष्ट हो रहा है—

कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादे. स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ।
विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिण । का प्र ४ उल्लास का २७, २८

रति स्थायिभाव निर्विवाद रूप से आश्रय मे रहता है। अत उसके कार्यभूत अनुभाव भी आश्रय मे ही रहेंगे। क्योकि कारण व कार्य का आश्रय एक ही होता है। यह नही हो सकता कि रति देवदत्त में रहे और उसकी कार्यभूत चेष्टाए यज्ञदत्त मे रहे। अत अनुभाव पद मे गृहीत कटाक्ष आदि चेष्टाएँ आश्रय रामगत ही मानी जानी चाहिएँ। राम मे ये चेष्टाएँ स्थायिभाव की उत्पत्ति के बाद भी होती हैं और परिपुष्ट स्थायिभावरूप रस के बाद भी। उनमे रत्यादि-स्थायिभावजन्य चेष्टाओं का यहा ग्रहण अभिप्रेत है न कि रसजन्य चेष्टाओं का, क्योकि रसजन्य चेष्टाए रस का कार्य होने से रस की कारण-कोटि मे नही आ सकती। यही अभिनवभारती का आशय है। अत नानाभावाभिव्यजितान् वागगसत्त्वोपेतान्' इत्यादि स्थलो में भाव पद से विभाव का ग्रहण होने पर भी यहा भाव पद मे स्थायिभाव का ही ग्रहण है न कि विभाव का।

भट्टलोल्लट ने विभावादि के साथ स्थायिभाव के सम्बन्ध से रस की निष्पत्ति मानी है। वहा विभाव का स्थायिभाव के साथ उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध माना है। जैसाकि 'तत्र विभावादिचत्तवृत्ते स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्" इस उक्ति से स्पष्ट है। यहा उत्पत्ति शब्द का अर्थ उत्पत्ति न मानकर उद्बोधन अर्थ डा. गुप्त ने माना है। उनकी मान्यता है कि रति सस्काररूप से राम म पहले ही विद्यमान है अत यहा उत्पत्ति शब्द से उद्बोधन अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिए। *किन्तु यह सगत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि अभिनवभारती, काव्य-*प्रकाश, हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन, ध्वन्यालोकलोचन की बालप्रिया टीका तथा लोचन को देखने स उत्पत्ति (असद् मे सदवस्थाप्राप्ति) अर्थ की ही स्पष्ट प्रतीति होती है। इन सभी ने भट्टलोल्लट-मतानुसार रससूत्र की व्याख्या करते हुए विभावो मे स्थायिभाव की उत्पत्ति, अनुभावो मे प्रतीति तथा सचारिभावो से पुष्टि बतलाई है। आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की टीका में अभिनवभारती में उल्लिखित भट्टलोल्लट-मत को अक्षरश. उद्धृत कर उसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है—'अथ भाव —विभावैर्जनित, अनुभावै प्रतीतिपद नीत, व्यभिचारिभिरुप-चित, मुख्यवृत्त्या अनुकरणीय रामे तद्रूपतानुसधानात् अनुकर्तरि च प्रतीयमान स्थायी रस' अर्थात् विभावा स उत्पादित, अनुभावो से प्रत्यायित (सूचित), व्यभिचारिभावों

से परिपुष्ट, मुख्यवृत्ति से अनुकार्य राम मे तथा रामादिरूपता के अनुसधान (ज्ञान या आरोप) से अनुकर्त्ता नट मे प्रतीयमान स्थायी भाव रस है। इस उद्धरण से स्पष्ट है कि विभावो से स्थायी भाव की उत्पत्ति होती है न कि विकास या उद्बोधन। यदि उत्पत्ति का अर्थ उद्बोधन होता जो कि अभिव्यक्ति का ही नामान्तर है तो भट्ट लोल्लट का मत भी अभिनवगुप्त की तरह अभिव्यक्तिवादी होता न कि उत्पत्तिवादी।

अपि च भट्टलोल्लट रस की स्थिति अनुकार्य रामादि म मानता है न कि सहृदय मे। और अनुकार्य मे सभी, स्थायिभावो की सीतादि विभावो से उत्पत्ति ही, मानते हैं न कि अभिव्यक्ति। अभिव्यक्तिवादी अभिनवगुप्त आदि भी सहृदय मे स्थायिभावो की अभिव्यक्ति मानते हैं न कि अनुकार्य रामादि मे।

भट्नायक ने भी अपने पूर्ववर्त्ती व्याख्याकार भट्ट लोल्लट तथा शकुक के रस-विषयक मत का प्रत्याख्यान करते हुए, "रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते" इस उक्ति से भट्टलोल्लट के मत का उत्पत्तिवादरूप से ही उल्लेख किया है। यहा 'न प्रतीयते' पद से शकुक के मत का तथा नोत्पद्यते' पद से भट्टलोल्लट के मत का खण्डन सभी को अभिप्रेत है। यदि उत्पत्ति पद से विकास या उद्बोधन अर्थ अभिप्रेत होता तो 'नोत्पद्यते' तथा 'नाभिव्यज्यते' म कोई भेद नही रहता और ऐसी स्थिति मे 'नोत्पद्यते' तथा 'नाभिव्यज्यते' इन दोनो की उक्ति की क्या आवश्यकता होती?

पूर्वावस्था मे अर्थात् अनुपचितावस्था मे विद्यमान स्थायिभाव ही रस है इस भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए शकुक ने जो तर्क उपस्थित किया है उससे भी असद की सदवस्थाप्राप्तिरूप उत्पत्ति अर्थ की ही प्रतीति होती है। शकुक ने कहा है कि यदि स्थायिभाव ही परिपुष्ट होकर रस बनते हैं तो स्थायिभावो की उत्पत्ति मे कारण बतलाने के बाद मुनि भरत परिपोषावस्थापन्न स्थायिभावा की उत्पत्ति मे पुन कारण न बतलाते। तात्पर्य यह है कि आचार्य भरत ने 'उत्साहो नाम उत्तमप्रकृति। स चाविषादशक्तिधैर्यशौर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते' इस उक्ति से स्थायिभावा की उत्पत्ति बतलाई है और 'अथ वीरो नामोत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मक। स चासम्मोहाध्यवसायनयविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते' इस वचन से परिपोषावस्थापन्न स्थायिभाव की पुन उत्पत्ति बतलाई है। यदि भट्टलोल्लट-मतानुसार अपरिपुष्टस्थायिभाव ही परिपोषावस्था मे रस बनता है तो स्थायिभावावस्था मे अर्थात् अपरिपोषावस्था मे जब उसकी उत्पत्ति बतलादी तो परिपोषावस्थारूप रसावस्था मे पुन उसकी उत्पत्ति बतलाना निरर्थक है। यह दोष विभावादि से स्थायिभाव की उत्पत्ति मानने पर ही बन सकता है। यदि अपरिपोषावस्था मे उत्पत्ति का उद्बोधन अर्थ माना जाय तो निरर्थकता का प्रश्न ही नही उठता, क्योंकि अपरिपोषावस्था में स्थायिभावो की उत्पत्ति का अर्थ उद्बोधन होने पर परिपोषावस्था मे पुनरुत्पत्ति का प्रश्न ही कैसे हो सकता है?

यद्यपि तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरुपचितो रस' इस उक्ति के द्वारा

विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभाव सभी को स्थायिभाव की उपचिति में कारण बतलाया है तथापि केवल व्यभिचारिभावों से स्थायिभाव की उपचिति होती है। विभाव व अनुभाव क्रमशः स्थायिभाव की उत्पत्ति व प्रतीति में कारण हैं। यह निष्कर्ष 'तत्र विभावश्चित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्' इस अभिनवभारती से तथा 'पूर्वावस्थायां यः स्थायी स एव व्यभिचारिसंपातादिना प्राप्तपरिपोषः अनुकार्यगत एव रसः' इस लोचन ग्रन्थ से स्पष्ट सिद्ध हो रहा है।

लोचन में भट्टलोल्लट के मत का खण्डन करते हुए 'प्रवाहधर्मिण्यां च चित्तवृत्तौ चित्तवृत्त्यन्तरेण कः परिपोषः' इस उक्ति से भी उपर्युक्त तथ्य की ही पुष्टि होती है अर्थात् स्थायिभावों की परिपुष्टि (उपचिति) चित्तवृत्तिरूप व्यभिचारिभावों से ही बतलायी है न कि विभावादि से क्योंकि वे चित्तवृत्तिरूप नहीं हैं।

भट्टलोल्लट के अनुसार रस यद्यपि अनुकार्यनिष्ठ होने से वस्तुपरक है, सहृदयपरक नहीं। *तथापि उसका सम्बन्ध सहृदय से भी है क्योंकि रसजन्य या* रसास्वादजन्य आनन्द की अनुभूति सहृदय को ही होती है। डा कान्तिचन्द्र पाण्डेय, डा प्रेमस्वरूप गुप्त तथा डा नगेन्द्र ने भट्टलोल्लट की रसविषयक व्याख्या को एकान्तत वस्तुपरक बतलाया है। काव्यप्रकाश में मम्मट ने 'विभावैः ललनोद्यानादिभिः आलम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः, अनुभावैः कटाक्षभुजाक्षेपप्रभृतिभिः कार्यैः प्रतीतियोग्यः कृतः, व्यभिचारिभिर्निर्वेदादिभिः सहकारिभिरुपचितो मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसन्धानबलाच्च नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रसः' इस उक्ति के द्वारा भट्टलोल्लट के मत का उपन्यास करते हुए उसे जो अन्त में सहृदयपरक बतलाया है उस वे मम्मट की देन मानते हैं। उनकी मान्यता है कि लोल्लट के रस का सहृदय से कोई सम्बन्ध नहीं है उसका सम्बन्ध केवल अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नट से है। अत उसकी रसविषयक व्याख्या शुद्ध वस्तुपरक है। किन्तु उनका यह कथन समीचीन नहीं है। क्योंकि सभी व्याख्याताओं ने रस का सम्बन्ध अन्ततोगत्वा सहृदय के साथ स्वीकृत किया है। रस का चरम उद्देश्य उसकी अनुभूति से विगलितवेद्यान्तर आनन्द की प्राप्ति है। अभिनयकाल में नाट्य में रस से आनन्दानुभूति सहृदय में न मानी जाय तो अभिनय ही निरर्थक होगा। अभिनय केवल सहृदयों के आनन्द के लिए किया जाता है और अभिनय में आनन्द रस द्वारा ही प्राप्त होता है। यह सर्वसम्मत मान्यता है तथा सर्वानुभवसिद्ध तथ्य है। अत रस चाहे किसी में भी रहे उसका अन्तत सम्बन्ध सहृदय के साथ स्वीकृत करना ही होगा। तभी सहृदय को रसास्वादजन्य आनन्दानुभूति हो सकती है। भट्टलोल्लट ने भी रस की व्याख्या करते हुए इस तथ्य को अवश्य ध्यान में रखा है। अत उनकी रसविषयक व्याख्या भी सहृदयसम्बन्धरहित नहीं हो सकती। भट्टलोल्लट के मत का उपन्यास करते हुए अभिनवभारती में 'स चाभयोरपि, अनुकार्ये, अनुकर्तरि अपि च अनुसन्धानबलात्'[1] के द्वारा इसका संकेत भी कर

1 अ भा पृ २७२

दिया गया है। इसी संकेत का स्पष्टीकरण मम्मट ने 'मुख्यया वृत्त्या रामादावनुकार्ये तद्रूपतानुसधानान्नर्तकेऽपि प्रतीयमानो रस'[1] इसके द्वारा किया है। मम्मट ने भट्ट लोल्लटादि के मत का जैसा स्वरूप था उसी रूप मे उसे उपन्यस्त किया है। उसमे अपनी ओर से कोई सशोधन या परिवर्तन नही किया है। इसीलिए तत्तन्मतो का उपन्यास करने के बाद वे 'इति भट्टलोल्लट' 'इति शकुक' 'इति भट्टनायक' इत्यादि लिखते हुए इस बात का स्पष्ट सकेत कर रहे हैं कि ये उनके स्वय के मत हैं न कि सशोधित या परिवर्धित।

डा प्रेमस्वरूप गुप्त एव डा नगेन्द्र का यह कथन कि अभिनवभारती मे 'स चोभयोरपि अनुकार्ये अनुकर्तरि अपि च अनुसन्धानबलात्' इस उक्ति से भट्ट लोल्लट का अभिप्राय केवल अनुकार्य व अनुकर्ता में रस मानने मे हैं तथा 'अनुकर्तरि अपि च अनुसन्धानात्' का अभिप्राय यह है कि अनुकर्ता नट अपने को राम से अभिन्न समझता है तथा नटी को सीता से। इस प्रकार सीता से अभिन्न नटी से, राम से अभिन्न नट मे भी रति भाव की उत्पत्ति व परिपुष्टि होकर उसमे भी रस की स्थिति है। इसीलिए डा गुप्त ने लिखा है—

'नट मे रस कैसे उत्पन्न होता है? तथा उसके निजी स्थायी का परिपोषण कैसे होता है? इसका कारण बतलाया गया है अनुसन्धान या तद्रूपतानुसधान। वह अपने को राम के रूप मे तथा नटी को सीता के रूप मे समझता है। इस धारणा का फल यह होता है कि उसमे भी रत्यादि उद्बुद्ध एव परिपुष्ट होने का अवसर प्राप्त करते हैं।'

इसी प्रकार का निरूपण डा नगेन्द्र ने भी रससिद्धान्त मे किया है। उनके अनुसार 'नाट्य मे दुष्यन्त शकुन्तलादि के प्रसग का अनुकरण किया गया। नट ने दुष्यन्त का रूप धारण किया और नटी ने शकुन्तला का। आश्रम की पार्श्वभूमि यवनिका के द्वारा प्रदर्शित की गई। नट ने अपनी शिक्षा और अभ्यास के द्वारा दुष्यन्त का 'अभिमान' सीधे शब्दों मे उसके साथ तादात्म्य कर लिया और ठीक उसी के समान व्यवहार करने लगा। अर्थात् इस प्रकार व्यवहार करने लगा मानो वह स्वय दुष्यन्त है और सामने विद्यमान नटी शकुन्तला है जिसे देखकर उसके चित मे रति भाव का उदभव हो गया और शरीर मे रोमाञ्च आदि का उदय तथा मन मे हर्ष चिन्ता आदि भावो का सचार हो रहा है। इस प्रकार सम्पूर्ण रस की सामग्री यहा भी उपस्थित है, स्थायिभाव है, विभाव है, अनुभाव और सचारिभाव है। अत यहा भी स्थायी भाव विभाव से उद्भूत होकर अनुभावो तथा व्यभिचारियो से क्रमश व्यक्त और परिपुष्ट होकर रस मे परिणत हो जाता है। अन्तर यह है कि पहिला प्रसग वास्तविक है और दूसरा कल्पनात्मक अनुकरण है। अत. पहिले प्रसग मे वास्तविक दुष्यन्त के चित्त मे जिस रस की निष्पत्ति हुई वह

---

१. का प्र ४ उल्लास पृ ४१

मुख्य है और नाट्य-प्रसग मे नट के चित्त में जिस रस की निष्पत्ति हुई वह गौण है।'

इस सन्दर्भ मे विचारणीय बात यह है कि यदि उपर्युक्त रीति से नट में विभावादि के द्वारा ही रति उद्बुद्ध होकर तथा व्यभिचारी भावों से परिपुष्ट होकर रस बनती है तो उसे हम गौण नही कह सकते क्योकि आरोपित व्यवहार को गौण कहते हैं। जब नट मे वस्तुतः रति है और वह व्यभिचारी आदि से परिपुष्ट है तो गौण व्यवहार का क्या प्रश्न है ? विभावादि साधन चाहे गौण हों या वास्तविक हो किन्तु नटवर्ती रस को कभी गौण नही कहा जा सकता। अन्य में अन्य वस्तु की आरोपित प्रतीति को गौण कहा जाता है। नट मे यदि वस्तुतः रति न हो तो उसमे रतिप्रतीति या रसप्रतीति को गौण कहा जा सकता है अन्यथा नही। डा. गुप्त व डा नगेन्द्र के कथनानुसार तो नट में वस्तुतः रति या रस की सत्ता विद्यमान है।

अनुकार्य रामादि मे ही वस्तुतः रस की उत्पत्ति होती है न कि नट में। इस रहस्य को स्वय अभिनवगुप्त ने लोचन टीका मे 'पूर्वावस्थाया यः स्थायी स एव व्यभिचारिसपातादिना प्राप्तपरिपोष अनुकार्यगत एव रसः'[1] इस उक्ति में 'अनुकार्यगत एव रसः' के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। इसकी व्याख्या करते हुए बालप्रिया टीका मे लिखा है—

'अनुकार्यरामादावेव उत्पद्यमानो वर्तते। अनेन अनुकर्त्तरि तदारोपः इति दर्शितम्।'[2]

यदि नर्तक में रस की उत्पत्ति होती है तो उसके आरोप की क्या आवश्यकता थी ? और ऐसा मानने पर अनुकार्यरामादावेव मे 'एव' पद का विरोध भी स्पष्ट है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी लोल्लट के मत का प्रतिपादन करते हुए 'कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्शनकोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे आरोप्य साक्षात्क्रियते'[3] इस उक्ति द्वारा इसी अर्थ की अभिव्यक्ति की है।

इस उत्पत्तिवादपरक रसविषयक व्याख्या मे रस की स्थिति मुख्यवृत्ति (साक्षात् वृत्ति) मे राम में तथा गौण वृत्ति (आरोपित) रूप से नर्तक में है। नर्तक मे आरोपित रस (परिपुष्ट रति) का साक्षात्कार कर सहृदयों को आनन्दानुभूति होती है। उस आरोपित परिपुष्ट रतिरूप स्थायी को आनन्द का जनक होने से रस कहा गया है। अभिनव भारती में उद्धृत भट्टलोल्लट के मत का यही आशय है। इसीलिए मम्मट आदि ने काव्यप्रकाश में यही आशय भट्टलोल्लट-मत का दिया है। उपर्युक्त रीति से भट्टलोल्लट ने रामादि अनुकार्य मे विद्यमान स्थायिभाव को

१. ध्वन्यालोकलोचन पृ. १८४
२. बालप्रिया पृ. १८४
३. रसगगाधर पृ. २०

विभावादि से परिपुष्ट होने पर रस माना है। अतः इस मत मे परिपुष्ट रति ही रस है।

वामन झलकीकर आदि टीकाकारो ने रसविषयक भट्टलोल्लट के मत को मीमासामतानुसारी माना है। उसकी व्याख्या करते हुए आचार्य विश्वेश्वर ने मीमासा से उत्तर मीमासा का ग्रहण किया है। उनके अनुसार पूर्व मीमासा से भट्ट लोल्लट का मत मेल नही खाता। किन्तु उत्तर मीमासा मे ब्रह्म मे जैसे जगत् का आरोप होता है उसी प्रकार यहाँ नट मे रति का आरोप सहृदय करते है और उस आरोपित रति से वे आनन्दानुभूति करते हैं, अत आरोपवाद के कारण यह मत उत्तरमीमासामतानुसारी है। परन्तु वस्तुत यहा मीमासा पद से पूर्व मीमासा का ही ग्रहण करना उचित है। जैसे पूर्वमीमासा-सिद्धान्त मे स्वर्गरूप आनन्द की प्राप्ति के उपयुक्त नवीन दिव्यात्मा की या यज्ञजनित अपूर्व की उत्पत्ति यज्ञादि द्वारा मानी जाती है उसी प्रकार भट्टलोल्लट भी सहृदय को आनन्दानुभूति जिस रति स्थायिभाव से होती है उसकी विभावादि से उत्पति मानते हैं। अत भट्टलोल्लट का रसविषयक मत उत्पत्तिवाद पर आश्रित होने से पूर्व मीमासामतानुसारी है।

भट्ट लोल्लट के मत मे 'विभावानुभावव्यभिचारिसयोगाद्रसनिष्पत्ति. इस सूत्र मे सयोग पद का उत्पाद्य-उत्पादकभाव सम्बन्ध तथा निष्पत्ति पद का उत्पत्ति अर्थ है। यद्यपि पूर्वप्रतिपादित रीति से रति स्थायिभाव का उत्पाद्यउत्पादकभाव सम्बन्ध केवल विभावो के साथ है। अनुभावो के साथ प्रत्याय्यप्रत्यायकभाव सम्बन्ध तथा व्यभिचारियों के साथ परिपोष्यपरिपोषकभाव सम्बन्ध है, अत सयोग पद का केवल उत्पाद्यउत्पादकभाव सम्बन्ध मानना उचित प्रतीत नही होता और इस प्रकार इस व्याख्या को केवल उत्पत्तिवादपरक मानना भी सगत प्रतीत नही होता, तथापि रत्यादि स्थायिभाव की उत्पति के बाद ही उसकी प्रतीति और परिपुष्टि बन सकती है, अत उत्पत्ति के प्राधान्य को लेकर ही इसे उत्पत्तिवाद कहा गया है।

भट्ट लोल्लट के मत मे अनेक दोष हैं जिनमें कुछ दोषो का उद्घाटन शकुक ने किया है। वे दोष निम्नलिखित हैं—[1]

(१) भट्ट लोल्लट के मतानुसार पूर्वावस्था में अर्थात् अनुपचितावस्था मे अनुकार्य रामादि मे विद्यमान स्थायिभाव ही व्यभिचारी आदि से उपचित होकर रस बनता है तो विभावादिसम्बन्ध से पूर्व अनुकार्य रामादि मे विद्यमान स्थायिभाव

१. विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिंगाभावेनावगत्यनुपपत्ते, भावानां पूर्वमभिधेयताप्रसंगात् स्थित दशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात्, मन्दमन्दतरमन्दतमाद्यानन्त्यापत्ते, हास्यरसे षोढात्वाभाव-प्राप्ते, कामावस्थासु दशसु असंख्यरसभावादिप्रसंगात्, शोकस्य प्रथम तीव्रत्व कालात्तनुमान्द्यदर्शनं क्रोधोत्साहरतीनाममर्षस्थैर्यसेवाविपर्यये ह्रासदर्शनमिति विपर्ययस्य दृश्यमान-त्वाच्च। (अ भा. पृ. २७२)

की, लिङ्ग के न होने से, प्रतीति ही नहीं बनेगी। अतः विभावादियोग से पूर्व राम मे रतिज्ञान के न होने से उस का न तो प्रत्यक्ष ही हो सकता है और न विभावादि के अभाव मे उसका अनुमान ही हो सकता है। अतः अनुकार्य मे पूर्वावस्था में विद्यमान स्थायी भाव को रस नहीं माना जा सकता।

(२) यदि अनुकार्य मे विद्यमान स्थायिभाव ही रस हैं तो जो स्थायिभाव उपचितावस्था मे रस बनते हैं उनका ही नामकीर्तन और लक्षण पहले मुनि को बतलाना चाहिए था न कि रसो का।

(३) यदि पूर्वावस्था मे विद्यमान स्थायिभाव ही रस है तो रसो का उद्देश व लक्षण बतलाने के बाद स्थायिभावो के पृथक् उद्देश व लक्षण बतलाने की क्या आवश्यक्ता थी? किन्तु भरत मुनि ने रसो और स्थायिभावो का पृथक् पृथक् उद्देश व लक्षण बतलाया है। जैसे—'वीरो नाम उत्तमप्रकृतिरुत्साहात्मक· स चासम्मोहाध्यवसायनविनयबलपराक्रमशक्तिप्रतापप्रभावादिभिर्विभावैरुत्पद्यते।' इस प्रकार वीर रस का तथा उसके उत्पादक असम्मोहादि विभावों का निरूपण किया गया है। तदनन्तर स्थायिभावो का निरूपण करते हुए 'उत्साहो नाम उत्तमप्रकृतिः। स चाविपादशक्तिसौन्दर्यादिभिर्विभावैरुत्पद्यते' इत्यादि उक्ति के द्वारा उत्साह स्थायिभाव का लक्षण तथा उसके कारण अविपाद आदि का उल्लेख किया है। यदि उत्साह स्थायिभाव ही उपचितावस्था मे वीर रस कहलाता है तो उत्साह तथा वीर रस के कारणों के एक होने से पृथक् पृथक् कारणो के निरूपण की क्या आवश्यकता थी? किन्तु दोनों के पृथक् पृथक् कारणों का उल्लेख किया है अतः दोनो को भिन्न मानना ही उचित है।

(४) यदि स्थायिभाव ही रस हैं तो एक एक स्थायी भाव के मन्द, मन्दतर, मन्दतम आदि भेद से नानाभेद होने से उनका उपचय होने पर उपचित स्थायिभावस्वरूप रस के भी उसी प्रकार भेद मानने होंगे।

(५) यदि यह कहा जाय कि उपचय की चरम सीमा को प्राप्त स्थायिभाव ही रस होता है अतः स्थायिभाव के मन्द, मन्दतर आदि भेद होने पर भी रस के नाना भेद नही होंगे तो इस प्रकार हास्य रस के स्मित, अवहसित, विहसित, उपहसित, अपहसित तथा अतिहसित ये जो छः भेद बतलाए गये हैं वे असगत हो जायेंगे। क्योंकि उपचय की चरम सीमा तो एक ही प्रकार की होगी और यदि वही रस कहलायेगी तो हास्य रस के उपर्युक्त छः भेद अनुपपन्न हो जायेंगे। इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रकर्षतारतम्य के कारण काम की जो अभिलाष, अर्थचिन्तन, अनुस्मृति, गुणकीर्तन, उद्वेग, विलाप, उन्माद, व्याधि, जड़ता व मरण ये दस अवस्थाएं बतलाई गई हैं, इनमे पुनः प्रत्येक अवस्था मे उत्तरोत्तर प्रकर्षतारतम्य के कारण अनेक भेद होने से काम की असंख्य अवस्थाएँ हो जायेंगी। और इस प्रकार अनन्तसंख्यापन्न कामदशाओं के कारण अनन्त रसभावादि की प्रसक्ति होने लग जायेगी।

(६) यदि पूर्वावस्था मे विद्यमान स्थायिभाव ही उपचितावस्था मे रस बनता है तो करुणादि रसो मे जहा शोकादि का उत्तरोत्तर ह्रास होता है वहां शोकादि स्थायिभाव रसरूपता को प्राप्त नही होगे ।

(७) इसी प्रकार क्रोध, उत्साह तथा रति स्थायिभावो का शनै. शनै. क्रमश अमर्ष, स्थैर्य तथा सेवा के अभाव मे अपचय होने से वे रौद्र, वीर तथा शृ गार-रूप मे परिणत नही होगे ।

शकुक के द्वारा उद्घाटित इन दोषा का अभिनवभारती मे स्पष्ट उल्लेख है तथा आचार्य हेमचन्द्रकृत काव्यानुशासन म उनकी स्पष्ट व्याख्या भी की गई है। उसीका अभिप्राय ऊपर दिया गया है ।

अभिनवभारती की हिन्दी व्याख्या मे इन दोषा की व्याख्या आचार्य विश्वेश्वर ने उपन्यस्त की है किन्तु कुछ दोषो का उन्होने अत्यन्त भ्रामकरूप मे उल्लेख किया है जैसे द्वितीय तथा तृतीय दोष का ।

इन्ही मे कतिपय दोषो का ध्वन्यालोकलोचन मे भी प्रदर्शन किया गया है— जैसे लोल्लट के अनुसार उपचित स्थायिभाव ही रस है और स्थायिभाव का उपचय व्यभिचारिभावो के द्वारा बतलाया गया है । व्याभिचारिभाव चित्तवृत्तिरूप है और स्थायिभाव भी चित्तवृत्तिरूप हैं । एक काल मे एक ही चित्तवृत्ति बनती है । और ये चित्तवृत्तियां प्रतिक्षण परिवर्तित होती रहती हैं। इसलिए प्रवाहरूप से विद्यमान इन चित्तवृत्तियो मे एक चित्तवृत्ति का अन्य चित्तवृत्तियो से परिपोष ही कैसे बन सकता है[1] ? और विस्मय, शोक, क्रोध आदि चित्तवृत्तियो का क्रमश प्रपरिपोष न होकर अपचय ही होता है । अत ये चित्तवृत्तियां कभी भी रस न बन सकेंगी । इसलिए *काव्यप्रकाश-सकेत मे कहा गया है कि* 'इष्टवियोगजो महान् शोक क्रमेण शाम्यति न तु दृढीभवति, क्रोधोत्साहरतयश्च निजकारणाद्भूता अपि कालवशात् अमर्षस्थैर्य-सेवाविपर्यये अपचीयन्ते' इति । अत अनुकार्य रामादिगत स्थायिभाव को रस नही माना जा सकता । नटगत स्थायिभाव को भी रस नही माना जा सकता । नट मे रस मानने पर लय, ध्रुवा, ताल आदि का अनुसरण नट नही कर सकेगा ।

काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर आदि ने भी कुछ दोषो का उद्-घाटन इस मत मे किया है । जैसे—इस मत मे सहृदय को चमत्कार या आनन्द अनुकर्ता नट मे रस का ज्ञान होने से होता है । किन्तु वस्तु के ज्ञानमात्र से किसी को प्रत्यक्षात्मक आनन्द की प्राप्ति नही होती, अन्यथा चन्दनज्ञानमात्र से शैत्य की अनुभूति होनी चाहिये । और यह ज्ञान भी वास्तविक रति का नही अपितु आरोपित रति का है ।

---

१ प्रवाहधर्मिण्यां चित्तवृत्तौ चित्तवृत्त्यन्तरेण क परिपोषार्थ ? विस्मयशोकक्रोधादेश्च क्रमेण तावन्न परिपोष इति नानुकार्ये रस । अनुकर्तरि च तद्भावे लयाद्यननुसरण स्यात् ।
लोचन पृ १८४

डा. नगेन्द्र ने भट्टलोल्लट के मत मे शंकुक द्वारा उद्घाटित दोषो को अमान्य ठहराते हुए अपनी तरफ से दोष प्रदर्शित किया है—'स्थायिभाव ही रसरूप मे परिणत होता है यह सिद्धान्त आरम्भ से अन्त तक मान्य रहा है। किन्तु लोल्लट अनुकार्यगत स्थायिभाव को रस मानते हुए भी अनुकार्य के विषय मे मूल पात्र और कविनिबद्ध पात्र का स्पष्ट भेद नही कर पाए। उनके विवेचन का सबसे दुर्बल अंश यही है और यहा से उनके सिद्धान्त का खण्डन आरम्भ होता है। इस दोष से एक दूसरे दोष का जन्म होता है और वह यह है कि रस की स्थिति प्रत्यक्ष ऐन्द्रिय मानसिक भाव से अभिन्न और तदनुसार सुखदु खात्मक हो जाती है, जो मान्य नही है। लोल्लटमत के प्रमुख दोष ये ही हैं।'

यहा यह कहना है कि यदि लोल्लट अनुकार्य के विषय मे मूल पात्र तथा कविनिबद्ध पात्र मे भेद कर पाते तो क्या उनका रसविषयक विवेचन उचित हो पाता ? तब क्या लोल्लट का रस सुखदु खात्मक न होता ?

भट्टलोल्लट क्या इस बात का नही जानते थे कि अभिनय-काल मे कवि-निबद्ध पात्र की सत्ता होती है न कि मूल पात्र की। यदि मूल पात्र कविनिबद्ध होने से मूल पात्र की तरह सुखदु खादि उत्पन्न न कर एकान्तत सुख ही उत्पन्न करते तो सभी दर्शको को उस पात्र से रसानुभूति और सुखानुभूति होनी चाहिए। ऐसी स्थिति मे 'निर्वासनाना सभ्याना रसस्यास्वादन न हि। निर्वासनास्तु रगान्तः काष्ठकुड्याश्मसनिभा' इत्यादि उक्तिया निरर्थक हो जायेंगी। और मूल पात्र के कविनिबद्ध होने से ही काम चल जाता तो भट्ट नायक को रसास्वादन के लिए विभावादि तथा रत्यादि के साधारणीकरणरूप भावनात्मक व्यापार मानने की क्या आवश्यकता होती ? आचार्य अभिनवगुप्त भी ऐसा होने पर सहृदय के हृदय मे वासनारूप मे विद्यमान साधारणीकृत रत्यादि स्थायिभाव को रस न मानते और अनुकार्यगत स्थायिभाव को ही रस मान लेते क्योकि अनुकार्य के कविनिबद्ध हो जाने से ही सारी समस्याओ का समाधान हो जाता।

स्थायिभाव ही रसरूप मे परिणत होता है। यह सिद्धान्त आरम्भ से अन्त तक मान्य रहा है यह कथन भी उपयुक्त नही है। क्योंकि शकुक ने ही स्थायिभाव को रस न मानकर उसके अनुकरण को रस माना है और लिखा है कि स्थायिभाव रस नहीं होता, इसीलिए मुनि ने रससूत्र में भिन्नविभक्तिक स्थायिपद का भी उपादान नहीं किया है। जैसे 'अतएव स्थायिपद सूत्र भिन्नविभक्तिकमपि नोक्तम्। तेन रति-रनुक्रियमाणा शृ गार इति।" (अ भा पृ २७२)

अभिनवगुप्त ने भी अभिनव भारती मे तथा लोचन में इसी रहस्य का उद्घाटन किया है। जैसे 'अतएव सूत्र स्थायिग्रहण न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूत स्यात्। केवल औचित्यादेवमुच्यते स्थायी रसीभूत इति। औचित्य तु तत्स्थायि-गतत्वेन कारणादितया प्रसिद्धाना अधुना चर्वणोपयोगितया विभावादित्वावलम्बनात्।'
(अ भा. पृ. २८४)

अतएव परकीया न चित्तवृत्तिर्गम्यते इति अभिप्रायेण 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' इति सूत्रे स्थायिग्रहण न कृतम्। तत्प्रत्युत शल्यभूत स्यात्। स्थायिनस्तु रसीभाव औचित्यादुच्यते, तद्विभावानुभावोचितचित्तवृत्तिसंस्कारसुन्दरचर्वणोदयात। हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायाम् उद्यानपुलकादिभि स्थायिभूतरत्याद्यवगमाच्च। (लोचन पृ १५६, १५७)

अनुमित स्थायिभाव को रस मानने वाले आचार्य शंकुक

भट्ट लोल्लटमत मे उपर्युक्त दोषो के कारण शंकुक ने रसविषयक भरतसूत्र की भिन्न प्रकार से व्याख्या प्रस्तुत की है। उनके अनुसार रामत्वेन अभिमत नट

सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा सुपूरकर्पूरशलाकिका दृशो।
मनोरथश्रीर्मनसः शरीरिणी प्राणेश्वरी लोचनगोचरं गता॥

दैवादहमद्य तया चपलायतनेत्रया वियुक्तश्च।
अविरलविलोलजलद: कालः समुपागतश्चायम्॥

इत्यादि काव्यो[1] के द्वारा सीतादि आलम्बन विभावो का और वर्षाकालादि उद्दीपन विभावो का निरूपण करता है। अभिनय व शिक्षाबल से कटाक्षभुजाक्षेपादि अनुभावरूप कार्यों का तथा नेत्रसंकोचादि कार्यों के द्वारा व्यभिचारिरूप सहकारिकारणो का प्रदर्शन करता है। रति के कारण, कार्य, सहकारी अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावो को नट मे देखकर सहृदय नट मे विभावादि से अविनाभूत रति का अनुमान कर लेते हैं। क्योंकि रति के कारण, कार्य, सहकारी अर्थात् विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी नट मे विद्यमान हैं तो उनसे अविनाभूत रति भी नट मे अवश्य है। यद्यपि रति के विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावो की वास्तविक सत्ता नट मे नही है अपितु नट उनका कृत्रिमरूप से प्रकाशनमात्र करता है। अत उनमे मिथ्यात्व-ज्ञान होने से सहृदय को नट मे रति का अनुमान नही होना चाहिए। तथापि नट काव्यानुसन्धान तथा शिक्षाभ्यासादि द्वारा सम्पादित कौशल के कारण इस प्रकार रतिस्थायिभाव के विभावादि का प्रदर्शन करता है जिससे सहृदय को उनमे कृत्रिमता का ज्ञान नही होता। अत मिथ्यात्व-ज्ञान न होने से नट द्वारा प्रदर्शित कृत्रिम विभावादि से भी सहृदयो को रति का ज्ञान हो जाता है। नट मे सहृदयो द्वारा अनुमीयमान यह रति स्वभावत सुन्दर अतएव चमत्कारजनक है और अन्य अनुमीयमान अग्न्यादि वस्तुओं से विलक्षण है। अत. अन्य अनुमीयमान वह्न्यादि वस्तुओ से शैत्यादिनिवारणरूप कार्य के न होने पर भी इस अनुमीयमान रति के ज्ञान से सहृदयो को चमत्कार या आनन्द की अनुभूति होती है।

---

१ विभावादय काव्यबलानुसंधेया। अनुभावा शिक्षात।
व्यभिचारिण कृत्रिमनिजानुभावार्जनबलात्। (अ भा पृ २७२, २७३)

सहृदयों द्वारा नट में अनुमीयमान रत्यादि स्थायिभाव ही आस्वाद्यमान होने से 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति के द्वारा रससंज्ञा से व्यवहृत होते हैं। नट में सहृदयों द्वारा जिस रति का अनुमान किया जाता है वह वस्तुतः रामादि में रहने वाली रति नहीं है, किन्तु उसका अनुकरणमात्र है। अतः नट द्वारा अनुक्रियमाण व सहृदयों द्वारा नट में अनुमीयमान रामादि की रति ही रस है।

शकुक ने 'तस्मात् हेतुभिर्विभावाख्यैः कार्यैश्चानुभावात्मभिः सहचारिरूपैश्च *व्यभिचारिभिः प्रयत्नार्जिततया कृत्रिमैरपि तथाऽनभिमन्यमानैः* अनुकर्तृस्थत्वेन लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायिभावो मुख्यरामादिगतस्थाय्यनुकरणरूपः, अनुकरणत्वेन च नामान्तरेण व्यपदिष्टो रसः'[1] इस उक्ति के द्वारा उपर्युक्त तथ्य का स्पष्टीकरण कर दिया है। यहां शकुक ने इस बात को स्पष्ट बतला दिया है कि नट द्वारा अनुक्रियमाण रति मुख्य रामादिगत रति नहीं है किन्तु उसका अनुकरणमात्र है। अतः उसको रति न कहकर नामान्तर रस नाम से कहा है। तात्पर्य यह है कि उस रति को रतिपद से न कहकर रस नाम से कहने का कारण रामादिगत मुख्यरति न होकर उसका अनुकरणमात्र होना है।

शकुक के मतानुसार सहृदयों ने जिस नट में रामनिष्ठ रति का अनुमान किया है उसमें सहृदयों की रामत्वबुद्धि है। अर्थात् वे उसे राम समझते हैं। सहृदयों का नट में 'राम' इत्याकारक ज्ञान शकुक के मतानुसार लोक में प्रचलित सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान तथा सादृश्यज्ञान-इन चारों प्रकार के ज्ञानों से भिन्न है। क्योंकि नट में रामत्वप्रकारकज्ञान भिन्न वस्तु में भिन्न वस्तु का ज्ञान है, अतः इसे सम्यग्ज्ञान नहीं कहा जा सकता। इसे मिथ्याज्ञान भी नहीं कह सकते, क्योंकि मिथ्याज्ञान का उत्तरकाल में बाध होता है, जैसे—रज्जु में सर्पज्ञान का तथा शुक्ति में रजतज्ञान का। उत्तरकाल में बाध ही पूर्व ज्ञान के मिथ्यात्व में कारण पड़ता है। किन्तु नट में रामत्वप्रकारक ज्ञान का उत्तरकाल में बाध नहीं होता। अभिनय-काल में जब भी सहृदय नट को देखते हैं उसमें उन्हें रामत्वप्रकारक ज्ञान ही होता है। नट में रामत्वप्रकारक ज्ञान 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इस ज्ञान की तरह 'अयं नटः रामो वा न वा' इस रूप से संशयात्मक ज्ञान भी नहीं है। और न 'गोसदृशो गवयः' इस ज्ञान की तरह यह ज्ञान 'नटः रामसदृशः' इत्याकारक सादृश्यज्ञान ही है। किन्तु नट में रामत्व-प्रकारक ज्ञान चित्रतुरग में तुरगज्ञान की तरह उपर्युक्त चारों ज्ञानों से भिन्न प्रकार का है, क्योंकि चित्र में अश्वत्वप्रकारक ज्ञान भी अश्वभिन्न चित्र में अश्वज्ञान होने से न सम्यग्ज्ञान है, चित्र के अश्व में उत्तरकाल में अश्वज्ञान का बाध न होने से मिथ्या ज्ञान भी नहीं है। न यह 'चित्रतुरग अश्व है या नहीं' इस प्रकार से संशय-ज्ञान ही है। और 'यह चित्रतुरग अश्व के समान है' इत्याकारक सादृश्य प्रतीत न होने से सादृश्यज्ञान ही कहला सकता है। अतः चित्राश्व में अश्वज्ञान जैसे चारों प्रकार के ज्ञानों से भिन्न है उसी प्रकार सहृदयों का नट में रामत्वप्रकारक ज्ञान भी उपर्युक्त

१. अ. भा. पृ २७२

चारों प्रकार के ज्ञानों से भिन्न है। ऐसे रामत्वेन अभिमत नट में ही उसके द्वारा प्रदर्शित विभावादि से सहृदय उसमें रामरति का अनुमान कर लेते हैं। नट में रामत्वप्रकारक ज्ञान सम्यग् ज्ञानादि चारों प्रकारों के ज्ञानों से भिन्न है। इसी रहस्य का निरूपण 'न चात्र नर्तक एव सुखीति प्रतिपत्तिः। नाप्ययमेव रामः। न चाप्ययं न सुखीति। नापि रामः स्याद् वा न वायमिति। नापि रामसदृशः इति। किन्तु सम्यगुमिथ्यासंशयसादृश्यप्रतीतिभ्यो विलक्षणं चित्रतुरगादिन्यायेन यः सुखी रामः असावयमिति प्रतीतिरस्तीति। तदा—

> प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
> धीरसावयमित्यस्ति नासावेवायमित्यपि॥
>
> विरुद्धबुद्ध्यसंभेदादविवेचितसंप्लवः।
> युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया॥ (अ. भा पृ. २७३)

इस वचन के द्वारा अभिनव भारती में किया गया है।

यद्यपि नट में सहृदयों द्वारा अनुमीयमान रामरति मिथ्या है। क्योंकि रामरति वस्तुतः राम में रहती है न कि नट में। अतः नट में रतिज्ञान के मिथ्या होने से मिथ्या ज्ञान से सहृदयों को आनन्दानुभूति कैसे हो सकती है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। तथापि शंकुक ने इस समस्या का समाधान कर दिया है। उनका कथन है कि—अर्थक्रिया सत्य ज्ञान से ही हो—यह नियम नहीं, मिथ्या ज्ञान से भी लोक में अर्थक्रिया देखी जाती है। क्योंकि यह वस्तु का स्वभाव है कि कुछ वस्तुएँ स्वभावतः आनन्दप्रद होती हैं और कुछ नहीं। रति स्वभावतः आनन्दप्रद है अतः उसके मिथ्याज्ञान से भी सहृदयों को आनन्दानुभूति होना स्वाभाविक है। जैसे दो पुरुष हैं। एक को मणिप्रभा में मणि का ज्ञान हुआ है, दूसरे को दीपकप्रभा में। दोनों ही ज्ञान मिथ्या है। फिर भी मणिप्रभा में मणिज्ञान वाले को वहां जाने पर मणि की प्राप्ति हो जाती है और दीपकप्रभा को मणि समझकर प्रवृत्त होने वाले पुरुष को मणि की प्राप्ति नहीं होती। यही बात अभियुक्तों ने निम्न कारिका में बतलाई है—

> मणिप्रदीपप्रभयोर्मणिबुद्ध्याभिधावतोः।
> मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विशेषोऽर्थक्रियां प्रति॥

अन्य अनुमीयमान वह्न्यादि वस्तुओं से जब पुरुषों को फलप्राप्ति नहीं होती तो नट में अनुमीयमान रति से ही सहृदयों को आनन्दानुभूति कैसे हो सकती है? इस शंका का समाधान करते हुए मम्मट ने कहा है कि प्रत्येक वस्तु में प्रातिस्विक विशेषतायें होती हैं। अन्य वस्तुएँ स्वभावतः रसनीय (आस्वाद्य) नहीं हैं और रति स्वभावतः रसनीय है। अतः उसके अनुमित्यात्मक ज्ञान से भी सहृदयों को आनन्दानुभूति होती है। इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्य हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की टीका में एक उदाहरण प्रस्तुत किया है कि जैसे इमली आदि कषाय फल को

खाने वाले पुरुष को देखते हैं तब द्रष्टा को अनुमान होता है कि फल खाने वाले के मुख में पानी (रस) आ गया है। उस रस के रसनीय होने से इसका अनुमान होते ही द्रष्टा के मुख में भी पानी भर आता है। इसी प्रकार जब सहृदयों ने विभावादि के द्वारा नट में रति का अनुमान किया तो उस रति के रसनीय होने से सहृदयों को भी उसके अनुमिति-ज्ञान से आनन्दानुभूति हो जाती है।[1]

यहां हेमचन्द्र के इस उदाहरण की व्याख्या डा० गुप्त ने अन्य प्रकार से की है।[2] उनकी व्याख्या से यह प्रतीत होता है कि कषायफल खाने वाले पुरुष के मुख की आकृति एवं चेष्टा से द्रष्टा को यह सूचना मिलती है कि वह व्यक्ति कषायफल खा रहा है और उस समय द्रष्टा के मुख में उसी प्रकार पानी भर आता है जिस प्रकार कषायफल खाने वाले के मुख मे भर रहा होगा। बस इसी प्रकार रामरूप में अभिमत नट के स्थायिभाव को देख सामाजिक की वासना के स्थायी में भी चर्वणा का अवकाश हो जाता है। पर तथ्य इससे विपरीत है। कषायफल खा रहा है यह तो द्रष्टा को प्रत्यक्ष ज्ञान है और उससे खाने वाले के मुख में पानी (रस) भर आया है यह अनुमित्यात्मक ज्ञान है। और यह रस रसनीय है अत. द्रष्टा के मुख मे भी पानी भर आता है। इसी प्रकार नट के द्वारा अभिनयादि से प्रदर्शित विभावानुभावादि का सहृदयों को प्रत्यक्ष ज्ञान है। उनके द्वारा सहृदय रामत्वेन अभिमत नट में रति का अनुमान करते हैं और वह अनुमीयमान रति रसनीय है अत सामाजिक को उसके ज्ञान से आनन्दानुभूति हो जाती है। डा० गुप्त ने इसके विपरीत फल खाने वाले के मुख की आकृति एवं चेष्टा से कषायफल खाने की सूचना बतलाकर प्रत्यक्ष ज्ञान का अनुमान सिद्ध कर दिया है जो कि उचित नहीं। इसी प्रकार आगे रामरूप मे अभिमत नट के स्थायी को देखकर इस उक्ति के द्वारा स्थायी के ज्ञान को प्रत्यक्षात्मक बतलाया है जबकि नट में स्थायी का ज्ञान अनुमान से शङ्कुक मानता है। और शङ्कुक उस स्थायी के अनुमित्यात्मक ज्ञान मे उस स्थायी के रसनीय होने से सामाजिक में आनन्दानुभूति मानता है, जबकि डा० गुप्त ने यह बतलाया है कि नट के स्थायी के ज्ञान से सामाजिक अपनी वासना के स्थायी की चर्वणा करता है और उससे आनन्दानुभूति प्राप्त करता है।

डा० गुप्त तथा डा० नगेन्द्र ने 'नट मे अनुमीयमान रत्यादि के ज्ञान से सहृदय को कैसे चमत्कार उत्पन्न हो सकता है अथवा सामाजिक को इसकी चर्वणा कैसे हो सकती है?' यह शका प्रस्तुत कर कहा है कि इस शका का समाधान मम्मट ने शङ्कुक की ओर से उपस्थित किया है। वह यह है कि सामाजिक की वासना के द्वारा

---

१ 'वस्तुतो दर्शनात् कषायफलचर्वणपरपुरुषदर्शनसमकमुखसेककरनात्ननया रसनीयत्व-तया पल्लानुमीयमानविभावात् स्थायित्वेन भावाद्यमानो रस.।'

हेमचन्द्र का० चू पृ १११-११२

२ रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ १३०

उसकी चर्वणा हो जाती है रामरूप मे अभिमत नट के स्थायी को देख सामाजिक की वासना के स्थायी मे भी चर्वणा का अवकाश हो जाता है।'

(रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १३२)

'मम्मट ने सहृदय के पक्ष को और भी स्पष्ट किया है। उनका कथन है कि सहृदय एक ओर वस्तु-सौन्दर्य तथा दूसरी ओर अपनी वासना के बल पर इस रस का दूसरे शब्दो मे रसरूप इस कलात्मक स्थिति की चर्वणा करता है।'

(रससिद्धान्त, पृ० १५५)

दोनों उपर्युक्त उद्धरणो मे प्रदर्शित व्याख्या 'सामाजिकाना वासनया चर्व्यमाणो रस' इस मम्मट की उक्ति पर आधारित है।

डा० गुप्त तथा डा० नगेन्द्र ने मम्मट के वासना शब्द का अर्थ स्थायी का सस्कार किया है और उनकी यह मान्यता है कि सामाजिक नट मे स्थायी का ज्ञान प्राप्त कर अपने मे सस्काररूप से विद्यमान स्थायिभाव के संस्कार से नट मे अनुमीयमान रति की चर्वणा कर लेता है। किन्तु उनका यह कथन काव्यप्रकाश के सभी व्याख्याकारो तथा युक्तियो से भी विरुद्ध है। यहा वासना शब्द का अर्थ इच्छा है, यही अर्थ टीकाकारों ने किया है। आप्टे के शब्द कोष मे भी वासना शब्द का wish, desire (इच्छा) अर्थ किया गया है। वहा उसके उदाहरण भी दिये गये हैं। और वही अर्थ यहा उपयुक्त भी है। क्योकि नैयायिको के अनुसार अनुमिति मे सिद्धि (निश्चय) का अभावरूप पक्षता कारण है। और सहृदय जब एक बार नट मे विभावादि के द्वारा अनुमिति कर चुका है, तब रति का निश्चयात्मक ज्ञान हो जाने से उसको पुन. रति की अनुमिति नहीं होगी। और अनुमितिज्ञानविषयीभूत रति ही आस्वाद्य है। अत. एक क्षण के बाद ही नट मे रति का अनुमित्यात्मक ज्ञान न होने से रस के अभाव से चमत्कार की अनुभूति नहीं होगी। किन्तु अनुभव यह है कि पाच-सात क्षण तक भी सहृदयो को निरन्तर रत्यास्वादजन्य चमत्कार होता रहता है। वह कैसे बनेगा? इस शका का समाधान प्रस्तुत करते हुए मम्मट ने यहा इच्छार्थक वासना शब्द का प्रयोग किया है अर्थात् सहृदयो को पुनः रतिविषयक अनुमिति की इच्छा है, अत. द्वितीयादि क्षणो मे भी अनुमिति की इच्छा होने पर अनुमिति बन जाती है। यही बात नैयायिको ने अनुमिति मे पक्षता को कारण बतलाकर और पक्षता का 'सिसाधयिषाविरहविशिष्टसिद्ध्यभाव पक्षता' यह लक्षण कर बतला दी है। अर्थात् सिद्धि का अभाव ही पक्षता है पर सिद्धि होने पर भी यदि सिसाधयिषा (अनुमित्सा, अनुमिति की इच्छा) है तो पक्षता बन जाती है और अनुमितिज्ञान हो जाता है। इसका विशद विवेचन न्यायसिद्धान्तमुक्तावली आदि ग्रन्थो के अनुमितिप्रकरण मे किया गया है। निष्कर्ष यह है कि प्रकृत में सहृदयो को एक बार अनुमिति द्वारा नट मे रति का ज्ञान हो जाने से उसको सिद्धि हो जाने पर भी पुन. अनुमिति द्वारा रति को जानने की इच्छा होने से अनुमिति बन सकती है और इस प्रकार सहृदय मे पाच-सात क्षण तक चमत्कारानुभूति बन जाती है, जब तक कि वे नट मे

रति का अनुमित्यात्मक ज्ञान करते रहते हैं। रति की अनुमिति की इच्छा सहृदय को बार-बार क्यों होती है ? इसका कारण है रति की रसनीयता। यहाँ मम्मट के 'चर्व्यमाण' शब्द के अर्थ पर भी ध्यान देना आवश्यक है। चर्व्यमाण शब्द की व्याख्या काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने 'पुन पुन अनुसन्धीयमान' अर्थात् बार बार रति का अनुमित्यात्मक ज्ञान अर्थ किया है। इससे स्पष्ट है कि यहा चर्वणा शब्द से पुन पुन रति का अनुमित्यात्मक ज्ञान अर्थ अभिप्रेत है। स्वय अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोकलोचन' व 'अभिनवभारती' में रसना, चर्वणा, प्रतीति आदि शब्दो को ज्ञानपरक बतलाया है और यह चर्व्यमाण शब्द रति का विशेषण है अर्थात् नट में अनुमीयमान रति की ही चर्वणा सहृदयो को होती है, न कि रस की अथवा अन्य वस्तु की। अत डा० नगेन्द्र का यह कथन युक्तियुक्त मालूम नहीं देता है कि सहृदय वासना के बल पर इस रस का-दूसरे शब्दों में रसरूप इस कलात्मक स्थिति की चर्वणा करता है। ज्ञान से भिन्न चर्वणा यहा अभिप्रेत नही है और वह चर्वणा भी रस की नहीं अपितु अनुमीयमान रति की है। अर्थात् चर्वणाविषयीभूत रति रस कहलाती है न कि चर्वणा और कलात्मक स्थिति, जिसका कि नट प्रदर्शन करता है, की तो यहा चर्वणा का प्रश्न ही नहीं है। मम्मट तो स्पष्ट शब्दों में 'अनुमीयमानोऽपि वस्तुसौन्दर्यबलात् रसनीयत्वेन अन्यानुमीयमानविलक्षण स्थायित्वेन सम्भाव्यमानो रत्यादिर्भाव तत्रासन्नपि सामाजिकाना वासनया चर्व्यमाणो रस' इस उक्ति द्वारा बतला रहे हैं कि चर्वणा का विषय रति है न कि रस।

इसी प्रकार डा० गुप्त का यह कथन कि 'रामरूप मे अभिमत नट के स्थायी को देख सामाजिक की वासना के स्थायी मे चर्वणा का अवकाश होता है।'[1] सगत नहीं, क्योंकि चर्व्यमाण शब्द रति का विशेषण है जिस रति का सहृदयों ने नट मे अनुमान किया है तथा जो स्वभावत सुन्दर होने से रसनीय है। उसी रति की वासना से चर्वणा बतलायी गई है न कि सामाजिक की अपनी रति की।

डा० गुप्त का यह कथन कि 'अभिनवगुप्त के उल्लेख के अनुसार तो यह कहना भी कठिन है कि शकुक स्थायिभाव को वासनारूप से स्वीकार भी करते हैं। ---अत अनुमान होता है कि सामाजिक की वासना के सहारे उसकी चर्वणा की बात मम्मट का समाधान है, शकुक का अपना नही। वस्तुत मम्मट के समय तक रस की अवस्थिति का स्थान सामाजिक निश्चित हो चुका था। मम्मट उसके ऊपर होने वाली प्रतिक्रिया का ध्यान रखकर ही उन लोगों के मतो को भी प्रस्तुत कर देना चाहते थे जिन्होंने स्वय उस प्रतिक्रिया का ध्यान नही रखा' (रसगगा० शा० अ० पृ० १३२) असगत है। क्योंकि यहाँ 'वासना' शब्द उपर्युक्त रीति से इच्छा अर्थ का बोधक है न कि सामाजिक के स्थायिभाव के संस्काररूप अर्थ का। जैसाकि भट्ट लोल्लट के मत का प्रतिपादन करते हुए बतलाया जा चुका है कि मम्मट ने शकुक आदि के मत का विशुद्ध रूप मे ही उपन्यस्त किया है, उसमे अपने भावों का समावेश

---

१ रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ १३२

नहीं किया है। इसीलिए उनके मतों का उपन्यास करने के बाद में वे 'इति भट्टलोल्लट' 'इति श्रीशंकुक' इन उक्तियों के द्वारा स्पष्ट कर देते हैं कि यह भट्ट लोल्लट का मत है यह शंकुक का मत है। रही सामाजिक में रस की अवस्थिति की बात, इस विषय में इतना कहना है कि रस की सामाजिक में अवस्थिति न श्री भट्टलोल्लट ने मानी है और न श्रीशंकुक ने। किन्तु रस का सम्बन्ध सभी व्याख्याताओं ने सामाजिक के साथ माना है और उनकी रस-विषयक व्याख्याएँ सामाजिक के उद्देश्य से ही हुई हैं। रस की स्थिति चाहे सामाजिक में उन्होंने नहीं मानी किन्तु रसास्वादजन्य चमत्कार या आनन्द की स्थिति उन्होंने भी सामाजिक में मानी है। सामाजिक से असम्बद्ध रसविषयक व्याख्या लोल्लट आदि में किसी की भी नहीं है। अन्यथा वह व्याख्या सर्वथा निरर्थक व निरुद्देश्य होती, क्योंकि काव्य का प्रयोजन सहृदय पाठक व प्रेक्षक में रसास्वादजन्य आनन्द की अनुभूति कराना है। वह यदि सहृदय में न मानी जाती तो फिर उससे असम्बद्ध रस-निरूपण ही व्यर्थ होता। अतः रस चाहे वस्तुतः अनुकार्य में रहे या अन्य में तदास्वादजन्य (तज्ज्ञानजन्य) आनन्द या चमत्कार की स्थिति तो सहृदय सामाजिक में ही होती है। यह भी निश्चित है कि सामाजिक की आनन्दानुभूति के समय अनुकार्य रामादि की स्थिति नहीं है किन्तु अनुकर्ता नट की है। अतः सामाजिक उसी में रति का आरोपात्मक अथवा अनुमित्यात्मक ज्ञान प्राप्त कर उससे चमत्कार की अनुभूति करता है। शंकुक के अनुसार सामाजिक नट में रति का अनुमित्यात्मक ज्ञान करता है। इस विषय में अभिनवगुप्त द्वारा अभिनवभारती या लोचन में उद्धृत शंकुकमत में तथा मम्मट द्वारा काव्यप्रकाश में उद्धृत शंकुकमत में कोई अन्तर नहीं है। अभिनवगुप्त ने भी 'लिंगबलतः प्रतीयमानः स्थायी भावः' कहकर सामाजिक विभावादि लिंगों से नट में स्थायी का अनुमान करता है यह बतलाया है। क्योंकि लिंगबल से होने वाली प्रतीति (ज्ञान) अनुमिति से भिन्न नहीं होती। मम्मट ने भी 'रामत्वेन ज्ञाते नटे ... गम्यगमकभावबलादनुमीयमानः' के द्वारा इसी अर्थ की अभिव्यक्ति की है। अब रही उस रति का सहृदयों द्वारा ज्ञानरूप आस्वादन या चर्वणा की बात, उसका भी उल्लेख अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में स्पष्ट किया है।

'तस्मादनियतावस्थात्मकं स्थायिनमुद्दिश्य विभावानुभावव्यभिचारिभिः संयुज्यमानैः अयं रामः सुखीति स्मृतिविलक्षणा स्थायिनि प्रतीतिगोचरतया आस्वादरूपा प्रतीतिरनुकर्त्रालम्बना भाट्र्यैकगामिनी रसः। स च न व्यतिरिक्तमाधारमपेक्षते। किन्त्वनुकार्याभिन्नाभिमते नर्तके, आस्वादयिता सामाजिक इत्येतावन्मात्रमद इति। (लोचन पृ १८५)

अर्थात् यह रामत्वेन अभिमत नट रतिमान् है इत्याकारक रतिविषयक, चमत्कारजनक चर्वणारूप सामाजिकों की अनुमिति का आलम्बन अनुकार्य राम से अभिन्नरूपतया प्रतीयमान नट है। अर्थात उस रति का आश्रय नट है जो रसरूप में परिणत होती है। किन्तु चमत्कारजनकचर्वणारूप अनुमीयमान रति के चमत्कार-

रूप ग्रानन्द का ग्राश्रय सामाजिक है, क्योकि नट मे चमत्कारजनक रति के ग्रनुमित्यात्मकज्ञान से ग्रानन्दप्राप्ति सामाजिक को होती है।

उपर्युक्त सदर्भ से अभिनवगुप्त ने शकुक के मत मे स्पष्ट तौर से नटनिष्ठ रति का सहृदयो द्वारा ग्रास्वाद बतलाया है। 'ग्रास्वादयिता सामाजिक' इस उक्ति के द्वारा 'रस का ग्रास्वादनकर्ता सामाजिक है' तथा 'अनुकर्त्रालम्बना प्रतीति' एव 'ग्रनुकार्याभिनाभिमते नर्तके' इन कथन के द्वारा जिस रति का सहृदय ग्रास्वादन करता है उसे अनुकर्ता नट मे रहने वाली बतलाया है। सहृदय ग्रपने मे वासनारूप से या सस्काररूप से विद्यमान रति का ग्रास्वादन करता है, यह कही भी नही बतलाया है।

उपर्युक्त लोचन के उद्धरणो पर दृष्टिपात करने पर ग्रभिनवगुप्त द्वारा तथा मम्मट द्वारा प्रदर्शित शकुकमत में लेशमात्र भी भेद प्रतीत नही होता। ऐसी स्थिति में डाक्टरद्वयो का यह कथन कि 'ग्रभिनव ने रस की विषयपरक व्याख्या की है और मम्मट ने उसे सामाजिकपरक रूप दिया है' न्याय्य नही प्रतीत होता। ग्रभिनवगुप्त तथा मम्मट द्वारा प्रदर्शित शकुकमत सर्वथा समान है। शकुक के ग्रनुसार रस विषयपरक अर्थात् ग्रनुकर्तृनिष्ठ ही है। उसका ज्ञानरूप ग्रास्वाद प्राप्त कर सहृदय उससे चमत्कृति का ग्रनुभव करता है।

शकुक के मत मे रसविषयकसूत्र मे सयोगपद ग्रनुमाप्यानुमापकभाव या गम्यगमकभाव सम्बन्ध का तथा निष्पत्तिपद ग्रनुमिति ग्रर्थ का बोधक है। इस मत को साम्प्रदायिक न्यायमतानुसारी मानते हैं। ग्रर्थात शकुक की रसविषयक व्याख्या न्यायमतानुसारिणी है। जैसे न्यायदर्शन जिस ग्रात्मा की विशुद्ध स्थिति से दु खाभाव-रूप ग्रानन्द की ग्रनुभूति मानता है उसका वह ज्ञानसुखादि लिंगो के द्वारा ग्रनुमान मानता है। उसी प्रकार इस मत के ग्रनुसार सहृदय जिस रति का ग्रास्वाद (ज्ञान) प्राप्त कर चमत्कारानुभूति करते हैं उस रति का वे रामत्वेन ग्रभिमत नट मे विभाव, ग्रनुभाव व व्यभिचारी के द्वारा ग्रनुमान करते हैं।

भट्ट लोल्लट की तरह शकुक की रसविषयक व्याख्या भी ग्रनेक दोषो से ग्रस्त है। उनमें से बहुत से दोषों का उद्घाटन ग्रभिनवभारती मे भट्टतौत के अनुसार किया गया है। सहृदयों ने विभावादि लिंगों द्वारा जिस रामरति का नट मे ग्रनुमान किया है वह रति नट मे वास्तविक नहीं है ग्रपितु रति का ग्रनुकरण-मात्र है ऐसी शकुक की मान्यता है। भट्टतौत ने प्रधानरूप से रति की ग्रनुकरणा-त्मकता पर ग्राक्षेप किया है।

भट्टतौत का कथन है कि शकुक ने जो रति का ग्रनुकरण बतलाया है वह न सामाजिक की प्रतीति के ग्रभिप्राय से, न नट के ग्रभिप्राय से, न वस्तुतत्त्व-विवेचक व्याख्याता की दृष्टि से और न भरत के मत से ही बन सकता है। क्योंकि जो वस्तु प्रमाण से ज्ञात होती है उसी को ग्रनुकरण कह सकते हैं। जैसे यह इस

प्रकार मद्यपान करता है यह कहकर मद्यपान के अनुकरणरूप से दुग्धपानादि की प्रत्यक्षतया प्रतीति बतलायी जाती है, तभी हम दुग्धपान को सुरापान का अनुकरण समझते हैं। और यहा नट म रामरत्यादि के अनुकरणरूप से कोई वस्तु प्रमाण द्वारा उपलब्ध नही होती। यद्यपि नट के शरीर की तथा उसमे रहने वाले मुकुट, रोमाच, गद्गदता, कटाक्षभुजाक्षेपादि की प्रत्यक्ष उपलब्धि है तथापि इनको राम की चित्तवृत्तिरूप रति का अनुकरण नही मान सकते। क्योकि शरीरादि जड हैं, चित्तवृत्ति चैतन्यप्रतिबिम्बग्रहणसामर्थ्य के द्वारा चेतन की तरह प्रतीत होती है। शरीरादि की बाह्येन्द्रियो से प्रतीति होती है। चित्तवृत्ति की प्रतीति अन्तरिन्द्रिय मन द्वारा होती है। मुकुट, कटाक्ष, भुजाक्षेपादि चेष्टाओ का आधार नटशरीर है। चित्तवृत्तिरूप रति का आधार न्यायमत से आत्मा तथा वेदान्तमत से अन्त करण है। अत इनमे अत्यन्त विलक्षणता होने से इनको रति का अनुकरण नही मान सकते। दूसरी बात यह है कि अनुकरण मे जिस वस्तु का अनुकरण किया जाता है उसका पूर्व प्रत्यक्षज्ञान अपेक्षित है और यहा नट जिस रामरति का अनुकरण कर रहा है उस (रामरति) का प्रत्यक्षज्ञान अनुकरण से पूर्व किसी को भी नही है।

यदि यह कहा जाय कि सहृदयो को नटगत चित्तवृत्ति का ज्ञान है और वह वास्तविक रामरति नही किन्तु उसका अनुकरणमात्र है। अत. तत्सदृश होने से उसे रति न कहकर रसनाम से कहा जाता है तो यहा भी यह प्रश्न उपस्थित होता है कि सहृदयो को नटगत रति की किस रूप से प्रतीति है? जिस प्रकार प्रमदादि कारणो से, कटाक्षभुजाक्षेपादि कार्यो से तथा धृत्यादि सहकारिकारणो से लौकिक रत्यादि चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है उसी रूप से नट मे सहृदयो को रतिरूप चित्तवृत्ति की प्रतीति होती है तो फिर उसे वास्तविक रतिरूप चित्तवृत्ति न मानकर रति का अनुकरण मानना असगत है। क्योकि लोक मे कार्य, कारण, सहकारिकारण से प्रतीयमान रति को अनुकरण न मानकर वास्तविक रति ही माना जाता है। यदि यह कहा जाय कि लोक मे रामादिरति के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव सत्य होते हैं और नट द्वारा प्रदर्शित विभावादि सत्य नही है। अत. क्रमश विभावादि की कार्यरूप, अनुभावादि की कारणरूप और सहकारिकारणो की सहकारिकार्यरूपरति को वास्तविक रति न मानकर उसका अनुकरण कहा गया है तो यह कहना भी उचित नही। क्योकि यदि नट द्वारा प्रदर्शित विभावादि को सहृदय कृत्रिम मानते हैं तो उनसे नट मे रामनिष्ठ रति का ही ज्ञान नही हो सकता, फिर रत्यनुकरणता का ज्ञान हो ही कैसे सकता है। क्योकि मिथ्यात्वेन ज्ञात हेतु से कभी साध्य का ज्ञान नही होता। जैसे वाष्प को धूम समझकर अग्नि का अनुमान करने वाले पुरुष को अग्नि का ज्ञान तभी हो सकता है जबकि उसे वाष्प मे होने वाले धूमज्ञान मे मिथ्यात्वज्ञान नही है। यदि मिथ्यात्वज्ञान हो गया तो फिर उससे कदापि वह्नि का अनुमान नही हो सकता।

यदि यह कहा जाय कि सहृदयो को नट द्वारा प्रदर्शित विभावादि मे कृत्रिमत्व अर्थात् मिथ्यात्व का ज्ञान है इसीलिए रति का ज्ञान न होकर रत्यनु-

करणता का ज्ञान होता है तो यह कथन भी सगत नहीं, क्योंकि भिन्न-भिन्न कारणों से होने वाले कार्य में जहाँ अनुमाता को यह ज्ञान है कि यह कार्य इसके वास्तविक कारण से उत्पन्न न होकर दूसरे कारण से उत्पन्न हुआ है उसको तो उस कार्य से वस्त्वन्तर अर्थात् कारणान्तर का अनुमान हो सकता है। जैसे वृश्चिक वृश्चिक से भी उत्पन्न होता है और गोमय (गोबर) से भी। अतः वहाँ जिसको यह ज्ञान है कि यह वृश्चिक वृश्चिक से उत्पन्न न होकर गोमय से उत्पन्न हुआ है वहाँ तो वृश्चिक से गोमयरूप कारण का अनुमान हो सकता है, किन्तु जिसको यह ज्ञान नहीं है उसे वृश्चिक को देखकर वृश्चिकरूप कारण का ही अनुमान होता है न कि गोमय का। उसी प्रकार रोमाञ्च, कटाक्ष, भुजाक्षेपादि अनुभावों का कारण वास्तविक रामादिगत रति भी है तथा रत्यनुकरण भी है। वहाँ जिस प्रमाता को यह मालूम है कि नट में कटाक्ष, भुजाक्षेपादि, रामादिगत वास्तविक रति से जन्य नहीं है,अपितु रत्यनुकरणजन्य है वहाँ तो उन अनुभावों के द्वारा रत्यनुकरणता या अनुक्रियमाण रति का अनुमान हो सकता है। किन्तु नट में कटाक्षादि अनुभावों का दर्शन करने वाले सामाजिक को यह ज्ञान नहीं है कि इन अनुभावों का कारण वास्तविक रति नहीं अपितु अनुक्रियमाण रति है। अत वहाँ अनुक्रियमाण रति का अनुमान मिथ्याज्ञान है। नटप्रदर्शित कृत्रिम विभावादि से भी उनमें कृत्रिमत्वज्ञान न होने पर वास्तविक रति का तो अनुमान हो सकता है किन्तु वास्तविक रति के अनुकरण का नहीं। जैसे धूमत्वेन ज्ञात वाष्प से अग्नि का तो अनुमान हो सकता है किन्तु अग्निसदृश जपाकुसुम का नहीं।

यदि यह माना जाय कि नट में वस्तुत क्रोधादि चित्तवृत्तियाँ नहीं हैं, किन्तु भ्रूभगादि सादृश्य के कारण सहृदय उसे क्रोधादि चित्तवृत्तियों से युक्त सा समझते हैं तो भी नट में क्रुद्धता के सादृश्य की प्रतीति सहृदयों को हुई, न कि अनुकरणता की प्रतीति। और वस्तुत तो नट में क्रोधादि-सादृश्य की प्रतीति भी सहृदयों को नहीं होती, क्योंकि वे नट को क्रोधादि भावों से शून्य नहीं समझते। अत सामाजिकों को नट में भावों की अनुकरणता की प्रतीति बतलाना सर्वथा असंगत है।

शकुक ने नट में 'यह राम है' इत्याकारक प्रतीति जो सामाजिकों को होती है, उसे सम्यक्, मिथ्या, सशय व सादृश्य इन चारों प्रतीतियों से भिन्न माना है, यह भी उचित नहीं है। क्योंकि यदि नट में रामत्वप्रतीति का उत्तरकाल में सामाजिकों को बाध है तो उस प्रतीति को मिथ्या ही मानना होगा। और यदि बाध नहीं है तो उसे सम्यक् प्रतीति मानना होगा। वस्तुत तो उत्तरकाल में बाध न होने पर भी नट में रामत्व-प्रतीति मिथ्या ही है। क्योंकि रामभिन्न नट में रामत्व का ज्ञान इस प्रतीति में है। अत. 'अतस्मिन् तद्बुद्धि मिथ्या' इस लक्षण के अनुसार उसे मिथ्या मानना ही उचित है। इसलिए नट में 'राम' इत्याकारक प्रतीति में यथार्थ तथा मिथ्याज्ञान के सम्मिश्रण से इसे एकान्तत. सम्यक् प्रतीति न मानकर एक भिन्न प्रतीति बतलाना असगत है।

शकुक ने जो यह कहा है कि नट विभावों का 'सेयं ममाङ्गेषु सुधारसच्छटा' इत्यादि काव्यों के बल से अनुसन्धान करता है, इसका यदि यह अर्थ माना जाय कि

नट काव्यानुसन्धानबल से सीतादि विभावो को अपना समझता है तो सर्वथा असगत है, क्योकि नट को सीता मे आत्मीयता-प्रतीति कभी नही होती। यदि यह अर्थ माना जाय कि नट सामाजिकों को ऐसी प्रतीति करा देता है कि सीतादि विभावो का नट से सम्बन्ध है तो फिर सहृदयो को नट मे रत्यादिक स्थायिभाव का अनुसन्धान अवश्य होना चाहिए। क्योकि नट मुख्यतया स्थायिभाव को ही रसिको की प्रतीति का विषय बनाता है और नट मे रामनिष्ठ रति है यही सहृदयो को मुख्यतया अनुमित्यात्मक प्रतीति होती है। अत सहृदयो को नट मे रति की प्रतीति होने से उनको नट मे रति की अनुकरणता का ज्ञान है यह शकुक का कथन सर्वथा असगत है। उपर्युक्त तर्कों के आधार पर सहृदयो को नट मे रति की अनुकरणता की प्रतीति नही बन सकती।

नट को स्वय भी रत्यनुकरणता की प्रतीति नही है। क्योकि नट यह कभी नही समझता कि मैं राम या राम की चित्तवृत्ति का अनुकरण कर रहा हूँ। अनुकरण शब्द के दो अर्थ हैं सदृशकरण एव पश्चात् करण क्योकि 'अनु' शब्द का प्रयोग सदृश एव पश्चात अर्थ मे होता है। यहाँ प्रथम अर्थ उचित नही, क्योकि जिसकी समानता बतलाई जा रही है, उसके ज्ञान के विना, सदृशकरण नही बन सकता। और यहाँ नट जिस रति के सादृश्य का अभिनय कर रहा है, उस मूलभूत रति का उसे ज्ञान नही है। पश्चात्करणरूप अर्थ भी यहाँ अनुकरण का ग्रहण नही किया जा सकता, क्योकि यह पश्चात्करणरूप अनुकरण तो लोक मे भी बन सकता है, अत अतिव्याप्त है। तथा व्यक्तिविशेष के स्थायी आदि का अनुकरण नट नही करता, किन्तु सीता के विलाप करते समय नट उत्तम प्रकृति वाले पुरुष के शोक का अनुकरण करता है यह कहा जाय तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि नट उत्तम प्रकृति वाले व्यक्ति के शोक का अनुकरण किस साधन के द्वारा करता है? शोक के द्वारा शोक का अनुकरण बन नही सकता, क्योकि अनुकार्य मे शोक होने पर भी अनुकर्ता नट मे शोक नही है। अश्रुपातादि अनुभावो या कार्यों के द्वारा भी शोक का अनुकरण नही बन सकता, क्योकि शोकादिभाव आन्तर व मानस हैं तथा अश्रुपातादि बाह्य एव बहिरिन्द्रियग्राह्य हैं। अत परस्पर भेद होने से आन्तर शोकादि का बाह्य अश्रुपातादि से अनुकरण अनुपपन्न है। हाँ, नट उत्तम-प्रकृतिक व्यक्ति के शोकानुभावो अर्थात् अश्रुपातादि का अनुकरण कर सकता है। किन्तु यहाँ भी यह प्रश्न है कि वह किस उत्तमप्रकृति वाले व्यक्ति के शोकानुभावो का अनुकरण है? क्योकि व्यक्तिविशेष के बिना सामान्यपुरुष बुद्ध्यारूढ नही हो सकता। अत हर किसी उत्तमप्रकृति व्यक्ति के शोकानुभावो का अनुकरण नही हो सकता। और हर किसी मे स्वय के भी अनुप्रविष्ट (सम्मिलित)होने से अनुकार्य तथा अनुकर्ता के भिन्न न होने से अनुकरण ही नही बन सकता। अपि च नट अभिनय की शिक्षा प्राप्त कर अपनी कान्ता आदि विभावो का स्मरण करता है तथा रत्यादि चित्तवृत्तियो के साधारणीभाव से कटाक्षादि अनुभावो का प्रदर्शन करता है। काकु आदि के साथ विशिष्ट भाषण-शैली से काव्य का पाठ करता हुआ रङ्गमञ्च पर चेष्टायें करता है। इससे अधिक

कुछ नहीं करना। इस बात को अनुकरण नहीं कहा जा सकता। अतः नट की दृष्टि से भी अनुकरणवाद उपपन्न नहीं हो सकता।

वस्तुवृत्त के अनुसार भी रत्यादिभावों का अनुकरण नहीं बन सकता क्योंकि अनुकार्यगत रत्यादि भाव ज्ञायमान नहीं हैं और ज्ञायमानता के बिना उनमें वस्तुवृत्तता नहीं बन सकती।

भरतमुनि के अभिप्राय से भी रत्यादि भावों का अनुकरण रस नहीं कहला सकता, क्योंकि ऐसा कोई भरतमुनि का वचन उपलब्ध नहीं होता, जो यह बतलाता हो कि स्थायिभावों का अनुकरण रस है। प्रत्युत अभिनय में ध्रुवा, गान, ताल, लय आदि लास्यांगों का प्रयोग होता है जो कि रत्याद्यनुकरण के विपरीत है।

हरिताल आदि रंगों से अभिव्यज्यमान गौ जैसे गौ का अनुकरण (सदृश) कहलाती है, उसी प्रकार विभावादि से अभिव्यज्यमान रति ही रत्यनुकरण है, यह अर्थ भी यहाँ उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि जैसे सिन्दूरादि वर्णों से वास्तविक गौ की अभिव्यक्ति नहीं होती, जैसी कि प्रदीपादि से होती है, किन्तु सिन्दूरादि वर्णों से गो-सदृश समूहविशेष की निष्पत्ति होती है। अर्थात् जैसे सिन्दूरादि वर्ण गवावयव-सन्निवेशसदृश सन्निवेशविशेष में स्थित होने पर गोसदृशव्यवहार के विषय होते हैं, उसी प्रकार विभावादिसमूह में रतिसदृशता की प्रतीति नहीं होती है। अतः अनुमीयमान रत्यादि में रतिसदृशता की प्रतीति होने पर भी रत्यादि का अनुकरण रस नहीं कहला सकता। निष्कर्ष यह है कि किसी भी दृष्टि से रत्यादि स्थायिभावों के अनुकरण शृङ्गारादि रस हैं, यह कथन नहीं बन सकता।

रसाभिव्यक्तिवादी ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन

ध्वन्यालोक में कारिकाभाग ध्वनिप्रस्थापनपरमाचार्य ध्वनिकार का है तथा कारिकाओं का वृत्तिभाग आनन्दवर्धन का है। यद्यपि ध्वनिविषयक कारिकाओं के कर्ता के नाम का उल्लेख नहीं मिलता है तथापि-'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्' (ध्वन्यालोक का० १) में प्रयुक्त सहृदयशब्द मुद्रालङ्कारद्वारा या ध्वन्य-विधया कारिकाकर्ता सहृदय है, इस तथ्य को बतला रहा है। आनन्दवर्धन ने कारिकाओं की सोदाहरण वृत्ति लिखी है। अतः ध्वनिस्थापना का श्रेय दोनों को ही है। इन दोनों ने ही वस्तु, अलङ्कार, रसादिभेद-भिन्न त्रिविध ध्वनि को तथा प्रधानतया रसादिध्वनि को व्यङ्ग्य अर्थात् व्यञ्जनावृत्ति का विषय मानकर रस के विषय में अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है।

कारिकाकार सहृदय तथा वृत्तिकार राजानक आनन्दवर्धन ने यद्यपि स्पष्टरूप से 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस रसस्वरूपप्रतिपादक भरतसूत्र की व्याख्या के रूप में रस का निरूपण नहीं किया, तथापि उन्होंने रस को अभिधा, लक्षणा तात्पर्याख्या वृत्ति तथा अनुमिति से भिन्न व्यञ्जनावृत्ति का विषय बतला कर रस के क्षेत्र में अभिनव योग प्रदान किया है जो कि आगे जाकर अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित रसस्वरूप का मूल आधार बना। सहृदय तथा आनन्दवर्धन ने यद्यपि प्रधान रूप से ध्वनि की स्थापना

की है। तथापि ध्वनि वस्तु, अलङ्कार व रसभावादि भेद से तीन प्रकार की है तथापि 'प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्' अर्थात् रसादिध्वनि से व्यतिरिक्त वस्तुध्वनि व अलङ्कारध्वनि भी प्रतीयमान है, किन्तु प्रधान होने से रसादिध्वनि ही वस्तुध्वनि व अलङ्कारध्वनि का ज्ञापक है। किसी सम्बन्ध से परस्परसम्बन्धी वस्तुओं में प्रधानवस्तु का अन्यवस्तुबोधन ही उपलक्षण कहलाता है। जैसे राजा जाता है, यह कहने पर राजा प्रधान होने से उससे भिन्न परिजनों का भी ज्ञापक है। अतः राजा परिवार का उपलक्षण है।[1] रसभावादिरूप प्रतीयमान अर्थ की प्रधानता का कारण यह है कि रसभावादि सर्वदा प्रतीयमान ही होते हैं, कभी वाच्य नहीं। और वस्तु तथा अलङ्कार कदाचित् वाच्य भी होते हैं। रसभावादि प्रतीयमान अर्थ इसलिए वाच्य नहीं कि उसका कोई वाचक शब्द है ही नहीं। सामान्य रसशब्द व विशेष शृङ्गारादि शब्दों को वाचक इसलिए नहीं माना जा सकता कि विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी आदि के द्वारा रस का प्रतिपादन न होने पर रस व शृङ्गारादि शब्दों का प्रयोग करने पर भी शृङ्गारादि रसों की प्रतीति नहीं होती। तथा शृंगारादि शब्दों का उपादान न करने पर भी विभावादि के प्रतिपादन से शृंगारादि रसों की प्रतीति हो जाती है। अतः अन्वयव्यतिरेक के द्वारा विभावादिप्रतिपादन ही रसप्रतीति का जनक है, न कि रस व शृङ्गार आदि शब्द। यदि रसप्रतिपादक हेतुओं के साथ शृङ्गारादि शब्दों का भी कहीं प्रयोग है तो वहाँ भी रस की प्रतीति तो विभावादि के प्रतिपादन से ही होती है। शृंगारादि शब्दों के द्वारा तो उस प्रतीति का अनुवादमात्र होता है।[2]

वस्तुध्वनि व अलङ्कारध्वनि की अपेक्षा रसादिरूप ध्वनि प्रधान है, अतः वही काव्य की आत्मा या जीवन है, इस तथ्य को निम्नकारिका के द्वारा ध्वनिकार सहृदय ने—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥
(ध्व० प्र० उ० का० ५)

तथा इसके वृत्तिकार आनन्दवर्धन ने 'विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्च-चारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः' इस व्याख्यान के द्वारा स्पष्ट कर दिया है। क्योंकि यहाँ वस्तु, अलङ्कार व रसभावादिरूप त्रिविध ध्वनियों में 'तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदः' इस उक्ति से रसादिध्वनि का ही प्रकरण है। तथा इस कारिका के उत्तरार्धभाग में रामायणरूप इतिहास से क्रौञ्चीरूप विभाव को तथा क्रौञ्च के आक्रन्दन, भूमितलपरिलुण्ठन आदि अनुभावों की चर्वणा द्वारा कवि के हृदय में वासनारूप से विद्यमान शोकभाव उद्बुद्ध होकर चर्व्यमाण होने पर करुणरस में

---

१. येनापि सम्बन्धेनान्योन्यसम्बन्धिषु प्रधानस्य यदन्यज्ञापनं तदुपलक्षणम्। यथा राजासौ गच्छति इत्यत्र राजा परिवारस्योपलक्षणः। (ध्वन्यालोकलोचन बालप्रिया पृ ९०)

२. ध्वन्यालोक पृ. ८०–८३

परिणत होता है। तथा करुणरसरूप शोक ही जलपरिपूर्ण घट के बाहर जल के उच्चलन की तरह उच्छलित होकर 'मा निषाद प्रतिष्ठा त्वम्' इत्यादि श्लोकात्मक काव्य बना है। अतः इतिहास से भी रसादिध्वनि में ही काव्यात्मना सिद्ध होती है। इसलिए 'स एवार्थः' से रसादिध्वनिरूप अर्थ का ग्रहण है। इस से आगे भी कारिकाकार ने—

'सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥
(ध्व० का० ६ पृ० ९१)

में अलोकसामान्य तथा स्वादु अर्थतत्व का निष्पन्दन करने वाली महाकवियों की सरस्वती (वाणी) उनके अलौकिक प्रतिभाविशेष को व्यक्त करती है, इसके द्वारा रसरूप अर्थ का ही प्रतिपादन किया है, क्योंकि वही अर्थ स्वादु तथा अलोकसामान्य होता है। वस्तुध्वनि व अलङ्कारध्वनि अलोकसामान्य नहीं होती और न एकान्ततः स्वादु ही होती है। उपर्युक्त कारिका में अलोकसामान्य पद मध्यपतित होने से अर्थवस्तु तथा प्रतिभाविशेष दोनों में अन्वित है। करुणादिरसों की निष्पत्ति विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी के संयोग से ही होती है। अतः 'क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः' की व्याख्या करते हुए आनन्दवर्धन ने 'तथा चादिकवेर्वाल्मीकेः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः'[1] इस उक्ति के द्वारा क्रौञ्ची आदि विभावादि का प्रदर्शन कर दिया है। अभिनवगुप्त ने आनन्दवर्धन के उपर्युक्त आशय को, 'क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन यः शोकः स्थायिभावः स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभावक्रमादास्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमास्वाद्यसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्चलनवत् ....समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः,'[2] अर्थात् क्रौञ्चपक्षी का अपनी सहचरी क्रौञ्ची के वध से उत्पन्न जो शोकरूप स्थायिभाव है वही[3] मृत क्रौञ्चीरूप विभाव तथा उससे उत्पन्न क्रौञ्च का विलाप, जमीन पर लोटना आदि अनुभावों की चर्वणा द्वारा उद्बुद्ध कविहृदयगत संस्काररूप शोक प्रारम्भ में हृदयसंवाद तदनन्तर शोक में तन्मयीभाव इस क्रम से आस्वाद्यमान बनकर लौकिक शोक से भिन्न, चर्वणा करने वाले सहृदय के तन्मयीभावजनित चित्त की पुलकादिरूप द्रुति के द्वारा मानसिक आस्वादप्राण करुणरसता को प्राप्त होकर जलपरिपूर्णघट के उच्चलन से जैसे जल बाहर छलक जाता है उसी प्रकार रसा-

१. ध्वन्यालोक पृ. ८८
२. लोचन पृ. ८५, ८६
३. क्रौञ्चीवधजन्य क्रौञ्चशोक तथा वाल्मीकिहृदयगत वासनात्मक शोक का अभेद मान कर लोचन में 'स एव' तथा अर्थ में 'वही' शब्द का प्रयोग किया गया है। जैसा कि बालप्रिया टीका में कहा है—'क्रौञ्चे जातस्य शोकस्य वासनात्मनादिकवौ स्थितस्य शोकस्य चाभेदबुद्धिस्तत्रैव विवक्षिता स एवेत्युक्तम्। बालप्रिया पृ. ८५

स्वादन से अन्त करण के पूर्ण हो जाने पर वही रसरूप आनन्द बाहर छलक कर रसास्वादनोपयोगी गुणालङ्कारसंस्कृत समुचित शब्द, छन्द आदि से नियन्त्रित श्लोकरूपता को प्राप्त हो जाता है। इस सन्दर्भ के द्वारा विभावानुभावचर्वणा से उद्‌बुद्ध कविहृदय मे वासनारूप से विद्यमान शोक ही आस्वाद्यसाररूप करुणरस बनता है तथा वही, उस रस से कविहृदय के परिपूर्ण हो जाने पर, उछल कर बाहर समुचित शब्द, छन्द आदि से नियन्त्रित होकर—

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ॥

इत्यादि काव्यरूप मे परिणत हो जाता है।

आनन्दवर्धन ने काव्य का उदाहरण देकर कविगत करुणरस का निरूपण किया है, न कि सहृदयगत रस का। किन्तु दोनो मे समानता होने से जैसे विभाव व अनुभाव की चर्वणा से उद्‌बुद्ध कविहृदय मे वासनारूप से विद्यमान शोक हृदयसवादादि क्रम से आस्वाद्य होकर करुणरस बनता है, उसी प्रकार सहृदयहृदयगत शोक भी विभावादिचर्वणा से उद्‌बुद्ध होकर चर्व्यमाण होने पर करुणरस बनता है। वस्तुतः रसास्वादवेला मे कवि भी सहृदय ही होता है। बिना सहृदयता के हृदयसवाद, तन्मयीभावादि प्रक्रिया द्वारा रसास्वादन सभव ही नही है।

ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन के अनुसार कवि का सम्पूर्ण व्यापार रसाभिमुख होना चाहिए, अन्यथा वह कवि ही नही कहला सकता। इसीलिए ध्वनिकार ने कहा है—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम्।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्य महाकवेः ॥
ध्वन्यालोक तृ उ कारिका ३२ पृ ४००

आनन्दवर्धन ने भी इसकी व्याख्या करते हुए कहा है—

'अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद् रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थाना चोपनिबन्धनम्' इति।

कवि का सम्पूर्ण व्यापार रसोन्मुख होना चाहिए, इसीलिए ध्वनिकार ने—

विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥
इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्याऽप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥
सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥
उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥

अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम् ।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥
(ध्व० तृतीय उद्योत का० १०-१४)

इन कारिकाओं में विभाव, अनुभाव, स्थायिभाव तथा सञ्चारी भाव के औचित्य से युक्त कथावस्तु का उपन्यास कवि का करना चाहिए, चाहे वह कथावस्तु इतिहासप्रसिद्ध हो या कविकल्पित। इनमें विभाव तथा अनुभावों के औचित्य का ज्ञान लोकप्रसिद्धि से हो जाता है, किन्तु स्थायिभाव के औचित्य का ज्ञान नाटक के प्रधानपात्र नायक की प्रकृति के औचित्य पर निर्भर है। अतः नायकादि की उत्तमता, मध्यमता व अधमता तथा दिव्यता, अदिव्यता व दिव्यादिव्यता का विचार कर तदनुसार ही उनमें रति, उत्साह आदि का वर्णन करना चाहिए न कि अननुरूप। जैसे सम्भोगशृङ्गाररूप रति का वर्णन दिव्यप्रकृति वाले देवता आदि में नहीं करना चाहिए। उनमें सम्भोगशृङ्गार का वर्णन माता-पिता के सम्भोग-वर्णन के समान अनुचित होगा तथा सामाजिकों में विरसता उत्पन्न कर देगा। स्वर्ग-पातालादिगमन तथा समुद्रोल्लङ्घनादि उत्साह का वर्णन दिव्यप्रकृति वाले नायकों में ही करना चाहिए न कि अदिव्यप्रकृति वाले नायकों में।

इतिहासप्रसिद्ध कथावस्तु में भी रसोपयोगी परिवर्तन कवि के लिए आवश्यक है, अन्यथा उससे रसाभिव्यक्ति नहीं हो सकेगी। इतिहास में अवर्णित घटनाओं का भी वर्णन रसानुरोध में कवि को करना चाहिए। जैसे रघुवंश में अज के विवाह का वर्णन इतिहास में नहीं है, फिर भी वीररस के अनुरोध से कालिदास ने उसमें किया है। हरिविजय में भगवान् कृष्ण के द्वारा स्वर्ग से पारिजात वृक्ष का हरण इतिहास में न होने पर भी रसानुकूल होने से कवि ने किया है। क्योंकि रसाभिव्यक्ति ही कवि का मुख्य व्यापार है, न कि इतिहास का निरूपण।

रसाभिव्यक्ति के अनुकूल ही मुखप्रतिमुखादि सन्धियों तथा उपक्षेपादि सन्ध्यङ्गों की योजना प्रबन्ध में करनी चाहिए, न कि केवल शास्त्रमर्यादा का पालन करने के लिए। यथावसर रस के उद्दीपन व प्रशमन का ध्यान भी कवि को रखना चाहिए। अवसरानुसार रसों का उद्दीपन व प्रशमन करना चाहिए। जैसे रत्नावली में 'अयं स राजा उदयन' इत्यादि सदर्भ से विभावादि की परिपूरणा से शृङ्गाररस का उद्दीपन तथा वासवदत्ता के आने पर राजा के पलायननिरूपण के द्वारा सागरिका के साथ उदयन के शृङ्गार का प्रशमन बतलाया गया है। अवसरानुसार रस के उद्दीपन व प्रशमन के बिना निरन्तरता से आस्वादित रस सुकुमार मालतीकुसुम की तरह शीघ्र ही म्लानि को प्राप्त हो जायगा।[1]

अङ्गीरस का प्रबन्ध में सर्वदा अनुसन्धान रहना चाहिए। अर्थात् प्रबन्ध में जहाँ जहाँ प्रधानरस का विच्छेद प्राप्त हो, वहाँ रसाङ्गभूत विभावादि का अनुसन्धान

१ रसः सन्ततमविच्छिन्नो रसः सुकुमारमालतीकुसुमवच्छीघ्रमेव म्लानिमवलम्बते। विप्रलम्भशृङ्गार।
(ध्वन्यालोकलोचन पृ ३११)

सम्पादित करना चाहिए। जैसे 'तापसवत्सराज' नाटक मे वासवदत्ताविषयक वत्सराजगत प्रेमबन्ध विभावादि के औचित्य से करुणविप्रलम्भादि की भूमिका को प्राप्त कर सम्पूर्ण इतिवृत्त मे व्याप्त है।

रसानुकूल अलङ्कारो को ही योजना प्रबन्ध मे कवि को करनी चाहिए, न कि रसाननुगुण तथा रसविरोधी अलङ्कारो को। अन्यथा रसप्रतीति मे बाधा ही पहुँचेगी।

आनन्दवर्धन ने भी इन कारिकाओ की व्याख्या मे उदाहरण देकर इनका स्पष्ट प्रतिपादन किया है तथा अन्त मे कहा है कि काव्य का निर्माण करने वाले कवि को सदा रसपरतन्त्र रहना चाहिए। अर्थात् प्रधानदृष्टि रस पर रखनी चाहिए। रसानुकूल किसी भी वस्तु या घटना का वर्णन नही करना चाहिए। यदि कोई रसाननुकूल वस्तु हो, उसे हटाकर रसानुगुण वस्तु या घटना की योजना कर लेनी चाहिए, अन्यथा रसभङ्ग की पूर्ण सम्भावना है।[1] इसी प्रकार प्रस्तुत रस के विरोधी रस के विभावानुभावादि का उपादान नही करना चाहिए। जैसे शान्तरस के विभावो का वर्णन करने के बाद तदव्यवहितरूप से शृङ्गार के विभावादि का वर्णन शान्तरसविरोधी विभावादि का परिग्रह है। इससे शान्तरस के परिपोष मे बाधा पहुँचती है, और ऐसा करना रसभङ्ग का कारण है। प्रस्तुत रस से भिन्न उससे किसी प्रकार सम्बद्ध वस्तु का भी विस्तार से वर्णन नही करना चाहिए। जैसे विप्रलम्भशृङ्गार में किसी नायक का वर्णन प्रारम्भ होने पर यमकालङ्काररसिक कवि का विस्तार से यमकालङ्कारो द्वारा पर्वतादि का वर्णन। इसी प्रकार अनवसर मे रस का विच्छेद तथा प्रकाशन भी रसभङ्ग का कारण है। जैसे 'वीरचरित' नाटक मे द्वितीय अङ्क मे राम और परशुराम का वीररस प्रकर्ष पर पहुँच रहा था, उस समय श्रीराम की 'कङ्कणमोचनाय गच्छामि' इस उक्ति से अकाण्ड में वीररस का विच्छेद हो गया है। वेणीसंहार मे जब भीष्मादि अनेक वीरो का नाश हो रहा था उस समय करुणरस या वीररस के विरोधी, भानुमती के साथ दुर्योधन के शृङ्गार, का वर्णन अनवसर शृङ्गार का प्रकाशन है। परिपुष्ट रस का पुनः पुनः दीपन भी रसविघातक है। जैसे 'कुमारसंभव' मे 'अथ मोहपरायणा सती' इत्यादि से दीपित करुणरस का 'अथ सा पुनरेव विह्वला' इत्यादि उक्तियो से पुनः पुनः दीपन बतलाया गया है। इसीलिए ध्वनिकार ने—

> विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः।
> विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥
> अकाण्डे एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम्।
> रसस्य स्याद्विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥

(ध्वन्यालोक तृ. उ. का. १८-१९)

---

१. कविना काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम्। तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत्। न हि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किंचित्प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः। ध्वन्यालोक पृ. ३३९

इन कारिकाओं के द्वारा रसविरोधी तत्त्वों का परिहार रसप्रवण कवि को करना चाहिए, यह स्पष्ट कहा है। आनन्दवर्धन ने इन रसभङ्गकारणों का सोदाहरण उपन्यास किया है। कवि के काव्यनिर्माण का उद्देश्य ही काव्यार्थ में रसास्वादन-रूप हृदयानुप्रवेश द्वारा सुकुमारमति राजपुत्रादि को धर्मादि में व्युत्पन्न करना है।[1]

उपर्युक्त सभी प्रकार के औचित्य का ध्यान रसपरतन्त्र कवि को रखना चाहिए, क्योंकि अनौचित्य ही प्रधानतया रसभंग का कारण है और औचित्य रसाभिव्यक्ति का मूल कारण है।[2] इसलिए कवि रसाङ्गरूप से चाहे किसी भी चेतन व अचेतन भाव का वर्णन करे, वह रसाभिव्यंजक होने से ग्राह्य व उचित है।[3] क्योंकि अचेतन पदार्थ भी वर्णनीय रस के विभावरूप से या चेतनवृत्तान्त की योजना से रसप्रवण कवि द्वारा वर्ण्यमान होने पर रसाभिव्यंजक होकर रसाङ्ग ही हो जाते हैं।[4] इसीलिए आनन्दवर्धन ने कहा है—

> भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
> व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥
>
> ध्व तृ. उ. पृ ४९८

इस प्रकार ध्वनिकारिकाकार सहृदय ने तथा वृत्तिकार आनन्दवर्धन ने रस को विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावों से अभिव्यक्त बतलाते हुए रस के विषय में अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की है।

भट्टनायक ने 'रसो नोत्पद्यते, न प्रतीयते, नाभिव्यज्यते' इस उक्ति में 'नाभिव्यज्यते' इस उक्ति से ध्वनिकार सहृदय व आनन्दवर्धन के मत का ही निराकरण किया है।

भट्टतौत का अनुव्यवसायवाद

श्री भट्टतौत जो कि अभिनवगुप्त के गुरु हैं तथा जिनका उल्लेख वे 'अस्मदुपाध्यायास्तु' इस प्रकार करते हैं, तथा रस के विषय में जिन्होंने श्री शङ्कुक के 'भावानुकरण रस' इस अनुकृतिवाद का अत्यन्त संरम्भ के साथ खण्डन किया है, रस के विषय में अनुव्यवसायवाद मानते हैं। श्री भट्टतौत ने अपने 'काव्यकौतुक' ग्रन्थ में 'नाट्य में देवादिप्राणियों के व्यक्तिगत भावों का भावन नहीं होता अपितु

---

१ अथ काव्यस्य व्युत्पादनाद्वारा प्रधानप्रयोजनं ... राजपुत्रादयस्तथा हृदयानुप्रवेश-मुखेन चतुर्वर्गोपायव्युत्पत्तिराधेया। हृदयानुप्रवेशश्च रसास्वादमय एव। (लोचन पृ ३३६)

२ अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ (ध्वन्या ३ पृ ३३०)

३ परमार्थतो ह्येतेषां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते। रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति। (ध्वन्यालोक पृ ४९७)

४ अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसविभावतया चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम्। (ध्वन्यालोक पृ ४९७)

त्रैलोक्य के भावों का अनुकीर्तनात्मक अनुव्यवसाय होता है, इस मन्तव्य का प्रतिपादन किया था। उनका वह ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं है। किन्तु

'नैकान्ततोऽस्ति देवानामसुराणां च भावनम्।
त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्॥
(ना शा १ अ का १०७)

की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने उनके मत का सक्षेप से प्रदर्शन किया है। उसीके आधार पर उनके मत का यहा दिग्दर्शन किया जा रहा है।

ब्रह्मा ने असुरों से कहा कि नाट्य में देवों व असुरों का व्यक्तिगत अनुभावन नही होता। अर्थात् नाट्य मे प्रदर्शित देवासुरादि पात्र किसी व्यक्तिविशेष के बोधक नही होते। नाट्य मे रामशब्द दशरथापत्य राम का बोधक नही है। क्योंकि राम मे 'यह राम है', इत्याकारक तत्त्वबुद्धि हमारी नही। न वह ज्ञान 'यह राम-सदृश है' इत्याकारक सादृश्यज्ञानरूप से भी बुद्धि का विषय है। न वह ज्ञान शुक्तिरजत की तरह भ्रमात्मक है। न 'गौर्वाहीक' की तरह आरोपरूप व अध्यवसायात्मक है। न चन्द्रमुख की तरह उत्प्रेक्ष्यमाण है। न चित्रपुस्त की तरह प्रतिकृतिरूप है। न गुरुशिष्यव्याख्या के स्वभाव के समान अनुकरणरूप है। न इन्द्रजाल की तरह तात्कालिक निर्माणरूप है।[1] क्योंकि इन सब ज्ञानो मे राम की विशेषरूप से उपस्थिति होती है न कि साधारण रूपसे। विशेषरूप से रामादि की उपस्थिति होने पर द्रष्टा के आत्मा का उसमे अनुप्रवेश नही हो सकता है। अत द्रष्टा उसमे तटस्थ प्रेक्षक के समान रहता है। नाट्य मे प्रदर्शित पात्रों की साधारणीकरण-प्रक्रिया के द्वारा जब तक साधारण्यरूप से प्रतीति नही होती तब तक द्रष्टा का आत्मानुप्रवेश उसमे न होने से रसास्वाद संभव नही है। पात्रों की विशेषरूप से उपस्थिति कराने वाला काव्य इतिहासमात्र हो जायगा, काव्य ही नहीं कहलायेगा। राम सीतादि पात्रों की विशेपरूप से उपस्थिति होने पर लौकिक पति-पत्नी के प्रणयव्यवहार को देखने से जैसे द्रष्टा में लज्जा, हर्ष, द्वेष, क्रोध आदि वृत्तियां उत्पन्न होती हैं उसी प्रकार काव्यनाट्यवर्णित पात्रों के प्रणयव्यवहार से भी लज्जादि वृत्तियों का उदय ही सहृदयहृदय मे होगा। अत इतिहासवर्णित पात्रों की अपेक्षा काव्यवर्णित पात्रों मे विशेषता माननी पड़ती है। इतिहास मे वर्णित पात्र रामादि व्यक्तिविशेष तथा उनके जीवनविशेष से सम्बन्ध रखते हैं जब कि दोषविरहित व गुणालङ्कार मे संस्कृत समुचित शब्दों से उपस्थापित काव्य के

1. तथाहि—तेषु न तत्त्वेन धी। न सादृश्येन यमनकवत्। न भ्रान्तत्वेन स्पष्टस्मृतिपूर्वकशुक्तिरूप्यवत्। नारोपेण सम्यग्ज्ञानबाधानन्तरमिथ्याज्ञानरूपम्। न तदध्यवसायेन गौर्वाहीकवत्। नोत्प्रेक्ष्यमाणत्वेन चन्द्रमुखवत्। न तत्प्रतिकृतित्वेन चित्रपुस्तवत्। न तदनुकारेण गुरुशिष्यव्याख्याहेवाकवत्। न तात्कालिकनिर्माणेन्द्रजालवत्। न युक्तिविरचितहस्तलाघवादिमायावत्। सर्वत्रैषु परोक्षसाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात्। अदेशकनियतवर्णनीयनिर्विघ्नत्वे काव्यस्यैवासम्भवात् रसौचित्याभावर्जनयोगात्।

रामादि पात्र दोषराहित्य व गुणालङ्कारसंस्कृत शब्दों से उपस्थिति के कारण विशेषरूप वाले न होकर साधारणरूप से युक्त होते हैं। वहाँ रामादिपात्र धीरोदात्तादि प्रवन्धाओं के बोधक हैं न कि रामादि व्यक्तिविशेष के। उन पात्रों में साधारण्य के कारण पाठक व प्रेक्षक की आत्मा का अनुप्रवेश हो जाता है और उसमें हृदयसंवादपूर्वक सहृदय की चित्तवृत्ति निमग्न हो जाती है।

यद्यपि रामायणादिरूप महाकाव्यों से रामादि का विशेषरूप से ही ज्ञान होता है। किन्तु विशेषरूप से उपस्थित पात्रों में वर्तमानकाल में ही अर्थक्रिया-कारित्व सामर्थ्य होता है, और रामादि पात्रों मे वर्तमानकालता का अभाव है। अत उन पात्रों मे विशेषबुद्धि का परिहार हो जाता है और साधारणरूप से ही उनकी प्रतीति होती है।[1] इतिहासादि में कथामात्र में साधारणीभाव हो जाने पर 'एव ये कुर्वन्ति तेषामेतत (फल) भवति' जो ऐसा करते हैं उनको इस फल की प्राप्ति होती है, यह वाक्य जैसे चमत्कारजनक नहीं है वैसे कथामात्र का साधारणीभाव सहृदयों के लिए चमत्कारजनक नहीं होगा। अत उसमें सहृदयो की चित्तवृत्ति निमग्न न हो सकेगी।

गुणालकारसंस्कृत होने से मनोहरशब्दार्थरूप शरीर वाले तथा लोकोत्तररसरूप प्राण वाले काव्य मे यद्यपि पात्रों के साधारण्य के द्वारा हृदयसंवाद के कारण सहृदय की चित्तवृत्ति निमग्न हो जाती है, तथापि प्रत्येक सहृदय को काव्यार्थ का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान उससे नहीं होता। किन्तु जिनको काव्यपरिशीलन का अभ्यास है तथा जिनके प्राक्तन पुण्य हैं उन्हीं सहृदयों को परिमित विभावादि के वर्णन से भी काव्यार्थ की स्पष्ट प्रत्यक्षात्मक प्रतीति हो सकती है, दूसरों को नहीं।[2] और नाट्य, जिनका मनोमुकुर अति निर्मल नहीं है, ऐसे अहृदयपुरुषों के चित्त को भी गीत वाद्य आदि की उचित सगति से निर्मल बना देता है। अत नाट्य में अहृदयों को चित्तवृत्ति भी निर्मल बन जाती है। जिससे नाट्यार्थ की साक्षात्कारात्मिका स्पष्ट प्रतीति उन को भी हो जाती है और उनकी चित्तवृत्ति भी नाट्यार्थरूप रस में पूर्णतया निमग्न हो जाती है। काव्यपरिशीलनाभ्यास तथा प्राक्तन पुण्य आदि कारणों से जिनका मनोमुकुर निर्मल है ऐसे सहृदयों के चित्त को भी नाट्यसामग्री अतिशय निर्मल बना देती है। जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है—'ये काव्याभ्यासप्राक्तनपुण्यादिहेतुभि. सहृदया .. तेषामपि तु नाट्य 'निरन्तरं स्फुरिता अतिशयमय.'

---

1. रामादयो न कदाचन प्रत्यक्षवदवभासन्ते यथात्मनः प्रत्यक्षः। ततः तद्विशेषबुद्धि यदपि रामायणादिभ्यो महाकाव्येभ्यः उत्पद्यते तथा वर्तमानत्वेन विशेषाणां सम्भावनादप्रतिपत्तिः... [illegible] वर्तमानत्वानुपलब्धेः। न च तथा वर्तमानत्वानुपपत्तौ तद्विशेषबुद्धि।

2. काव्ये तु गुणालङ्कारमनोहरशब्दशरीरे लोकोत्तररसप्राणे हृदयसंवादवशात् निमग्नाकारिता भवत्यपि चित्तवृत्तिः। किन्तु सर्वस्य प्रत्यक्षायमाणा तत्र न प्रवर्तते। (अ भा पृ ३६)

इति न्यायेन सुतरा निर्मलीकरणम्। अहृदयाना च तदेव नैर्मल्याधायि' इति (अ भा पृ २८७)।

इस प्रकार नाट्य मे गीत, वाद्य आदि की सगति से तथा वाचिकादि अभिनय के कारण प्रत्येक प्रेक्षक का हृदयमुकुर निर्मल बन जाता है तब अभिनय द्वारा प्रदर्शित रामादि पात्र देश-काल-व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से रहित होकर साधारणरूप से प्रतीत होते हैं। निर्मलहृदयता के कारण साधारणीभाव से वर्णित शोकादि भावों मे प्रेक्षक का तन्मयीभाव होजाता है। इसी तन्मयीभाव के कारण तथा साधारण्य से प्रतीति के कारण उसमे प्रेक्षक के आत्मा का अनुप्रवेश हो जाता है। किन्तु प्रेक्षक का आत्मानुप्रवेश भी मैं या मेरी आत्मा इस प्रकार विशेषरूप से न होकर साधारणरूप से अर्थात् आत्मत्वेन ही होता है। अत नाट्य में अभिनय द्वारा प्रदर्शित पात्र व घटना के साधारणीभाव के कारण सभी का आत्मानुप्रवेश होने से प्रक्षक सकल विश्व को ही उस भाव से ओतप्रोत देखता है। और सीतादि विभावो व अनुभावों का साधारणीकरण होने से वे लोकसम्बन्ध से व लौकिकता से अतीत हो जाते हैं। अतएव लोक की तरह वे भाव सुख दु ख-जनक नही रहते। अपितु वे भाव सत्वोद्रेक के कारण चित्त के अन्तर्मुख होने से *आनन्दरूप आत्मा के साथ मिल कर आस्वाद्यमान* होते हैं और एकान्तत आनन्द के जनक बन जाते हैं। इस प्रकार नाट्य मे आङ्गिक, वाचिक, सात्त्विक तथा आहार्य अभिनया से नट द्वारा प्रदर्शित भाव साधारणीभाव से उपस्थित होने के कारण सभी प्रेक्षकों का उस म आत्मानुप्रवेश होने से तन्मयीभाव द्वारा आस्वाद्यमान होकर एकान्तत सुख के जनक होते हैं। इसलिए यह केवल व्यक्तिविशेष के भावो का अनुभावन नहीं है, अपितु त्रैलोक्य के भावो का अनुकीर्तन है। यह अनुकीर्तनविशेष ही अनुव्यवसाय कहलाता है। क्योकि प्रारम्भ मे देश कालव्यक्तिविशेषसम्बन्धित भावो का ही ज्ञान होता है किन्तु बाद मे अभिनयादि द्वारा देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धिता का परिहार होकर मन द्वारा साधारणीभाव से उन भावा का मानस ज्ञान होता है। उसी प्रथम जायमान देशकालव्यक्तिविशेष-सम्बन्धी ज्ञान का साधारण्य से पुन मानसज्ञान हुआ है अत ज्ञानविषयक मानस-ज्ञान होने से इसे अनुव्यवसाय कहा जाता है। इसलिए अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती मे, "अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय। तस्य च ग्रीवाभङ्गाभि-रामम्' इति (शाकु० अङ्क १) 'उमापि नीलालक' इति (कुमा० २, ६२) 'हरस्तु किञ्चित्' (कुमा० ३, ६७) इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तर मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहृमिततद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते" इति (अ० भा० पृ० २७६), अर्थात् प्रथमत शब्दो या वाक्यो से देशकालव्यक्ति-विशेषविशिष्ट वस्तु का या वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। पश्चात् देशकालव्यक्ति-विशेषसम्बन्धरहित वाक्यार्थ का या वस्तु का मानससाक्षात्कारात्मक ज्ञान विमल-प्रतिभाशाली हृदय वाले सहृदय को होता है। यह साधारणीकृत ज्ञानरूप मानस-साक्षात्कार ही अनुव्यवसाय है। यह अनुव्यवसाय नियतव्यक्तिविशेषसम्बद्ध भाव का

अनुकरण नही कहला सकता, क्योंकि वहाँ नियतता नही रही है । और अनियत का अनुकरण भी बन नही सकता, क्योंकि अनुकरण विशेष का ही सभव है, सामान्य का नहीं । 'अनु' का सादृश्य अर्थ मान कर सादृश्यकरणरूप अनुकरण भी नही बन सकता, क्योंकि नट यदि सदृश अनुकरण करेगा तो किसके सदृश करेगा? यदि कहा जाय कि रामादि के सदृश नट करता है तो यह उपपन्न नही, क्योंकि रामादि अनुकार्य की उस समय सत्ता नहीं है। और सदृशकरण अनुकार्य व अनुकर्ता दोनो के होने पर ही बन सकता है । रामादि की शोकक्रोधादि चित्तवृत्तियों का अनुकरण सभव नही, क्योंकि नट मे रामसदृश शोकादि की सत्ता नही है । और यदि है तो उसमे शोकादि की वास्तविक सत्ता होने से उसे शोकादि का अनुकरण नही कहा जा सकता । रामनिष्ठ शोकादि से उत्पन्न अश्रुपातादि अनुभावों का नट अवश्य प्रदर्शन करता है, किन्तु वे अनुभाव रामादि अनुकार्य के शोकादि से उत्पन्न अनुभावों के सजातीय हैं न कि शोकादि के सदृश । क्योंकि विशेष का विशेष से सादृश्य होता है न कि साधारण के साथ विशेष का सादृश्य । साधारणरूप पदार्थ के साथ सादृश्य सर्वथा अनुपपन्न है ।[1]

सजातीयता सामान्य के साथ भी बन जाती है । क्योंकि अनुकार्य मे रहने वाले जो शोकजन्य अश्रुपातादि अनुभाव हैं उनमे जो अश्रुपातत्वादि जाति रहती है वही जाति नट द्वारा क्रियमाण अश्रुपातादि शोकानुभावों मे है । दो वस्तुओं में सादृश्य तब होता है जबकि एक वस्तु के बहुत से धर्मों, अवयवों की समानता दूसरी वस्तु मे होती है ।[2] जैसे 'गोसदृशो गवय' में गौ का सादृश्य गवय से बतलाया है तो गवय मे गौ के बहुत से अवयवों की समानता है । और उस समानता का ज्ञान गाय का बिना देखे नही बन सकता । और प्रकृत में अनुकार्य रामादि के शोकानुभावों का प्रत्यक्ष है नही, अत उनकी समानता का ज्ञान नट द्वारा अनुक्रियमाण शोकानुभावों मे नही हो सकता । और सादृश्य विशेष के साथ विशेष का होता है जबकि साजात्य समान्य के साथ भी हो सकता है । अत उसे अनुकार न मानकर अनुव्यवसाय ही माना जा सकता है ।

निष्कर्ष यह है कि नाट्यार्थ अनुव्यवसायविशेष का विषय है । नाट्य में जब नट अभिनय करता है उस समय तत्तद्देशकालविशिष्ट चैत्रमैत्रादिसज्ञक नट-विशेष का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता, क्योंकि रामादिसदृश वेषभूषापरिधान से उसमें नटविशेष का परिहार हो जाता है । विशेषनेश के बिना अभिनय करने वाले का प्रत्यक्षज्ञान नही हो सकता जब कि उसका प्रत्यक्षज्ञान सर्वानुभवसिद्ध है । अत. उस के लिए वहाँ रामादिशब्द का उपयोग किया जाता है । और रामस्वरूपविशेषता के कारण अभिनेता का प्रत्यक्ष बन जाता है । किन्तु रामादिव्यक्तिविशेष का भी वहाँ ज्ञान नही है । रामादिशब्द वहाँ केवल धीरोदात्तादि अवस्थावाले

१ तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्व सादृश्यम् । न्यायसिद्धान्तमुक्तावली पृ० ३
२ अ० भा० पृ० ३७

आदरणीय आदर्शचरित के बोधक हैं न कि व्यक्तिविशेष के । इसीलिए धनञ्जय ने कहा है—'धीरोदात्ताद्यवस्थाना रामादिः प्रतिपादक.' (द० रू० ४ प्र० का० ४०)।

अर्थात् नाटकादि मे वर्णित अनुकार्य रामादि तदनुकूल धीरोदात्त आदि अवस्थाओं के प्रतिपादक है न कि व्यक्तिविशेष के । धनिक ने भी निम्न सन्दर्भ से इसी तथ्य का स्पष्टीकरण किया है 'न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासादिवत् उपनिबध्नन्ति, किं तर्हि ? सर्व-लोकसाधरणा स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधी· धीरोदात्ताद्यवस्था: क्वचिदाश्रयमात्रदा-यिनी:' (अवलोक पृ. २५५, २५६) । कवि योगी की तरह ध्याननेत्र से ध्यान करके रामादि की व्यक्तिगत अवस्था का इतिहासादि की तरह वर्णन नही करते अपितु किसी को आश्रय बनाकर स्वकल्पना का समावेश कर सर्वलोकसाधारण धीरोदा-त्तादि अवस्थाओ का वर्णन करते हैं । नाटकादि मे वर्णित सीतादिशब्द जनकतनया, रामभार्या आदि विशेषताओं का परित्याग कर कान्तामात्र के बोधक बन जाते हैं, तभी वे सामाजिको मे रसोद्‌बोध के कारण होते हैं । नाट्य मे नटके लिए रामशब्द का उपयोग इसीलिए भी किया गया है कि जिससे कथावस्तु मे अलौकिक समुद्र-लङ्घनादि कार्यों का वर्णन होने से नाट्यवस्तु मे असभावना की प्रतीति न हो । इस प्रकार सर्वविधविशेषताओ से रहित नाट्यार्थ है । प्रत्यक्षकल्प नाट्य मे हृदयावर्जक गीतवाद्यादि के द्वारा वह अर्थ चमत्कारयुक्त बन जाता है और चमत्कारपूर्ण वस्तु हृदय मे अनुप्रवेश की योग्यता प्राप्त कर लेती है । रामसदृश आङ्गिकादि चतुर्विध अभिनय के द्वारा नट के स्वरूप का आच्छादन हो जाता है फिर भी प्रस्तावनादि के द्वारा नटज्ञानजन्य सस्कार नट में रहता है । नट मे अभिनय से पूर्व लोक मे प्रत्यक्ष, अनुमानादिजन्य रति के सस्कार भी हैं, सहृदयता के सस्कार भी हैं, क्योकि उसमे भी वर्णनीय रत्यादिभावों मे तन्मयीभवन की योग्यता है । इसलिए वह सहृदयों मे हृदयसवाद व तन्मयीभाव उत्पन्न करने मे सहायक है । इन सब तत्वो से युक्त नट अभिनयकाल मे जिस साधारणीकृत रत्यादिभावो के ज्ञानरूप अनुव्यवसाय को सहृदयो मे उत्पन्न करता है, वह अनुव्यवसाय सुखदु खाद्याकार चित्तवृत्ति से चित्रित स्वप्रकाशानन्दमय है । इसलिए लौकिकप्रत्यक्षादि ज्ञानो से विलक्षण रसन, आस्वादन, चमत्कार, चर्वणा, निर्वेश, भोग आदि शब्दो का पर्यायवाची हैं । इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञान मे जिस साधारणीकृत, सर्वविधविशेषताशून्य सामान्य रत्यादिभावो की प्रतीति होती हैं वही नाट्य है ।'

---

१. तथा चाहार्यविशेषादिना निवृत्ते तद्देशकालचैत्रमैत्रादिनटविशेषप्रत्ययाभिमाने विशेष-लेशोपक्रमेण च विना प्रत्यक्षाप्रवृत्तेरापाते रामादिशब्दस्याप्युपयोगात् प्रसिद्धतदर्थ-माऽऽदरणीयचरितवाचकस्यासम्भावनामात्रनिराकरणेनानुव्यवसायस्य प्रत्यक्षकल्पनाट्य हृद्यगीताद्यनुस्यूततया चमत्कारस्थानत्वाद्धृदयानुप्रवेशयोग्यत्वमभिनयचतुष्टयेन स्वरूप-प्रच्छादनं, प्रस्तावनादिना नटज्ञानसंस्कारमाचिन्त्य तेन रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वस्वभावेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनितसंस्कारसहायेन सहृदय-संस्कारसचिवेन हृदयसंवादतन्मयीभावनासहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन योऽनुव्यवसायो जन्यते सुखदुःखाकाराकारितचित्तवृत्तिरूपस्वपिनिजसंविदानन्दप्रकाशमय, अत एव विचित्रो रसनास्वादनचमत्कारचर्वणनिर्वेशभोगादिपर्याय. । तत्र यदवभासते वस्तु तन्नाट्यम् । अ. भा. पृ. ३७ ।

बाह्यार्थरसवादी मत

शंकुक तथा भट्टनायक के बीच अभिनव भारती मे रसविषयक एक अन्य मत का उल्लेख किया गया है। यह मत किसका है ? इसका उल्लेख तो अभिनवभारती में नही मिलता किन्तु उसकी मूलभित्ति स्थूलदृष्टिपरक साख्यविचारधारा है। यह उस मत के विवेचन से स्पष्ट प्रतीत होता है। अतः रसविषयक इस मत के ज्ञान के लिए साख्यदर्शन की विचारधारा को समझना आवश्यक है। यहाँ संक्षेप मे उसका निरूपण किया जा रहा है :—

साख्य-दर्शन के अनुसार महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्च तन्मात्राएँ, पञ्च ज्ञानेन्द्रियाँ, पञ्च कर्मेन्द्रियाँ, मन तथा पञ्चभूत ये २३ व्यक्त तत्त्व हैं। मूलप्रकृति अव्यक्त है, पुरुष चैतन्यरूप है। प्रकृत्यादि २४ तत्त्व जड तथा सुख-दुःखमोहस्वभाव वाले हैं। इनमें मूलप्रकृति सत्त्व, रजस् तथा तमस् की समष्टि है। इनमें सत्त्व का स्वरूप सुख, रजोगुण का स्वरूप दु.ख तथा तमोगुण का स्वरूप मोह या विषाद है अतः गुणत्रयात्मिका प्रकृति भी सुखदु.खमोहस्वभावात्मिका है। प्रकृति से जिन महत्तत्त्वादि २३ तत्त्वों का विकास हुआ है वे भी "कारणगुणाः कार्यगुणान् आरभन्ते" इस न्याय के अनुसार त्रिगुणात्मक होने से सुख-दुःखमोहस्वभावात्मक हैं। इस प्रकार पञ्चभूतों से आविर्भूत होने वाले ससार के सम्पूर्ण पदार्थ भी सुख-दुःखमोहस्वभाव से युक्त हैं। अत. सभी पदार्थ सुख, दु:ख मोह उत्पन्न करने वाले हैं। ईश्वरकृष्ण ने साख्यकारिका[1] मे इसीलिए प्रकृति व महत्तत्त्वादि तत्त्वो को अविवेकित्व आदि धर्मों से युक्त बतलाया है। उपर्युक्त रीति से ससार के सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक होने से सुख-दु.खमोहस्वभावात्मक हैं, तथा इन्द्रियो द्वारा इन विषयो के पुरुष के अन्तःकरण या बुद्धि मे पहुँचने पर ये पदार्थ उसे भी सुख-दु.खमोह से समन्वित करने मे समर्थ होते हैं। क्योंकि इन्द्रियो द्वारा बुद्धि मे पहुँचकर ये विषय बुद्धि को भी अपने राग से उपरक्त कर देते हैं और उसमें प्रतिबिम्बित पुरुष भी उन धर्मो से युक्त सा प्रतीत होता है। किन्तु पुरुष उस दशा मे भी वस्तुतः इन विषयो से उपरक्त नहीं बनता। वह सर्वदा गुणातीत, असग[2] तथा सुख-दुःखादि सभी द्वन्द्वों व वस्तुओं से असस्पृष्ट रहता है किन्तु विषयाकाराकारित अतएव सुखदु.खादियुक्त बुद्धि में चैतन्य का प्रतिफलन होने से पुरुष अविवेक(बुद्ध्यादि के साथ अपना भेद न समझने) के कारण मिथ्या ही बुद्धि के सुख-दु ख से अपने आपको सपृक्त समझता है। इसी

---

१. अविवेक्यादेः सिद्धिः त्रैगुण्यात् तद्विपर्ययाभावात्।
कारणगुणात्मकत्वात् कार्यस्य ...... सा. का. १७
त्रिगुणमविवेकि विषयः सामान्यमचेतन प्रसवधर्मि।
व्यक्तं तथा प्रधान तद्विपरीतस्तथा च पुमान् ॥ —सां. का. १२।

२. 'असगो ह्यय पुरुष' बृहदारण्यक उप. ४,३,१५

तथ्य का गीता में भी प्रतिपादन किया गया है।[1] ईश्वर कृष्ण ने सांख्यकारिका में इसीलिए पुरुष को संसार, मुक्ति तथा बन्धनादि से रहित बतलाया है।[2]

सांख्यदर्शन की विचारधारा के परिज्ञान के साथ भरत के रस-सूत्र के स्पष्टीकरण के लिए दिये हुए दृष्टान्तवचन का परिज्ञान भी आवश्यक है, जिस पर यह रसविषयक मत आधारित है। आचार्य भरत ने रस-विषयक दृष्टान्त का उपन्यास करते हुए कहा है कि व्यञ्जन, ओषधि तथा गुडादि के संयोग से जिस प्रकार लोकविलक्षण षाडवादि रस की निष्पत्ति होती है उसी प्रकार विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिरूप नाना भावों से प्रत्यक्षकल्प बने हुए स्थायिभाव रसत्व को प्राप्त होते हैं।[3]

अभिनवगुप्त ने *'गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च'* इस भरतवचन की व्याख्या करते हुए व्यञ्जनशब्द से दधि, कांजी आदि जलात्मक उपसेचनद्रव्यों का ग्रहण किया है। ओषधिशब्द से गोधूमचिञ्चाहरिद्रादि का तथा द्रव्यशब्द से गुडादि द्रव्यों का ग्रहण किया है। तथा पाक द्वारा उपर्युक्त पदार्थों की कुशलपुरुष द्वारा सम्पादित सम्यग् योजना से मधुर, तिक्त, अम्ल आदि लोकप्रसिद्ध रसों से विलक्षण षाडवादि रस की निष्पत्ति बतलायी है।[4]

इसी का अधिक स्पष्टीकरण करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि अलौकिक षाडवादि रसों की निष्पत्ति में दधि, कांजी आदि उपसेचनद्रव्यात्मक जल, *प्रधानतया षाडवादिरस का व्यञ्जक होने से, विभावस्थानीय है।* क्योंकि जैसे काव्य व नाट्य में रसत्व को प्राप्त होने वाले *स्थायिभाव का प्रधानतया* व्यञ्जक विभाव होता है उसी प्रकार दही, कांजी आदिरूप जल ही प्रधानतया षाडवादि रस का व्यञ्जक है। गुडादिद्रव्य षाडवादि रसों में स्वकीय मधुरादि रस का संक्रमण कर उनके उपरंजक व वैचित्र्याधायक होने से व्यभिचारिभाव-

---

१. पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान् ॥ (गीता अ १३ श्लो २१)
प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ (गीता अ ३ श्लोक २७)

२ तस्मान्न बध्यते न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।
संसरति मुच्यते बध्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥ सा का ६२

३. तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः । को दृष्टान्त ? उच्यते यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः तथा नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः । यथाहि गुडादिभिर्द्रव्यैर्व्यञ्जनैरोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्त्यन्ते तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमुपयान्ति । ना शा अ ६ पृ २८७

४. व्यञ्जनमुपसेचनद्रव्यम्, तच्च नानाविधमधुरादिभेदाद् दधिकाञ्जिकादि । ओषधयश्चिञ्चागोधूमहरिद्रादयः । द्रव्यं गुडादि । एषां पाकक्रमेण सम्यग् योजनाकुशल-सम्पादितात् संयोगात् लोकप्रसिद्धेभ्यः परस्परविविक्तेभ्यो मधुरतिक्ताम्ललवणकटुकषायेभ्यो विशेषेभ्यश्च विलक्षणाः षाडवशब्दवाच्यो निर्वर्त्यन्ते । अ. भा पृ २८८

स्थानीय है। क्योंकि व्यभिचारिभाव नाट्यरस में स्वधर्मसंक्रमण द्वारा वैचित्र्याधायक ही होते हैं। चिञ्चादि औषधिद्रव्य जो कि अनुभावस्थानीय हैं, वे भी दधि, काजी आदि में स्वकीय अम्लादि रस के संक्रमण द्वारा उसके संस्कारक ही हैं। इस तरह जैसे दधि, काजी आदि जलरूप उपसेचनात्मकद्रव्य प्रधानतया षाडवरस के व्यञ्जक या निष्पादक होने से विभावकोटि में तथा चिञ्चाहरिद्रादि औषधियाँ, गुडादिद्रव्य इस रस के संस्कारक होने से संस्कारककोटि में आते हैं। उसी प्रकार काव्यरस में सीतादिविभाव रसत्व को प्राप्त होने वाले स्थायिभाव के प्रधानतया व्यञ्जक हैं और कटाक्षादि अनुभाव व लज्जा, औत्सुक्यादि व्यभिचारिभाव वैचित्र्याधान द्वारा उसके संस्कारक हैं।

प्रकृतरसस्वरूप सांख्यदर्शन तथा भरत के उपर्युक्त दृष्टान्तवचन पर ही आधारित है। प्रकृतरस के इस व्याख्याकार ने माना है कि सुखदुःखोत्पादनसामर्थ्य से युक्त बाह्य विभावादिसामग्री ही रस है। वह सामग्री त्रिगुणात्मक होने से सुखदु खस्वभाव वाली है अत रस भी सुखदु खस्वभावात्मक है। विभावादिरूप बाह्य सामग्री से उत्पन्न होने वाले सुखदु खस्वभावात्मक आन्तर स्थायिभाव हैं। इस बाह्य विभावादिसामग्री में स्थायिभाव के निष्पादक सीतादिविभाव, षाडवरसव्यञ्जक दधि, काजी आदि जल के स्थानापन्न हैं। कटाक्षभुजाक्षेपादि अनुभाव तथा लज्जौत्सुक्यादि व्यभिचारिभाव वैचित्र्याधान द्वारा चिञ्चादि औषधि तथा गुडादि के स्थानापन्न अर्थात् संस्कारक हैं। इस तथ्य का स्पष्टीकरण 'सुखदु.खजननशक्तियुक्ता विषयसामग्री बाह्यैव सा नदृशा सुखदु खस्वभावो रस.। तस्या च सामग्र्या जलस्थानीया विभावा। संस्कारका अनुभावव्यभिचारिण.' इति, (अ भा पृ २७६) इस उक्ति से अभिनवभारती में किया गया है।

यद्यपि यहा प्रकाशित अभिनवभारती म 'दलस्थानीया विभावा.' इस प्रकार का पाठ मिलता है। तथा आचार्य विश्वेश्वर, डा नगेन्द्र एव डा प्रेमस्वरूप व श्री नगीनदास पारेख आदि ने इसी पाठ को अंगीकार कर दल शब्द का उपादान आदि अर्थ करके इसकी व्याख्याए प्रस्तुत की हैं। किन्तु मेरे विचार मे यहा 'जलस्थानीया विभावा ' यह पाठ उपयुक्त प्रतीत होता है। जैसाकि अनुपद ही अभिनवगुप्त की व्याख्या के द्वारा बतलाया जा चुका है।

निष्कर्ष है कि जैसे लोक मे तीनो पदार्थ (द्रव्य, व्यञ्जन, औषधि) बाह्य हैं उसी प्रकार इस मत मे भी नाट्यरस के घटक तीनों तत्व (विभाव, अनुभाव,

---

१ 'एतदुक्तं भवति—यथा [illegible] दावल्लौकिका रसा जायते। तत्र च प्रधानत्वेन [illegible] स्थायिव्यञ्जकस्य निष्पादकस्य विभावस्थानीयम्। चिञ्चाहरिद्राद्यनुभावस्थानम्। इह तु गुडादि तदुपचुक्रादिस्वादविशेषस्य व्यभिचारिस्थानम्, स्वस्मिन् [illegible], यत्र च स्वरसमुत्पन्नस्य वैचित्र्याधायकत्वात्। अत्र तु स्थायिवदनन्य-[illegible] विभावव्यभिचार्यनुभावसंस्कृता [illegible], स हि लौकिक।

(अ भा. पृ २८८)

व्यभिचारी) इस व्याख्याकार की दृष्टि से बाह्य हैं। यह व्याख्याकार जलरूप व्यञ्जनों, गुडादि द्रव्यों व चिञ्चा आदि ओषधियों के सयोग से षाडवादि रसों की निष्पत्ति होती है—इस भरत के कथन को इस रूप में ग्रहण करता है कि प्रधानतया दध्यादि जलरूप व्यञ्जन ही सस्कारक गुडादिद्रव्य व चिञ्चादि ओषधि के सयोग से षाडवादि रस बन जाते हैं। इसीलिए काव्यरस व नाट्यरस को प्रस्तुत करते हुए इस व्याख्याकार ने विभावों को जलस्थानीय तथा अनुभाव व व्यभिचारियों को सस्कारक बतलाते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि विभाव ही अनुभावों व व्यभिचारी भावों से सस्कृत होकर नाट्यरस बनते हैं। विभावादि बाह्यसामग्रीरूप रस का आस्वादन करने वाले सहृदय के चित्त में रत्यादि आन्तरभाव उत्पन्न होते हैं। ये रत्यादि ही स्थायिभाव हैं। ये आन्तर रत्यादि स्थायिभाव भी सुखदु खस्वभाव वाले हैं। इस प्रकार इस व्याख्याकार ने सुखदु.खादिस्वभाव वाली, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावों से सस्कृत, विभावादि बाह्यसामग्री को रस माना है तथा आन्तर रत्यादि स्थायिभावों को रस से जन्य स्वीकार किया है। इस मत में रस केवल आनन्दमय न होकर सुखदु खादिस्वभाव वाला है और उससे उत्पन्न आन्तर रत्यादि स्थायिभाव भी केवल सुखमय न होकर सुख-दु खस्वभावात्मक हैं। इसने रस और स्थायिभावों में जन्य-जनकभाव माना है। जिस प्रकार साख्यसिद्धान्त में सुख दुखादिस्वभावात्मक बाह्य रूप स्पर्श आदि सामग्री से बुद्धि में आन्तर सुख-दु खादिस्वभावात्मक भाव उत्पन्न होते हैं उसी प्रकार सुखदु खस्वभावात्मक बाह्य विभावादिसामग्रीरूप रस में भी आन्तर सुखदु खस्वभावात्मक रत्यादि स्थायिभाव उत्पन्न होते हैं। इसीलिए इस व्याख्याकार ने स्पष्ट रूप से रत्यादि स्थायी भावों को आन्तर एव विभावादि बाह्यसामग्री से जन्य माना है। यहा जन्यशब्द से अभिव्यक्त अर्थ का ही ग्रहण करना चाहिए। क्योंकि सत्कार्यवादी साख्य किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति स्वीकार नहीं करता। किन्तु अव्यक्त रूप में पूर्व विद्यमान वस्तु की कारण-सामग्री के बल से व्यक्तरूप में स्थिति मानता है।

इस मत के अनुसार साख्यदर्शन का यही आधार यहा ग्रहण किया गया है कि बाह्य व आन्तर सभी पदार्थ त्रिगुणात्मक प्रकृति से विकसित होने के कारण सुख-दु खस्वभाव वाले हैं तथा आन्तर भावों की अभिव्यक्ति बाह्य सामग्री से होती है।

इस मत का, लोकापेक्षया स्थायिभाव ही रसरूप में परिणत होते हैं[1] इस कथन से, विरोध आता है। उसका परिहार इसमें इन वचनों को औपचारिक मानकर किया है। अर्थात् 'आयुर्घृतम्' (घृत ही आयु है) इस वाक्य में आयु और घृत में जन्यजनकभाव होने पर भी आरोपा लक्षणा द्वारा उनमें अभेद मानकर आयु से अभिन्न घृत को बतला दिया है[2] उसी प्रकार विभावादि बाह्यसामग्रीरूप रस तथा

---

१ 'स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम' ना शा पृ २९९

२ आयुर्जनकत्वात् घृतमायुष्ट्वेन लक्ष्यते। तेनायुरभिन्न घृतमिति बोध। का. प्र. बालबोधिनी पृ ५१

आन्तर स्थायिभावरूप रत्यादि मे जन्य जनकभाव होने पर भी उपर्युक्त वाक्यों में आचार्य भरत ने लाक्षणिक प्रयोग के द्वारा दोनो का अभेद मानकर स्थायिभावो से अभिन्न रस को बतला दिया है।

यद्यपि 'आयुर्घृतम्' इस सारोपा लक्षणा के उदाहरण में दोनो पद समान विभक्ति वाले हैं। और समानविभक्तिक नामार्थों का अभेदान्वय होता है तथा वह अभेदान्वय वाच्यार्थ को मानने पर बन नही सकता है। अत वहाँ लक्षणा मानना आवश्यक है। किन्तु 'स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' इस दृष्टान्तवाक्य मे दोनो में समान विभक्ति नही है, अत अभेदान्वय के न होने से यहाँ लक्षणा द्वारा अभेदान्वय मानने की क्या आवश्यकता है ? तथापि 'स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' का 'स्थायिनो भावा रसा भवन्ति' यह अर्थ है। और ऐसी स्थिति मे स्थायिभाव और रस समानविभक्तिक हे। अत यहाँ अभेदान्वय है। और वह अभेदान्वय दोनो शब्दो के वाच्यार्थ को ग्रहण करने पर बन नही सकता। अत. लक्षणा का आश्रय अभेदान्वय के उपपादनार्थ आवश्यक है। लक्षणा द्वारा स्थायिभाव रस का बोधक है। अत दोनो पदो के एकार्थबोधक होने से अभेदान्वय बन जाता है और स्थायिभावाभिन्ना रसा' अर्थात् स्थायिभाव रस से अभिन्न हैं ऐसा बोध होता है।

इस मत मे अभिनवगुप्त ने सबसे प्रबल दोष तो यही बतलाया है कि 'स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम' इत्यादि भरत-वचनो का उपर्युक्त रीति से औपचारिक मानना पड़ेगा। जबकि बिना उपचार के ही अन्य रीति से उन वचनो की स्वरसत उपपत्ति बन सकती है। भरत के अनुसार रस और स्थायिभाव मे जन्यजनकभाव नही है क्योकि उनमें यहा जन्यजनकभाव-सम्बन्धबोधक षष्ठी का प्रयोग न कर अभेदबोधक समान विभक्ति का प्रयोग किया है। भरतवचनो के इस विरोध को यह व्याख्याकार स्वय भी समझता था। अत. उसने इन प्रयोगो को औपचारिक (लाक्षणिक) स्वीकृत किया।

दूसरा दोष यह है कि रस का आस्वाद सहृदयो को होता है और उनमे उन्हें आनन्दानुभूति होती है। और यह भी निश्चित है कि सहृदयो को रत्यादि स्थायिभावो का ही आस्वादन होता है चाहे वे स्थायिभाव किसी मत में विशेषरूप से विद्यमान हो या साधारणीकृत रूप मे अर्थात् व्यक्तिविशेषसम्बन्ध से रहित रूप में विद्यमान हो। किन्तु इस व्याख्याकार के अनुसार तो विभावादिसामग्री के रसरूप होने से विभावादि का आस्वाद ही सहृदयों को मानना होगा न कि चित्तवृत्तिरूप स्थायी भावो का, तथा विभावादि के बाह्य होने से उनका आस्वाद सहृदय के लिए सभव नहीं है। अभिनवभारती[1] में इन्ही दोषो का उल्लेख किया गया है।

---

1 तेन स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम इत्यादावुपचारमङ्गीकुर्वता ग्रन्थविरोध स्वयमेवबुध्य-मानेन इत्यादिप्रकारमोऽर्थान् आमान्तिका उक्त परिहृत, इति किमस्यान्येन। सत् प्रत्युत न प्रतीतिर्वैषम्यमपादि तत् कि मत्ताभ्यताम्। अ भा पृ २७६।

ऐसा प्रतीत होता है कि इस मत मे 'स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति, स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम., इत्यादि भरत-वचनों का स्पष्ट विरोध होने से यह मत समादर न प्राप्त कर सका और अभिनवगुप्त के बाद किसी भी आलकारिक ने अन्य मतो के साथ इसका उल्लेख नही किया।

रसभुक्तिवादी भट्टनायक

भट्ट लोल्लट न रसविषयक भरतसूत्र की व्याख्या उपस्थित करते हुए उत्पत्तिवाद को तथा शकुक ने अनुमितिवाद (प्रतीतिवाद) या अनुकरणतावाद को अपनाया। भट्ट लोल्लट ने विभावादि से रत्यादि स्थायिभावों की उत्पत्ति तथा शंकुक ने उनकी अनुमिति मानी। भट्ट लोल्लट का सामाजिक मुख्यरूप से अनुकार्य रामादि मे वर्तमान उपचित स्थायिभावो का, राम के समान ही आंगिक, वाचिक, *सात्विक तथा आहार्य अभिनय प्रदर्शित करने वाले नट मे रामत्व के अनुसधान या* आरोप से रतिज्ञान प्राप्तकर उससे आनन्दानुभूति प्राप्त करता है। शकुक के मतानुसार नट काव्यानुसन्धानवल से तथा शिक्षा व अभ्यास द्वारा कौशलपूर्वक कृत्रिम विभावादि का नाट्य मे प्रदर्शन करता है। दर्शक, नट द्वारा प्रदर्शित उन कृत्रिम विभावादि को नाट्यकौशल से कृत्रिम न समझ कर उनसे रामत्वेन अभिमत नट मे अविद्यमान रत्यादि स्थायिभावों की अनुमिति कर लेते हैं और उससे आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं। दोनों ही मतो मे जिन रत्यादि स्थायिभावो के ज्ञान से सामाजिक को आनन्दानुभूति प्राप्त होती हैं, वे स्थायिभाव नट मे हैं सामाजिक मे नही। वस्तुत *रत्यादि स्थायिभाव नट मे भी नही हैं। भट्ट लोल्लट के मत मे सामाजिक नट मे* उनका आरोप करते है और शकुक के मत मे कृत्रिम होते हुए भी कुशल अभिनय के कारण कृत्रिम न प्रतीत होने वाले विभावादि के द्वारा नट मे स्थायिभावों की अनुमितिमात्र करते हैं। और वह अनुमित स्थायिभाव भी वस्तुतः नट मे नही है। क्योंकि नट मे जिन विभावादि की प्रतीति सामाजिकों को होती हैं वे वस्तुतः रामादि के प्रति हैं, नट के प्रति नही हैं। नट तो उनका प्रदर्शनमात्र करता है, अतः उनसे अनुमीयमान स्थायिभाव भी नट मे नही है किन्तु उसका अनुकरणमात्र है। इस प्रकार ये दो मत भट्टनायक से पूर्व रस के विषय मे प्रचलित थे। तीसरा *मत ध्वनिसिद्धान्त के उद्भावक ध्वनिकारिकाकार सहृदय तथा वृत्तिकार आनन्द-*वर्धन द्वारा स्वीकृत अभिव्यक्तिवाद का सिद्धान्त था, जिसके अनुसार रस विभावादि द्वारा सामाजिकों मे अभिव्यक्त होता है।

सहृदय तथा आनन्दवर्धन ने वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ की सत्ता सिद्ध की थी और उनकी मान्यता थी कि यह प्रतीयमान अर्थ काव्य मे शब्द (वाचक) तथा अर्थ (वाच्य) रूप प्रसिद्ध अवयवो से भिन्न है और यह अर्थ काव्य के प्रत्येक अवयव मे उसी प्रकार समष्टिरूप से व्याप्त रहता है जिस प्रकार स्त्रियो मे लावण्य उनके प्रत्येक अङ्गो से भिन्न उनकी समष्टि मे है।[1] ध्वनिकार ने उस प्रतीयमान अर्थ

१. प्रतीयमान पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥ ध्वन्या. १, ४.

को ही काव्य की आत्मा माना है[1] और उसी अर्थ का निरूपण करने वाले वाल्मीकि, कालिदास आदि ही वस्तुतः महाकवि हैं अन्य नहीं, यह प्रतिपादन किया है।

वाल्मीकि ने क्रौंचद्वन्द्व के वियोग से उत्पन्न विभावादिचर्वणा द्वारा रसिकहृदय में अभिव्यक्त इसी प्रतीयमान शोक का अपने काव्य में प्रधान रूप से निरूपण किया। यही स्थिति कालिदासदि के काव्यों व नाटकों में दृष्टिगोचर होती है। काव्य के जीवनभूत इसी प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति के लिए उन्होंने अभिधा व लक्षणा से भिन्न व्यंजनानामक शब्दवृत्ति को माना है। यद्यपि आनन्दवर्धन के अनुसार प्रतीयमान अर्थ वस्तु, अलंकार तथा रस भेद से तीन भागों में विभक्त है तथापि उन प्रतीयमान अर्थों में प्रमुखता रस को ही प्राप्त है। उसकी निष्पत्ति का पृथक् निरूपण न करते हुए भी आनन्दवर्धन तथा उसके अनुयायियों ने उसकी प्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति को स्वीकार कर रत्यादि स्थायिभावों की अभिव्यक्ति के सिद्धान्त की स्थापना की है। इस मत का स्पष्ट प्रतिपादन पहले किया जा चुका है। ये तीनों मत प्रधानरूप से भट्ट नायक के समक्ष उपस्थित थे।

भट्टनायक ने रसके विषय में इन तीनों मतों का ही पहले प्रत्याख्यान किया तथा तत्पश्चात् स्वमतानुसार रसविषयक भरत-सूत्र की अभिनव व्याख्या प्रस्तुत की।

अभिनवभारती में भट्टनायक के मत का निम्न रीति से उल्लेख हुआ है—

'भट्टनायकस्त्वाह रसो न प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते। स्वगतत्वेन हि प्रतीतौ करुणे दुःखित्व स्यात्। न च सा प्रतीतिर्युक्ता। सीतादेरविभावत्वात्, स्वकान्तास्मृत्यसंवेदनात्, देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्, समुद्रलंघनादेरसाधारण्यात्। न च तद्वतो रामस्य स्मृतिः, अनुपलब्धत्वात्। न च शब्दानुमानादिभ्यः तत्प्रतीतौ लोकस्य सरसता युक्ता, प्रत्यक्षादिव नायकयुगलावभासे। प्रत्युत लज्जाजुगुप्सास्पृहादिस्वोचितचित्तवृत्त्यन्तरोदयव्यग्रतया अरसत्वमेव स्यात्। तस्माद् न प्रतीतिरनुभवस्मृत्यादिरूपा रसस्य युक्ता। उत्पत्तावपि तुल्यमेतद् दूषणम्। शक्तिरूपत्वेन पूर्वस्थितस्य पश्चादभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यापत्तिः। स्वगतपरगतत्वादि च पूर्ववद् विकल्प्यम्।

तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः अनुभवस्मृत्यादिविलक्षणेन रजस्तमोऽनुवेधवैचित्र्यबलाद् द्रुतिविस्तारविकासलक्षणेन सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्तिलक्षणेन परब्रह्मास्वादसविधेन भोगेन परं भुज्यते' इति। अभिनवभारती पृ २७६, २७७

---

1. काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
   क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥ ध्वन्या. १, ५

अर्थ—भट्टनायक ने कहा है कि रस की प्रतीति (अनुमिति) उत्पत्ति तथा अभिव्यक्ति तीनो ही नही बन सकती। आत्मगतत्वेन रस की प्रतीति मानने पर करुणरस मे सामाजिको को दु ख की प्रतीति होगी। और न आत्मगतत्वेन रस-प्रतीति बन सकती है क्योंकि रस की प्रतीति के कारणभूत सीतादि सामाजिक के प्रति विभाव नही बन सकते। न सीतादि विभावो के द्वारा सामाजिक को अपनी कान्ता का ही मध्य मे स्मरण होता है। कान्तात्वादि साधारणधर्म द्वारा भी सीतादि सामाजिक के प्रति विभाव नही बन सकते, क्योंकि सामान्य व्यक्ति से स्पष्ट विलक्षणतावाले पार्वती आदि मे आराध्यत्वज्ञान के प्रतिबन्धक होने से देवादि विभावो का साधारणीकरण भी नही बन सकता। अलोकसामान्य रामादि के समुद्रलघनादि असाधारण धर्मो मे सामाजिको का स्वकृतिसाध्यत्व-ज्ञान न होने से उनका साधारणीकरण कथमपि सभव नही। अत वे सामाजिक के उत्साह के विभाव नही होगे। और न समुद्रलघन करने वाल राम की स्मृति ही सामाजिक को हो सकती है, क्योंकि स्मृति अनुभूत वस्तु की ही होती है और रामादि का तथा उनके समुद्रलघनादि कार्यो का प्रत्यक्षज्ञान सामाजिक को नही हुआ है। अत रामादिगत उत्साहादिस्थायिज्ञान भी सामाजिका के रसोद्बोध मे कारण नही हो सकता। शब्द तथा अनुमान के द्वारा रामादिगत उत्साह की प्रतीति मानने पर भी उससे सामाजिक को वीररसानुभूति नही हो सकती। जैसे कि प्रत्यक्षात्मकज्ञान से नायक-युगल की प्रतीति होने पर उनसे सामाजिक को शृगारादि की अनुभूति नही होती है। प्रत्युत नायक-युगल के प्रणयव्यवहार का *प्रत्यक्ष करने पर सामाजिको मे अपनी-अपनी चित्तवृत्ति के अनुसार लज्जा, जुगुप्सा,* स्पृहा आदि भावो की प्रतीति होगी, न कि रस की। अत रस की अनुभव, स्मृति आदि रूप प्रतीति नही बन सकती। 103282

रस की उत्पत्ति मानने पर भी उपर्युक्त दूषण उपस्थित होते हैं। अभिव्यक्ति मानने पर पूर्वसिद्ध वस्तु की अभिव्यक्ति होने से रस की शक्तिरूप से पहले स्थिति माननी होगी। तथा अभिव्यजक सामग्री के तारतम्य से रसानुभूति मे भी तारतम्य उपस्थित होगा। किन्तु रसानुभूतिगत तारतम्य को कोई भी सामाजिक स्वीकार नही करता। अभिव्यक्तिपक्ष मे भी रस स्वगत है अथवा परगत है, और उन दोनो को मानने मे जो दूषण हैं वे प्रतीतिवाद की तरह ही हैं।

अतः काव्य मे दोषाभावविशिष्ट, गुणालकारयुक्त शब्दो के द्वारा तथा नाट्य मे आगिक आदि चतुर्विध अभिनय द्वारा मोहावरण को दूर करने वाले विभावादि-साधारणीकरणरूप, अभिधा से भिन्न, भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकृत रत्यादि स्थायिभाव का अनुभव, स्मृति आदि ज्ञानो से विलक्षण, रज और तम के सम्पर्क के वैचित्र्य से द्रुति, विस्तार और विकासरूप, रज और तम को दबाकर सत्त्व के उद्बुद्ध होने से प्रकाश व आनन्दरूप निज आत्मा मे अन्त करण की ज्ञेयान्तर-प्रतीतिशून्य विश्रान्तिलक्षण, परब्रह्म के आस्वाद के समान, भोग व्यापार से भोग अर्थात् ज्ञान रूप आस्वादन सामाजिक को होता है।

निम्नलिखित ध्वन्यालोकलोचन के उद्धरण में भट्टनायक के मत का निरूपण अधिक स्पष्ट किया गया है —

ननूक्तं भट्टनायकेन-रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता, सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुर्विभावतायां प्रयोजकमिति चेत्—देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते। अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः। प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। नत्र उत्पत्तिरपि, नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः। तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किं त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात्तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः? वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिंचित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्? तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः; यद्वशादभिधा विलक्षणैव। तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगः योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुतिविस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वादसविधः। स एव च प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप, इति।[1]

इसका अर्थ प्रायः अभिनवभारती के उद्धरण के समान ही है। किन्तु यहाँ अपने मत का प्रतिपादन करते हुए भट्टनायक ने काव्यशब्दों में अन्य शास्त्रीयशब्दों की अपेक्षा विलक्षणता बतलाई है। अन्य शास्त्रीय शब्दों में जहाँ केवल अभिधा *तथा अभिधामूल लक्षणाव्यापार ही होता है, वहाँ काव्यशब्दों में अभिधा, भावकत्व,* भोजकत्व ये तीन व्यापार होते हैं। अभिधा का विषय वाच्यार्थ, भावकत्व का विषय विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव व स्थायिभाव और भोगकृत्त्वव्यापार का विषय सहृदय हैं। यदि काव्यशब्दों में शुद्ध अभिधाव्यापार ही होता तो अनेकार्थबोधन की इच्छा से एक पद का एकबार उच्चारणरूप तन्त्रादि से श्लेषादि अलङ्कारों का कोई भेद नहीं होगा। क्योंकि तन्त्र तथा श्लेषादि अलङ्कार दोनों में ही एक पद से अनेकार्थ का बोध होता है। अपि च, काव्यशब्दों में केवल अभिधा व्यापार मानने पर उपनागरिकादिवृत्तिभेद मानना भी निष्फल होगा। और काव्य

१. ध्वन्यालोकलोचन पृ. १८०-१८३

में श्रुतिदुष्टादि दोषों का परित्याग भी निरर्थक होता। क्योंकि इनके होने न होने से वाच्यार्थ मे कोई भेद नही पडता। अत काव्यशब्दो मे अभिधा से भिन्न भावकत्व व भोगकृत्त्व व्यापार भी मानने होते हैं। इनमें भावकत्व विभावादि का साधारणीकरण है। और भोगकृत्त्व या भोगव्यापार साधारणीकृत रत्यादिस्थायिभाव का रजोगुण व तमोगुण के वैचित्र्य से युक्त उद्रिक्तसत्त्व के कारण अन्त करण की निजचित्स्वभावरूप लोकोत्तर-आनद मे वेद्यान्तरशून्यस्थितिरूप सहृदय-कृत आस्वादन है। वही रस है।

विवेचन—भट्टनायक की मान्यता है कि रस (रत्यादि स्थायिभाव) की प्रतीति नही बन सकती, क्योकि प्रतीति मानी जाय तो वह अनुकार्य राम आदि, अनुकर्त्ता नट तथा सामाजिक इनमे से किसमें मानी जायगी ? अनुकार्य राम आदि मे तो रस की प्रतीति इसलिए नही बन सकती कि उनकी सत्ता इस समय विद्यमान नही है। अनुकर्त्ता नट तथा सामाजिक में रस की प्रतीति इसलिए सम्भव नही है कि रस-प्रतीति के कारणभूत सीतादि विभाव अनुकार्य रामादि के प्रति हैं न कि अनुकर्ता नट तथा सामाजिक के प्रति। अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नट मे रस की प्रतीति मानने पर सामाजिक के साथ रत्यादि का कोई सम्बन्ध न होने से उन्हें रत्यादि का आस्वाद नही होगा। और सामाजिक के आस्वाद के लिए ही काव्य या नाटक आदि का समग्र प्रयास है। सामाजिक मे रस-प्रतीति मानने पर जैसे राम को शोक स्थायिभाव से दु ख होता है उसी प्रकार सामाजिक को भी शोक की प्रतीति से दु ख ही होगा। इस प्रकार करुणरसप्रधान काव्यो के श्रवण व नाटको के देखने मे सहृदयो की प्रवृत्ति नहीं होगी, क्योंकि वह आनन्द-प्राप्ति के लिए इनमे प्रवृत्त होता है न कि दु खाधिगति के लिए।

यदि यह कहा जाय कि सीतादि मे सीतात्वादि विशेष धर्मों के साथ कान्तात्वादि साधारण धर्म भी रहते हैं। अत कान्तात्वादि साधारण धर्मों के द्वारा सीतादि सामाजिक के प्रति भी विभाव बन सकते हैं तो यह कथन भी उपयुक्त नही, क्योकि कान्तात्वादि साधारण धर्मों के रहने पर भी सीतादि मे सीतात्वादि विशेष धर्मों तथा पूज्यात्वादि रसप्रतिबन्धक धर्मों का परित्याग नही हुआ है। और विशेष व प्रतिबन्धक धर्मों के रहते हुए कान्तात्वादि साधारण धर्मों के द्वारा भी सीतादि सामाजिक के प्रति विभाव नहीं बन सकते। अन्यथा माता, श्वश्रू, स्वसा आदि भी कान्तात्वादि साधारण धर्मों का लेकर पुत्रादि के प्रति विभाव होने लग जायेंगे और माता आदि विभावो से भी पुत्रादि मे रति की उत्पत्ति होने लगेगी।

काव्य व नाट्य मे सीतादि विभावो की उपस्थिति के पश्चात् कान्तात्वरूप सादृश्य के कारण सामाजिको को अपनी कान्ता का स्मरण हो जायगा और उससे सामाजिक मे रति की प्रतीति बन जायेगी। इस प्रकार परम्परया अपनी कान्ता का स्मरण कराकर सीतादि को सामाजिक के प्रति विभाव माना जाय तो भी उचित नही है। क्योंकि किसी भी सामाजिक को काव्य या नाटक में काव्य-शब्दों तथा

अभिनय द्वारा उपस्थापित सीतादि विभावों के ज्ञान के बाद मध्य में अपनी कान्ता का स्मरण अनुभवसिद्ध नहीं है। तथा देवता आदि के विभाव होने पर उनमें आराध्यत्व, पूज्यत्व आदि बुद्धि के प्रतिबन्धक होने से कान्तात्वादि साधारण धर्मों को लेकर भी पार्वत्यादि विभावों से सामाजिकों में कथमपि रति की उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती।[1] क्योंकि प्रतिबन्धकाभावसहकृत कान्तात्वादि-साधारणधर्म-पुरस्सर ही पार्वती, सीतादि सामाजिक की रति के विभाव बन सकते हैं, अन्यथा नहीं। इसीलिए पंडितराज जगन्नाथ[2] ने अप्रामाण्यनिश्चय से अनालिंगित अगम्यात्वप्रकारकज्ञानविरह को विभावतावच्छेदककोटि में निवेश किया है। अर्थात् अप्रामाणिक ज्ञान से रहित यह अगम्या है इस ज्ञान का अभाव हमें विभाव में होना चाहिए, तभी वह सामाजिकों के प्रति विभाव बन सकता है। माता, स्वसा, सीता आदि में कान्तात्वरूप साधारणधर्म के रहने पर भी उनमें ये अगम्या हैं इस ज्ञान का अभाव नहीं है। अत वे सामाजिकों के प्रति विभाव नहीं हो सकते।

अपि च[3] वीर रस में लोकसामान्यातीत रामादि के समुद्र-सेतु-बन्धन आदि विभावों में किसी भी साधारण धर्म के न होने से उनकी साधारणधर्मपुरस्सर उपस्थिति भी नहीं बन सकती। रामादिकृत समुद्र-सेतु-बन्धन के ज्ञान से रामादिगत उत्साह स्थायिभाव का स्मरण हो जाता है और उससे सामाजिकगत उत्साह स्थायिभाव का उद्‌बोधन हो जायगा, यह भी नहीं माना जा सकता। क्योंकि रामादिगत उत्साह स्थायिभाव का या उत्साह-शक्तिसम्पन्न रामादि का पहले अनुभवात्मक ज्ञान सामाजिकों को नहीं है, अत उसकी स्मृति भी नहीं बन सकती। अनुभव के बिना किसी वस्तु का स्मरण नहीं माना जा सकता। प्रत्यक्षप्रमाण द्वारा रामादिगत उत्साह स्थायिभाव का ज्ञान न होने पर भी शब्द द्वारा उसका ज्ञान सम्भव है अत. उसकी स्मृति सामाजिकों को बन सकती है, यह कथन भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि जिस प्रकार नायक-मिथुन का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होने पर सामाजिकों में उससे आनन्द-रूप रस का उदय या उद्‌बोध नहीं होता है, उसी प्रकार शब्द द्वारा ज्ञात उत्साहशक्तिसम्पन्न राम के ज्ञान से भी सामाजिकों में रस का उद्‌बोध या उत्साह नहीं बन सकता। इसलिए रसगंगाधरकार[4] ने स्पष्ट कहा है कि

१. न च कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुर्विभावनायां प्रयोजकमिति देवतावर्णनादौ तदपि वयम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये भवति। ध्वन्यालोकलोचन पृ. १८१

२ न च कान्तात्वं साधारणविभावतावच्छेदकमत्राप्यस्तीति वाच्यम्। अप्रामाण्यनिश्चयानालिङ्गितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यता-सम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटाववश्यं निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तथात्वापत्तेः। —रसगंगाधर पृ. २४

३ अलोकसामान्यानां रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः ॥

—ध्वन्यालोकलोचन पृ. १८१।

४. व्यवहारिकनायकान्तरकल्पनात्मकमिथुनवृत्तान्तविदां नामभिधास्यापि हृदयबोधापत्तेः।

—रसगंगाधर, पृ० २४९।

व्यावहारिक शब्दो से उत्पन्न नायक-मिथुन के वृत्तान्त-ज्ञान की तरह शब्दजन्य ज्ञान से भी *सामाजिको को उसमे रमणीयतारूप अलौकिक आनन्द का अनुभव नही होगा।* उपर्युक्त रीति से सामाजिको मे सीतादि विभावो से रत्यादि स्थायिभावो की प्रतीति किसी भी प्रकार नही बन सकती। अत शकुक का प्रतीतिवाद (अनुमितिवाद) रस के विषय मे सर्वथा असगत है।

भट्ट लोल्लट का उत्पत्तिवाद भी रस के विषय मे नही माना जा सकता। क्योकि अनुकार्य रामादि मे तथा अनुकर्त्ता नट मे रति की उत्पत्ति मानने पर उस रति का सामाजिक के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने से सामाजिक मे रसास्वादन की समस्या का समाधान नही हो सकता। तथा सामाजिको के प्रति सीतादि के विभाव न होने से उन विभावो से सामाजिक मे रति की उत्पत्ति नही मानी जा सकती। और 'तुष्यतु दुर्जन-न्याय' से सीतादि विभावो से सामाजिक मे रति की उत्पत्ति मानने पर करुणरसास्वादवेला में रामादि की तरह सामाजिक भी शोक से ग्रस्त होगा। किन्तु कोई भी व्यक्ति काव्य-पठन या नाट्य-दर्शन मे दु ख के लिए प्रवृत्त नही होता, अत करुणरसप्रधान काव्यो के पठन व नाटको के दर्शन मे किसी भी सामाजिक की प्रवृत्ति नही होगी।

आनन्दवर्धनादिसम्मत अभिव्यक्तिवाद भी रत्यादिरूप रस मे नही बन सकता, क्योकि इस पक्ष के मानने पर सामाजिको मे वासनारूप से विद्यमान स्थायिभाव की ही विभावादि मे अभिव्यक्ति माननी होगी। ऐसी स्थिति मे जिस प्रकार अन्धकार मे स्थित घट की अभिव्यक्ति मे प्रकाश के तारतम्य से अन्तर पडता है अर्थात् जितना प्रकाश अधिक होता है उतनी ही घट की अभिव्यक्ति भी अधिक स्पष्ट होती है। उसी प्रकार रत्यादि स्थायिभावो की अभिव्यक्ति के उपायभूत कान्तादि विभावो के तारतम्य से रत्यादि-स्थायिभावरूप रस मे तारतम्य होने लगेगा जो कि किसी भी सहृदय को अभीष्ट नही है। क्योकि रस की समान ही प्रतीति सहृदयानुभवसिद्ध है न कि तरतमभावरूप न्यूनाधिकरूप से। इसी प्रकार इस मत मे प्रतीतिवाद तथा उत्पत्तिवाद मे रस के स्वगत या परगत मानने पर जो दोष दिये गये हैं, वे भी हैं। अर्थात् अनुकार्य रामादि मे व अनुकर्ता नटादि मे रति की अभिव्यक्ति मानने पर उसका सामाजिक से सम्बन्ध न होने के कारण सहृदय को रसानुभूति नही होगी। और सीतादि विभावो के, सामाजिक मे रहने वाले रत्यादि *की अभिव्यक्ति के, उपाय न होने से उन विभावो मे सामाजिक मे रसाभिव्यक्ति* बनेगी नही। अत· रसविषय मे भट्ट लोल्लट, शकुक तथा आनन्दवर्धनादि द्वारा प्रतिपादित उत्पत्तिवाद, प्रतीतिवाद व अभिव्यक्तिवाद नही बन सकते। इसलिए भट्टनायक रसविषयक भरतसूत्र की अभिनव व्याख्या उपस्थित करते हैं।

उनके अनुसार अन्य शास्त्रीय शब्दो की अपेक्षा काव्य-शब्दो मे वैलक्षण्य है। इसलिए सभी आलकारिको ने सामान्य शब्दार्थ में साहित्य को काव्य न मानकर लोकोत्तरचमत्कारशाली शब्दार्थ-साहित्य को काव्य माना है। काव्य के शब्द

व अर्थ मे चमत्कार होना आवश्यक है। चमत्कारहीन शब्दार्थों का साहित्य किसी भी दशा मे काव्य की श्रेणी मे नही आ सकता। अत सुतरा काव्यशब्दों मे अन्य शब्दो की अपेक्षा विलक्षणता है। इसलिए जहाँ अन्य शास्त्रीय शब्दो में केवल अभिधा (लक्षणा भी इसके अन्तर्गत है) व्यापार रहता है वहा काव्य शब्दों में अभिधा से भिन्न भावकत्व और भोजकत्व ये दो व्यापार और रहते हैं। इनमे अभिधा व्यापार का विषय वाच्यार्थ, भावकत्व व्यापार का रत्यादि तथा भोजकत्व व्यापार का विषय सहृदय है।

अभिधा व्यापार से सीतादि विभावों की सीतात्वादि विशेष रूप से, कटाक्षादि अनुभावो की राम-सम्बन्धी कटाक्षादि रूप से, लज्जा, औत्सुक्य आदि व्यभिचारी भावों की सीतादिव्यक्तिविशेषसम्बन्धित्व आदि रूप से तथा रत्यादि स्थायिभाव की राम-सम्बन्धी रतिरूप से उपस्थिति होती है। उन विभावादि की उपस्थिति होने पर सहृदय का उन विभावादि से किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने स सामाजिक मे रत्यादि स्थायिभावों की प्रतीति नही बन सकती। प्रत्युत लज्जा, ईर्ष्या आदि भाव ही सामाजिक मे उत्पन्न हो सकते हैं। इस दोष के निराकरण के लिए भट्टनायक ने काव्य-शब्दों मे भावकत्व (भावना) नामक दूसरा व्यापार स्वीकृत किया, जिसका कार्य विभावादि मे सीतात्वादि विशेषधर्मों का निराकरण कर कान्तात्व आदि सामान्य धर्मों के साथ उनकी उपस्थिति कराना है। यहा यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि पूर्व पक्ष म भी भट्टनायक ने कान्तात्वादि धर्म के साथ सीतादि विभावो की उपस्थिति बतलाई थी और उसका निराकरण भी 'देवतादौ साधारणीकरणायोग्यत्वात्, समुद्रलघनादेरसाधारण्यात्' अर्थात् पार्वती आदि देवतारूप नायिकाओं के वर्णनस्थल मे उनमे आराध्यत्व-ज्ञान के प्रतिबन्धक होने से कान्तात्व का ज्ञान भी नही हो सकता, तथा लोक-सामान्यभिन्न रामादि के, समुद्र मे सेतुबन्धनादि में उत्साह के कारण स्वक्तिसाध्यत्व-ज्ञान के अभाव से उत्साह के विभाव समुद्रसेतुबन्धनादि का साधारण्य भी अनुपपन्न है, इस सन्दर्भ के द्वारा किया था। उसी तरह यहा भी उसका निराकरण किया जा सकता है। तथापि पूर्वपक्ष मे सीतादि विभावो की कान्तात्वादि-साधारणधर्मपूर्वक उपस्थिति होने पर भी वहा रसविरोधी सीतादि में पूज्यत्वादि विशेषधर्मों का परिहार नही किया गया था। अत उन विशेषधर्मों के भी विभावादि मे विद्यमान रहने से सामाजिक मे उन सीतादि विभावो से रत्यादि की प्रतीति नही बन सकती थी। किन्तु भट्टनायक द्वारा स्वीकृत भावकत्व व्यापार न केवल कान्तात्वादि साधारण धर्मों के साथ सीतादि विभावों की उपस्थिति कराता है, अपितु रसविरोधी सीतात्वादि विशेषधर्मों तथा उसमे अगम्यात्व व पूज्यत्व आदि धर्मों का निराकरण भी करता है। अत अब सीतादि विभावों की, रसविरोधी सीतात्वादि व पूज्यत्वादि विशेषधर्मों का निराकरण करते हुए, केवल कान्तात्वादि साधारणधर्मपूर्वक उपस्थिति होने पर सीतादि विभावो से सहृदय मे रत्यादि की प्रतीति या अनुभूति में कोई बाधा नही आती।

भट्टनायक के अनुसार शब्द के भावकत्व व्यापार का कार्य विभावादि का साधारणीकरण *अर्थात् विभावादि मे से रसप्रतीतिविरोधी अगम्यात्व* सीतात्वादि विशेषधर्मों का निराकरण करते हुए कान्तात्वादि साधारणधर्मपूर्वक उनकी उपस्थिति कराना है। कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि अनुभावो मे रामसम्बन्धित्वादि विशेष-धर्मो का निराकरण करते हुए कटाक्षत्व और भुजाक्षेपत्व आदि साधारणधर्मपूर्वक उपस्थिति कराना तथा लज्जा, औत्सुक्य आदि सहकारिकारणरूप व्यभिचारी भावो मे सीतासम्बन्धित्व आदि विशेषधर्मों का प्रतिबन्ध करते हुए लज्जात्वादि रूप से उपस्थिति कराना है।

भट्टनायक रत्यादि स्थायिभावो का भी साधारणीकरण मानता है। रत्यादि की रामसम्बन्धित्वादि रूप से उपस्थिति न होकर रतित्वादिधर्मपूर्वक उपस्थिति ही उनका साधारणीकरण है। इस प्रकार रस के कारण विभावादि *का तथा रत्यादि स्थायिभावो का ही साधारणीकरण भट्टनायक मानता है न कि* सहृदय का। इसीलिए उन्होने भावकत्व व्यापार का विषय रत्यादिरूप रसादि को ही बताया है न कि सहृदय को।[1] भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकृत रतित्वादिसामान्यधर्मपुरस्सर उपस्थापित रत्यादि स्थायिभावों का भोगनामक भोजकत्व व्यापार द्वारा सहृदय आस्वादन करते हैं। भोगरूप रस-साक्षात्कारदशा मे सहृदय के रजोगुण और तमोगुण का अभिभव होकर सत्त्व गुण का उद्रेक (आधिक्य) होता है। और उस समय सहृदय के चित्त की विश्रान्ति प्रकाशानन्दरूप आत्मा मे हो जाती है। अर्थात् उसमे सहृदय के चित्त का प्रकाशानन्दमय आत्मरूप से परिणाम हो जाता है। मन का यह प्रकाशानन्दरूप मे परिणत हो जाना ही भट्टनायक के मत मे प्रकाशानन्दमयसविद्‌विश्रान्ति है। उस दशा मे सहृदय-मन के रतिसहकृत प्रकाशानन्दरूप मे विश्रान्त हो जाने से वह रतिसहकृत प्रकाशानन्दमय आत्मा का साक्षात्कार करता है। क्योंकि जिस विषय के आकार की चित्तवृत्ति बन जाती है उस विषय के आवरण का नाश होकर तद्‌विषयक *साक्षात्कार पुरुष को होता है। रतिसहकृत प्रकाशानन्दमय आत्मा का साक्षात्कार* ही भोग कहलाता है। इस प्रकार भोग व्यापार द्वारा आस्वाद्यमान या भुज्यमान रति ही रस है।

इस मत मे रसविषयक भरतसूत्र के 'सयोग' पद का भोज्य-भोजकभाव *सम्बन्ध तथा 'निष्पत्ति' शब्द का भुक्ति अर्थ है।* भुक्तिवादी भट्टनायक की इस रसविषयक व्याख्या को साम्प्रदायिक साख्यमतानुसारी व्याख्या मानते हैं। यह व्याख्या साख्यमतानुसारी कैसे है ? इस की उपपत्ति बतलाते हुए टीकाकारो ने कहा है कि भोगावस्था मे रज और तम का अभिभव होकर सत्त्व का उद्रेक होता है। अत: यहा साख्यसिद्धान्त का अनुसरण किया गया है। इसलिए यह व्याख्या साख्यमतानुसारिणी है। किन्तु ज्ञानदशा मे रज और तम का अभिभव होकर सत्त्व के

१. 'भावकत्व रसादिविषयम्' ध्वन्यालोकलोचन पृ १८२

उद्रेक को वेदान्त आदि अन्य दर्शन भी स्वीकार करते हैं। अतः केवल इस आधार को इस व्याख्या के सांख्यमतानुसारी होने में उपयुक्त नहीं माना जा सकता। मेरे विचार में निम्नलिखित आधार इस व्याख्या के सांख्यमतानुसारी होने में माना जा सकता है।

जिस प्रकार सांख्य-दर्शन असंग पुरुष में सुखदुःखादिधर्म न मानकर प्रकृति के कार्य बुद्धि में मानता है और जब पुरुष का प्रतिबिम्ब, स्वच्छ तथा सत्त्व-प्रधान बुद्धि में, पड़ता है तब पुरुष उससे अपना विवेक (भेद) न समझने के कारण बुद्धि के धर्मों को अपना धर्म समझ लेता है। यही अविवेककृत भोग पुरुष में सांख्य-दर्शनकार मानते हैं। पुरुष के भोग का कारण अविवेक है। इसी प्रकार भट्टनायक के मत के अनुसार जो रत्यादि स्थायिभाव सहृदयों द्वारा भुज्यमान होकर रस कहलाते हैं वे सहृदय के अपने नहीं हैं किन्तु अनुकार्य रामादि में रहने वाले साधारणीकृत स्थायिभाव हैं। भावकत्व व्यापार द्वारा उन रत्यादि स्थायिभावों से रामादिनिष्ठत्वरूप विशेषता का परित्याग होकर उनकी रतित्वादिरूप साधारण धर्म से उपस्थिति होती है। अतः सहृदय उनको परकीय स्थायिभाव नहीं मानता। अर्थात् रामरति के साधारणीकृत होने से उसमें अपने आपके अनुप्रवेश से उसे तटस्थ पुरुष की अर्थात् अपने से भिन्न पुरुष की रति नहीं समझता।[1] अतः सहृदय को साधारणीकृत रत्यादि स्थायिभाव का आस्वादन करने में किसी प्रकार की बाधा नहीं पहुँचती। इसलिए जिस प्रकार सांख्यदर्शन बुद्धि के धर्मों को ही अविवेक के कारण अपने से भिन्न वस्तु का धर्म न समझने के कारण पुरुष का भोग स्वीकार करता है उसी प्रकार भट्टनायक का सहृदय भी रामादि में स्थित रति को ही साधारणीकरणरूप अविवेक के द्वारा परकीय न समझकर उसका आस्वाद कर लेता है। इसी सांख्य-सम्मत भोग-सादृश्य के कारण इस मत को भुक्तिवादी तथा इस व्याख्या को सांख्य-मतानुसारिणी कहा गया है।

डा० नगेन्द्र[2] ने भरतसूत्र में गृहीत संयोग पद का अर्थ भोज्य-भोजकभाव सम्बन्ध न मानकर भाव्यभावकभाव सम्बन्ध तथा निष्पत्ति शब्द का भुक्ति अर्थ न मानकर भावना या भावित अर्थ किया है। इसका उपपादन करते हुए उन्होंने कहा है कि 'विभावादि द्वारा भाव्यमान रति ही रस है। और इस सिद्ध रस का बाद में सहृदयों द्वारा भोगरूप आस्वादन या चर्वणा होती है। इस प्रकार भुक्ति रसनिष्पत्ति के बाद की घटना है। अतः निष्पत्ति का भुक्ति अर्थ तथा संयोग पद का भोज्य-भोजक-भाव सम्बन्ध अर्थ मानना उचित नहीं है–'। परन्तु मेरे विचार में डा० नगेन्द्र की यह

---

१ (क) 'रामादावपि च भूयसा रतिप्रतीतिविगलितया दृष्टस्मोऽपि देशकालानियमेन न च रतिं स्मरन्ति। यस्मात् स्वकालेऽपि तद्गमनादन्यादनुप्रविष्ट। अन्यत्र न तटस्थतया स्वदन्त'। (द भारती पृष्ठ २८५)

(ख) स्वात्मानुप्रवेशस्य परगतत्वनिषेधकत्वात्। (द भारती पृष्ठ २८५)

२ रससिद्धान्त, पृष्ठ १६६।

मान्यता ठीक नहीं। क्योंकि भावना या भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि तथा स्थायिभाव का साधारणीकरण होता है और साधारणीकृत रति का ही रस नहीं माना जा सकता, जब तक कि सहृदयों द्वारा उसका भोगरूप आस्वादन न हो। इसलिए अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक-लोचन में स्पष्ट लिखा है कि प्रतीतिविषयता को प्राप्त रत्यादि ही रस हैं तथा प्रत्यक्षादि से विशिष्ट (विलक्षण) प्रतीति ही रसना या आस्वादन कहलाती है।[1] यदि अप्रतीयमान वस्तु को रस माना जायगा तो रस अप्रतीयमान पिशाच की तरह अव्यवहार्य हो जायगा। इसलिए उत्पत्ति, प्रतीति या अभिव्यक्ति किसी भी पक्ष को रसविषय में क्यों न स्वीकार किया जाय, उसकी प्रतीति अवश्य माननी होगी। काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्टवामनाचार्य झलकीकर ने भी काव्यार्थबोधोत्तरमेव तत्राद्यन भावकत्वव्यापारेण विभावादिरूप-सीतादयो रामसम्बन्धिनी रतिश्च सीतात्वरामत्वसम्बन्धाद्यमपहाय सामान्यतः कामिनीत्वरतित्वादिनैवोपस्थाप्यते। अन्त्येन भोजकत्वव्यापारेण सा (साधारणीकृता) रतिरास्वाद्यते इति रतरास्वाद एव रसनिष्पत्ति' इस सन्दर्भ के द्वारा साधारणीकृत रति के आस्वाद को रस बतलाया है न कि साधारणीकृत रति को। प्रतीतिविषयभूत रत्यादि को रस मानने पर यद्यपि 'रसाः प्रतीयन्ते'[2] इस उक्ति का विरोध आता है क्योंकि इस उक्ति के द्वारा रसको प्रतीति का उद्देश्य (सिद्ध) रूप बतलाया है। अर्थात् रस पूर्वसिद्ध वस्तु है और उसकी प्रतीति बाद में होती है। किन्तु अभिनवगुप्त ने इस शंका का समाधान 'ओदनं पचति' इस लौकिक उक्ति के द्वारा कर दिया है। अर्थात् जिस प्रकार पाक के अनन्तर निष्पन्न होने वाले ओदन का सिद्धवत् मानकर पाक क्रिया का कर्म बतला दिया है उसी प्रकार प्रतीति के अनन्तर निष्पन्न होने वाले रस को सिद्धवत् मानकर प्रतीति क्रिया का कर्म बता दिया है।

दूसरी बात यह है कि रामादिरति भाव्यमान (साधारणीक्रियमाण) अवश्य है किन्तु उसका साधारणीकरण भावकत्व व्यापार से होता है न कि विभावादि द्वारा। अतः विभावादि को भावक कैसे माना जा सकता है? जब विभावादि रति के भावक नहीं है तब उसके साथ विभावादि का भाव्यभावकसम्बन्ध कैसे उपपन्न हो सकता है?

सम्भवतः डा० नगेन्द्र को 'काव्येन भाव्यन्ते रसाः' इस वचन को देखकर रस की भावना होती है, अर्थात् भाव्यमान या साधारणी-क्रियमाण रत्यादि ही रस है यह भ्रान्ति हो गई है। किन्तु यहां भावन का अर्थ साधारणीकरण नहीं है जैसा कि डा० नगेन्द्र समझते हैं। अपितु विभावादिजनित चर्वणा या आस्वाद का विषय होना है। अभिनवगुप्त ने 'काव्येन भाव्यन्ते रसाः' इस उक्ति में भावन का विभावा-

---

१ 'प्रतीयमान एव हि रसः। प्रतीतिरेव विशिष्टा रसना। सर्वत्रापि च प्रतीतिरपरिहार्या। अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात्' (लोचन पृ० १८७)

२ रसाः प्रतीयन्त इति ओदनं पचति इतिवत् व्यवहारः (लोचन पृ० १८७)

दिजनित चर्वण या आस्वादनरूप प्रतीति का विषय होना ही अर्थ बतलाया है।[1] इसलिए 'आस्वादनात्मानुभवो रस. काव्यार्थ उच्यते' इस कारिका मे भी अनुभव शब्द का अर्थ अनुभव का विषय मानना चाहिए क्योंकि रस अनुभव का विषय है न कि अनुभवरूप, यह अभिनवगुप्त ने स्पष्ट किया है।[2] अभिनवगुप्त ने भी स्वाभिमत रस का प्रतिपादन करते हुए अभिव्यक्त स्थायिभाव को रस नही माना किन्तु साधारणीकृत विभावादि द्वारा रतित्वरूप साधारण धर्म से अभिव्यक्त रत्यादि स्थायिभाव जब सहृदयो के द्वारा आस्वादित होता है तभी उसे रस माना है।[3]

डा नगेन्द्र का यह कथन भी उचित नही है कि 'स्थायिभाव ही भावित होकर रसरूप मे परिवर्तित हो जाता है'। यह तथ्य मम्मट के उद्धरण से स्पष्ट है। क्योकि मम्मट ने स्पष्ट लिखा है कि साधारणीकृत रत्यादि जब भोजकत्व व्यापार द्वारा आस्वादित या भुक्त होते हैं तब रस कहलाते हैं।[4] मम्मट ने भाव्यमान को स्थायी कहा है न कि रस। भट्टनायक भुज्यमान स्थायी भाव को ही रस मानता है, इसका स्पष्टीकरण पडितराज जगन्नाथ ने भी रसगगाधर में किया है।[5] उनका कथन है कि भुज्यमान रत्यादि स्थायिभाव या रत्यादि स्थायिभावों का भोग ही रस है। इस व्याख्या से स्पष्ट है कि केवल भावित स्थायिभाव कभी रसरूप मे परिणत नही होता अपितु भावित (साधारणीकृत) स्थायिभाव सहृदय द्वारा आस्वाद्यमान होने पर रससज्ञा से व्यवहृत होता है।

भट्टनायक रत्यादि स्थायिभावो का कभी रसरूप में परिवर्तन नहीं मानते जैसे दूध का दही मे। स्थायिभाव का रसरूप मे परिणाम तो केवल आचार्य विश्वनाथ मानते हैं।[6] अतः 'कल्पना का विषय बनकर सहृदय का स्थायिभाव

---

१. यत्तु काव्येन भाव्यन्ते रसा तत्र विभावादिजनितचर्वणात्मकास्वादरूपप्रत्ययगोचरतापादनमेव यदि भावन तदभ्युपगम्यत एव (अ० भा० पृ० २७१)

२. संवेदनाख्यया व्यङ्ग्यपरसंवित्तिगोचर । आस्वादनात्मानुभवो रस काव्यार्थ उच्यते । तत्र अनुभवेन च तद्विषय इति मन्तव्यम् । (अ० भा० पृ० २७१)

३. लोके प्रमदादिभि'' तैरेव कारणत्वपरिहारेण विभावादिशब्दव्यवहार्यै ....साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्त सामाजिकाना वासनात्मतया स्थित स्थायी रत्यादिको भाव स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृत ''पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण ''शृगारादिको रस. (काव्यप्रकाश ४ उल्लास पृ ९१, ९३)

४ काव्ये नाट्ये चाभिधातो द्वितीयेन विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमान स्थायी सत्त्वोद्रेकप्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिसतत्त्वेन भोगेन भुज्यत इति भट्टनायक । —(काव्यप्रकाश चतुर्थ उल्लास पृ ९०)

५ तत्र भुज्यमानो रत्यादि स्थायिभावो वा रस —(रसगगाधर प्रथमानन पृ २४)

६. 'अतो रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव स्वप्रकाश एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते । सा० द० ३ परिच्छेद पृ ७७

रस बन जाता है। वह (रस) उसके (सहृदय के) अपने स्थायिभाव की ही कल्पनात्मक प्रतीति है'।[1] डा. नगेन्द्र का यह कथन भी उचित नहीं है। क्योंकि अभिनवभारती, ध्वन्यालोकलोचन तथा काव्यप्रकाश में प्रतिपादित भट्टनायक के मत को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि सहृदय का अपना रत्यादि भाव रसरूप में परिणत नहीं होता किन्तु सीतादि विभावों से रामादि में उत्पन्न रत्यादि भाव ही भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकृत रतित्वादिरूप में उपस्थित होने पर उसमें तटस्थता या परकीयत्व का भान न होने से सहृदयों द्वारा प्रकाशानन्दसंविद्‌विश्रान्तिरूप से आस्वादित होकर रस कहलाता है। अतः सहृदय अपने रति स्थायिभाव का कल्पनारूप प्रतीति द्वारा आस्वादन करते हैं यह कथन कहां तक उचित है? इसका निर्णय विद्वान् ही करें।

डा. नगेन्द्र की शब्दावली अत्यन्त भ्रामक तथा परस्पर विरोधी प्रतीत होती है। कहीं वे कहते हैं 'सहृदय का चित्त व्यक्तिगत राग द्वेष से मुक्त होकर अपने स्थायिभाव का साधारणीकृतरूप से आस्वादन करता है। रागद्वेष से मुक्त चित्त द्वारा अपने शुद्ध स्थायिभाव का अनुभव या आस्वादन ही रस है।[2] अन्यत्र वे यह कहते हैं कि 'सहृदय भावकत्व व्यापार द्वारा अपने स्थायिभाव का साधारणीकृत-रूप में, रस-रूप में, अनुभव करता है और फिर इस प्रकार सिद्ध रस का भोजकत्व व्यापार द्वारा भोग करता है, यही भट्ट नायक का अभिप्राय है'।[3] इससे सिद्ध होता है कि डा. नगेन्द्र स्थायिभाव की भावना और आस्वादन को एक मानते हैं जबकि ये दोनों एक नहीं हैं। क्योंकि भावना स्थायिभाव का साधारणीकरण है और आस्वादन उस साधारणीकृत स्थायिभाव का भोग या साक्षात्कार है। न यह आस्वादन कल्पनात्मक प्रतीति ही है जैसी कि उनकी मान्यता है। कल्पना या भावना से स्थायिभाव का साधारणीकरण होता है किन्तु उसका आस्वादन कदापि कल्पनात्मक प्रतीति नहीं है।

डा. नगेन्द्र ने भट्टनायक-सम्मत रसास्वाद या काव्यानन्द, जिसे कि चित्त की आत्मा में वेद्यान्तर (विषयान्तर) शून्य विश्रान्ति कहा गया है, के ब्रह्मास्वाद-सविध होने में उपपत्ति बतलाते हुए कहा है कि 'ब्रह्मास्वाद में रजस् और तमस् का स्पर्श नहीं रहता और रसास्वाददशा में सत्त्व का उद्रेक होने पर भी रजोगुण और तमोगुण का स्पर्श भी रहता है'[4] यह कथन भी उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि ब्रह्मास्वाददशा में भी त्रिगुणात्मक चित्त के धर्म रज और तम का सर्वथा उच्छेद नहीं होता अपितु नितान्त अभिभव ही होता है। रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद-सहोदर बतलाने का कारण तो यही है कि ब्रह्मास्वाददशा में चित्त में आत्मातिरिक्त

---

१ रससिद्धान्त, १६६।

२. रससिद्धान्त, पृ. १६८।

३. वही, पृ. १६८।

४. वही, पृ. १६६, १६७।

किसी भी विषय का सम्पर्क नहीं रहता, केवल आत्माकारा चित्तवृत्ति ही उस समय ज्ञानी या योगी की रहती है। किन्तु रसास्वाददशा में स्थायिभावादि का भी सम्पर्क रहता है। अतः रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद न कह कर ब्रह्मास्वादसविधवर्ती (सदृश) कहा गया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में इस तथ्य को पूर्णतया स्पष्ट कर दिया है।[1] विश्वनाथ ने भी साहित्यदर्पण में इसी तथ्य की पुष्टि की है।[2]

भावकत्व व्यापार का निरूपण करते हुए डा. प्रेमस्वरूप गुप्त ने साधारणीकरण को व्याप्य तथा भावकत्व को व्यापक व्यापार बतलाया है।[3] तथा व्यापार-शब्द का अर्थ उन्होंने 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' अर्थात् जो करण से उत्पन्न हो तथा करण से उत्पन्न होने वाले कार्य (फल) को उत्पन्न करता हो, वह किया है। इसी अर्थ का समन्वय उन्होंने भावकत्व व्यापार तथा उसके व्याप्य साधारणीकरण व्यापार में किया है। उनके अनुसार 'भावकत्व काव्य-शब्दों का एक व्यापार है अतः वह काव्यशब्द-जन्य है तथा फलरूप में रस-भावन का जनक है। किन्तु साधारणीकरण का क्षेत्र कुछ सीमित है। साधारणीकरण विभावादि का व्यापार है। वह स्वयं भाषा के कलात्मक एवं भाव-प्रवण प्रयोग के फलस्वरूप उत्पन्न होता है, विभावादि में रहता है तथा फलरूप में प्रमातृ-चेतना के मोह-संकट का निवारण करता है। इस प्रकार भट्टनायक का साधारणीकरण उनके व्यापक भावकत्व व्यापार का एक अंग है।'[4] किन्तु यह कथन उचित प्रतीत नहीं होता। क्योंकि यहां व्यापारशब्द नैयायिकों द्वारा प्रतिपादित उपर्युक्त अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है अपितु अभिधा, लक्षणा, व्यंजना आदि शब्द-शक्ति में ही प्रयुक्त हुआ है। जिस प्रकार अभिधा आदि, शब्दों में रहने वाली, शक्तियां हैं जो विभिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीति कराती हैं, उसी प्रकार भट्टनायक ने काव्य-शब्दों में अभिधा से अतिरिक्त भावकत्व और भोजकत्व नामक दो शक्तियां और मानी हैं जो कि क्रमशः विभावादि के साधारणीकरण का तथा साधारणीकृत रत्यादि का साक्षात्कारात्मक भोग कराने का कार्य करती है। जैसे शब्द अभिधा व्यापार का जनक नहीं है किन्तु आश्रय है। उसी प्रकार काव्य-शब्द भावकत्व व भोजकत्व व्यापार के जनक नहीं हैं अपितु आश्रय हैं, और अर्थप्रतीति कराने के कारण प्रत्यायक (बोधक) कहलाते हैं न कि जनक। अतः अभिधा या भावकत्वरूप शब्द-व्यापार में 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वम्' इस व्यापार के लक्षण का समन्वय नहीं हो सकता।

---

१ (क) अत एवास्य विषयसंवलनाद् ब्रह्मास्वादसविधवर्तीत्युच्यते। (रसगंगाधर पृ. २५)
(ख) इदं च काव्यव्यापारवशात् समाधेर्विलक्षणं विभावादिविषयसंवलितचिदानन्दस्वरूपत्वात्।
—(रसगंगाधर पृ. २३)

२ स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः। —साहित्यदर्पण पृ. ८

३ रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. १८९।

४ वही पृ. १४९।

'साधारणीकरण भावकत्व व्यापार का अग है। अतः प्राधान्य भावकत्व व्यापार मे होने से भावकत्व का ही व्यापाररूप से प्रतिपादन भट्टनायक ने किया है न कि साधारणीकरण का' इसका समर्थन करते हुए श्री गुप्त ने' कुठारजन्य कुठार-दारुसंयोग में अगभूत कुठार का उद्यमन, निपतन आदि अवान्तर व्यापारो की कल्पना की है और कहा है कि यहा प्रधान होने से कुठार-दारुसयोग को ही व्यापार माना गया है, औरो को नही। किन्तु यह मान्यता भी उचित प्रतीत नही होती। क्योकि करण का व्यापार वह होता है जिसके बाद क्रिया (फल) की सिद्धि बिना किसी व्यवधान के हो जाय। कुठारजन्य उद्यमन और निपतन आदि क्रियाओ के पश्चात् भी कुठार-दारुसयोग के बिना छिदिक्रिया की सिद्धि नही होती अतः उन्हे व्यापार नही माना जा सकता। दूसरी बात यह है कि उद्यमन व निपतन कुठारगत क्रियायें हैं न कि व्यापार, और न ये कुठारजन्य हैं, किन्तु कुठाराश्रित हैं।

अपि च न्यायादि-दर्शनशास्त्र मे व्यापारशब्द क्रिया का वाचक न होकर करण तथा फल के बीच मे रहने वाले अवान्तर तत्व का वाचक है, वह तत्व चाहे गुणरूप हो, क्रियारूप हो या और कोई वस्तु हो। कुठार तथा तज्जन्य छिदिक्रिया के मध्य जिस कुठारदारुसयोग को व्यापार माना है, वह गुणरूप है। 'ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि वेदवाक्यो मे ज्योतिष्टोमयाग तथा स्वर्गप्राप्तिरूप फल के मध्य मे वर्तमान अपूर्व (यज्ञजन्य अतिशयविशेष) रूप व्यापार एक सस्कारविशेष है, जिसकी कल्पना इसलिए की गयी है कि ज्योतिष्टोमादियागो के क्रियारूप होने से वे अनुष्ठान के बाद नष्ट हो जाते है। अत. देहरयागानन्तर होने वाली स्वर्गप्राप्ति के कारण वे नही बन सकेंगे, क्योंकि स्वर्गप्राप्तिरूप फल के समय उनकी स्थिति नही है। अतः कारण के बिना फलप्राप्ति कैसे होगी ? इस अनुपपत्ति का निराकरण करने के लिए यज्ञ से तज्जन्य अपूर्व मध्य मे माना गया है जो कि स्वर्गप्राप्तिरूप फल तक रहता है। स्वर्गसाधन यज्ञादि अपूर्वरूप अवान्तरव्यापार के द्वारा स्वर्गरूप फल को उत्पन्न करते हैं। अत. कारण के न रहने पर भी स्वर्गोत्पादनरूप फल की अनुपपत्ति नही है। इसलिए यहाँ व्यापारशब्द एकमात्र क्रिया का वाचक न होकर 'तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनकत्वरूप' पारिभाषिक व्यापार का वाचक है। और ऐसा व्यापारत्व उद्यमन निपतन मे नही है, अतः उनको व्यापार मानना असगत है।

विभावादि को साधारणीकरण का आश्रय बतलाना भी सगत नही, क्योकि विभावादि साधारणीकरण के विषय हैं न कि आश्रय। आश्रय तो वे साधारणीभवन के हैं। इसीलिए 'भावकत्व रसादिविषयम्' इस उक्ति के द्वारा विभावादि को साधारणीकरण का विषय बतलाया गया है।[2]

वस्तुतः भावकत्व व साधारणीकरण दो भिन्न व्यापार नही हैं जैसी कि डा. गुप्त की धारणा है, अपितु एक ही हैं। अतः साधारणीकरण को भावकत्व का अग

१. रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. १४८-१४९।

२. लोचन पृ. १८२।

मानना समुचित नहीं है। अभिनव भारती[1] लोचन[2] तथा रसगंगाधर में भावकत्व को साधारणीकरणरूप ही बतलाया गया है।[3] 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण' इस अभिनव-भारती की उक्ति में आत्मशब्द का अर्थ स्वरूप है अर्थात् विभावादि का साधारणीकरण ही भावकत्व का स्वरूप है। डा० गुप्त[4] का यह कथन कि साधारणीकरण समस्त भावकत्व में सर्वाधिक महत्वपूर्ण अंश है अतः इसे भावकत्व की आत्मा (जीवन) कहा गया है संगत नहीं है, क्योंकि साधारणीकरण को छोडकर भावकत्व व्यापार का कौन सा अप्रधान अंश बच जाता है जिसकी तुलना में साधारणीकरण को महत्त्वपूर्ण अंश बतलाया गया। उन्होंने भावकत्व व्यापार का फल जो रस-भावन माना है, वह रत्यादि के साधारणीकरण के अतिरिक्त क्या वस्तु है? डा० गुप्त ने भावकत्व व्यापार या साधारणीकरण का निजमोहसंकटतानिवारणरूप जो फल बतलाया है वह भी यही है कि विभावादि के साधारणीकरण न पूर्व सहृदय उनको रामादिविशेषव्यक्ति से सम्बन्धित समझता था और साधारणीकरण के बाद उनका उस व्यक्तिविशेष के साथ सम्बन्ध का निवारण या परिहार हो जाता है। इसके अतिरिक्त भावकत्व या साधारणीकरण व्यापार से प्रमाता का कोई अज्ञान नष्ट नहीं होता। प्रमाता की चेतना में रजोगुण व तमोगुण-जन्य अज्ञानादि का नाश तो भोगदशा में सत्त्व के उद्रेक से होता है। जबकि रज व तम का नितांत अभिभव हो जाता है न कि भावकत्व या साधारणीकरण के द्वारा।

डा० गुप्त ने भट्टनायक किन-किन तत्वों का साधारणीकरण मानते हैं? इसका प्रतिपादन करते हुए लिखा है 'भट्टनायक के विचारों पर सामंजस्यात्मक दृष्टि डालने से यही प्रतीत होता है कि उन्हें वस्तुपक्षीय सामग्री अर्थात् विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भावों का ही साधारणीकरण अभीष्ट है।'[5] 'जहां तक सामाजिक के स्थायिभावों का प्रश्न है, भट्टनायक का वक्तव्य है कि वे भावकत्व व्यापार से भावित होते हैं उन्हें उनका साधारणीकरण नहीं अपितु भावन अभिप्रेत है।'[6] इसी तथ्य का समर्थन करते हुए उन्होंने तर्क दिया है कि साधारणीकरण शब्द में अभूततद्भावार्थक 'च्वि' प्रत्यय का प्रयोग होने से जो पहले असाधारण हैं उन्हीं का साधारणीकरण होता है और स्थायिभाव असाधारण नहीं है अतः उनके साधारणीकरण का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु डा० गुप्त की यह धारणा भ्रान्त

---

१ 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण' अ भा पृ २७७

२ भावकत्वं नाम रसान्प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम —(लोचन पृ १८३)

३ तस्मादभिधया निवेदिता पदार्था भावकत्वव्यापारेणाऽऽत्मीयत्वादिरूपविरोधिज्ञानप्रतिबन्धद्वारा रत्यादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेण भाव्यन्ते। रसगंगाधर पृ २४

४ रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ १४८।

५ रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ १५३।

६ वही, पृ १५४।

है। स्थायिभाव भी साधारणीकरण से पूर्व असाधारण हैं। उनमे रामादिव्यक्ति-विशेष का सम्बन्ध ही असाधारणता है अतः उनका भी साधारणीकरण हो सकता है और होता है। अन्यथा अभिनवगुप्त[1] को भी साधारणीकृत विभावादि के बल से उद्बुद्ध होने वाले, सामाजिकों मे वासनारूप से विद्यमान स्थायिभाव की व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से रहित अतएव रतित्वरूप साधारणीकृतरूप से अभिव्यक्ति मानने की क्या आवश्यकता थी? क्योंकि डा० गुप्त की रीति से स्थायिभाव सदा साधारण ही है।

भट्टनायक ने भी विभावादि के साधारणीकरण की तरह स्थायिभाव का भी साधारणीकरण माना है। इसीलिए मम्मट ने 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रसः' यह कहा है। यहाँ 'भाव्यमान' पद का अर्थ साधारणीक्रियमाण है। यही अर्थ वामनभट्ट झलकीकर आदि ने किया है।[2] स्वयं भट्टनायक ने 'भावकत्व रसादिविषयम्'[3] इस उक्ति के द्वारा भावकत्व व्यापार का विषय रसादि हैं, यह कह कर रस (रति) को भावकत्व व्यापार का विषय बतलाया है। और भावकत्व व्यापार का कार्य साधारणीकरण ही है। इसीलिए 'साधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण'[4] इस उक्ति के द्वारा स्वयं भट्टनायक ने भावकत्व का स्वरूप साधारणीकरण बतलाया है। काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्दभट्ट ने भी भट्टनायक के मत का प्रतिपादन करते हुए स्पष्टरूप से स्थायी के साधारणीकरण का उल्लेख किया है।[5]

पंडितराज जगन्नाथ ने भी भट्टनायक के मत का प्रतिपादन करते हुए स्थायिभाव का भी साधारणीकरण स्वीकृत किया है। जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है कि भावन व साधारणीकरण पर्यायवाची शब्द हैं। अत भट्टनायक को रस का भावन अभिप्रेत है, साधारणीकरण नही, यह कथन भी परस्पर विरुद्ध प्रतीत होता है।

भट्टनायक ने रस के बारे मे पूर्वप्रचलित प्रतीतिवाद, उत्पत्तिवाद तथा अभिव्यक्तिवाद का खण्डन करते हुए यह बतलाया है कि सीतादि विभाव सीतात्वादि विशेषधर्मों को लेकर तो सामाजिक मे रत्यादिप्रतीति के विभाव बन ही नही सकते। किन्तु कान्तात्वादि सामान्यधर्मों को लेकर भी नही बन सकते क्योंकि

---

१. साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्त ....साधारण्यापादनात्' (का प्र पृ. ९२)

२. भाव्यमान साधारणीक्रियमाण । बालबोधिनी टीका का पृ ९१

३ ध्वन्यालोक-लोचन पृ. १८२ ।

४. अभिनवभारती पृ. २७३ ।

५. भावकत्व साधारणीकरणम्। तेन हि व्यापारेण विभावादय स्थायी च साधारणीक्रियन्ते। साधारणीकरण चैतदेव यत् सीतादिविशेषाणां कामिनीत्वादिसामान्येनोपस्थितिः। स्थाय्यनुभावादीना च सम्बन्धिविशेषानवच्छिन्नत्वेन। प्रदीप टीका पृ. ९५ ।

जहां देवतादि विभाव हैं वहां सामाजिक में उनके प्रति आराध्यत्व, पूज्यत्वादि बुद्धि के जागरूक होने से कान्तात्वादि सामान्य धर्मों के ग्रहण करने पर भी उनमें मनुष्य-साधारणता नहीं बन सकती। अत वे सामाजिक में रत्यादिप्रतीति के कारण नहीं हो सकते। इस प्रकार साधारणीकरण या साधारणता को मानकर भी देवतादि में सामाजिकों के प्रति विभावना का निषेध किया है। पश्चात् अपना मत उपस्थित करते हुए भट्टनायक ने भावकत्व व्यापार द्वारा सीतादि विभावों का तथा देवतादि का साधारणीकरण मानकर उनका सामाजिकों में रत्यादिप्रतीति का विभाव सिद्ध किया है। जैसे 'न च कान्तात्व साधारण वासना-विकासहेतु-विभावतायां प्रयोजक-मिति चेन् देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। अलोकसामान्यानां रामादीनां ये समुद्र-सेतुबन्धनादयो विभावास्ते कथं साधारण्य भजेयु' (लोचन पृ १८१) तस्मात्काव्ये दोषाभावगुणालकारमयत्वलक्षणेन 'विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्या-पारेण भाव्यमानो रस (अभि भा पृ १७०)

इस प्रकार भट्टनायक के पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष में साधारणीकरण या साधारणता को लेकर स्पष्ट विरोध प्रतीत हो रहा है, यह बात डा गुप्त ने कही है।[1] तथा उसका समाधान जो डा गुप्त ने किया है। उसका सार यह है कि 'प्रतीतिवादी का साधारणीकरण अभिधा के धरातल का है। अभिधा की सीमा में सीता सीता ही है, वह सामाजिक की रति का विभाव नहीं बन सकती। हनुमान् का समुद्रलघन हनुमान् का समुद्रलघन है, वह सामाजिक के लिए असाधारण है। इस धरातल पर न तो सीता का कान्तात्व सामने आ सकता है और न देवतादि में साधारणीकरण की गु जाइश हो सकती है।[2] प्रतीतिवादियों का साधारणीकरण भाषा की अभिधा शक्ति की सीमाओं में ही सीमित था'।[3] भट्टनायक ने इस साधारणीकरण का परिष्कार किया। उन्होंने काव्य-शब्दों में भावकत्वनामक अतिरिक्त व्यापार की कल्पना कर उसे (साधारणीकरण को) अभिधा की सीमा से हटाकर भावकत्व व्यापार की सीमा में रखा। अभिधा से साधारणीकरण को अलग करने के कारण वे उसके फल-रूप में प्रमातृचेतना के मोहसकटता के निवारण को भी सामने कर सके। इससे यह हुआ कि जहां पुराना साधारणीकरण कान्तात्वादि साधारणधर्मों को पुरस्कृत करके भी उनमें विभावना नहीं ला सका, वहीं नया साधारणीकरण इस कार्य को सहज ही पूरा कर सका।[4]

डा गुप्त का उपर्युक्त अभिमत साधारणीकरण के विषय में भट्टनायक के पूर्वपक्ष व सिद्धान्तपक्ष में प्रतीत होने वाले विरोध का कोई वास्तविक समा-धान उपस्थित नहीं करता। पूर्वपक्षी का साधारणीकरण अभिधा की सीमा में सीमित है तथा सिद्धान्तपक्षीय भट्टनायक का साधारणीकरण अभिधा की सीमा से बहिर्भूत भावकत्व व्यापार की सीमा में है, यह कथन केवल भ्रामक शब्दजाल है।

---

१ रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ १५७।

२, ३, ४ रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ १५८, १५९।

अभिधा व्यापार व भावकत्व व्यापार की सीमा मे आ जाने से साधारणीकरण मे क्या अन्तर आ जाता है ? इसका कोई स्पष्ट निरूपण इस समाधान मे नही मिलता।

मेरे विचार मे पूर्वपक्षी प्रतीतिवादी द्वारा प्रतिपादित साधारणीकरण का केवल यह तात्पर्य है कि सीतादि विभावो मे जिस प्रकार सीतात्वादि विशेषधर्म रहते है उसी प्रकार कान्तात्वादि सामान्यधर्म भी रहते हैं। अत सीतात्वादि विशेषधर्मों के ग्रहण करने पर सीतादि रामादिव्यक्तिविशेष के प्रति ही विभाव बन सकते है, सामाजिको के प्रति नही। यद्यपि कान्तात्वादि सामान्यधर्मों को ग्रहण करने पर वे सामाजिक के प्रति भी विभाव बन सकते हैं। किन्तु कान्तात्वादि सामान्यधर्म को ग्रहण करने पर भी सीतादि सामाजिक के प्रति विभाव नही बन सकते, इस विभावतानिराकरण का यह तात्पर्य प्रतीत होता है कि सीतादि मे कान्तात्वादि सामान्यधर्म का ग्रहण करने पर भी उनमे सीतात्वादि विशेषधर्मों का परिहार अभिधा के क्षेत्र मे नही होता। क्योकि सीतादि म अगम्यात्वज्ञान उनके सामाजिको का विभाव होने मे प्रतिबन्धक है। और देवतादि के वर्णन मे तो मानव मे देवतादि के प्रति आराध्यत्व या पूज्यत्व बुद्धि सर्वदा बनी रहती है। अत उस बुद्धि के साधारणीकरण मे प्रतिबन्धक होने से उनम किसी भी प्रकार साधारणता नही हो सकती। किन्तु भट्टनायक का भावकत्व व्यापार सीतादि की केवल कान्तात्वादि साधारणधर्म-पूर्वक उपस्थिति ही नही कराता अपितु सीतादि म रसविरोधी अगम्यात्व, पूज्यत्व, आराध्यत्व आदि बुद्धि का प्रतिबन्ध भी करता है। ऐसी स्थिति म कान्तात्वादि-धर्मपूर्वक उपस्थापित सीतादि से सामाजिक मे भी रति आदि की प्रतीति हो सकती है। क्योकि सीता हमारे लिए अगम्या है "पार्वती आदि पूज्य और आराध्य हैं' यही बुद्धि तो सीता आदि के सामाजिक के प्रति विभाव होने मे प्रतिबन्धक थी। अब उस बुद्धि के हट जाने से कान्तात्वादि साधारणधर्मों को लेकर सीता आदि सामाजिक के प्रति विभाव बन सकते हैं। यही पूर्वपक्षी प्रतीतिवादी के साधारणीकरण तथा भट्टनायकसम्मत साधारणीकरण मे अन्तर है। अभिधाक्षेत्र मे सीतादि मे कान्तात्वादि सामान्यधर्म का ग्रहण करने पर भी सीतात्व पूज्यत्वादि रसविरोधी धर्मों का परिहार नही होता और भावकत्व व्यापार के द्वारा हो जाता है। इसका विवेचन आगे किया जायगा।

मेरी यह धारणा स्वकपोलकल्पित नही है अपितु इसमे पडितराज जगन्नाथ जैसे व्यक्ति का साक्ष्य विद्यमान है। उन्होंने भट्टनायक के मत का प्रतिपादन करते हुए इस तथ्य का स्पष्टीकरण किया है—

'न च कान्तात्व साधारण विभावतावच्छेदक मप्राप्यस्तीति वाच्य, अप्रामाण्य-निश्चयानालिंगितागम्यात्वप्रकारकज्ञानविरहस्य विशेष्यतासम्बन्धावच्छिन्नप्रतियोगिताकस्य विभावतावच्छेदककोटौ अवश्य निवेश्यत्वात्। अन्यथा स्वस्रादेरपि कान्तात्वादिना तत्त्वापत्ते.। एव अशोच्यत्वकापुरुषत्वादिज्ञानविरहस्य तथाविधस्य करुणरसादौ। तादृशज्ञानानुत्पादस्तु तत्प्रतिबन्धकान्तरनिर्वचनमन्तरेण दुरुपपाद.'''' '' ''

तन्मादभिधया निवेदिताः पदार्थाः भावकत्वव्यापारेण अगम्यात्वादिरसविरोधिज्ञान-प्रतिबन्धद्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते ।' र. गं. पृ. २४

डा० नगेन्द्र की तरह डा० गुप्त ने भी रसास्वाद की ब्रह्मास्वादसहोदरता का निरूपण करते हुए कहा है 'यह रसभोग ब्रह्मास्वादसहोदर होता है। इसमें दो पक्ष मानने किये गये हैं। एक रजस्तमोऽनुविद्धसत्त्वोद्रेक की चित्त का, दूसरा विश्रान्त संवित् का। अत. रस-दशा को परा या शुद्ध संवित् नहीं कहा जा सकता'।[1] आगे चलकर वे कहते हैं कि भट्टनायक के अनुसार काव्यरस ब्रह्मानन्द नहीं ब्रह्मानन्दसहोदर है। उनके ऐसा मानने का कारण स्पष्ट है। काव्यास्वाद में प्रमाता के चित्त की भी तो सत्ता रहती है। शैव-दर्शन के अनुसार चित्त भी चिति-शक्ति का ही एक रूप है। यह संकुचित चिति है" भट्टनायक अपने रसभोग मे विश्रान्ति संवित् को प्रकाशा-नन्दमय या निजचित्-स्वभावनिर्वृत ही नहीं मानते अपितु उसे वे चित्त के धरातल पर लेते हैं। इसी कारण उनका भोग ब्रह्मास्वादसहोदर है'।

किन्तु यह पहले ही बतलाया जा चुका है कि रसास्वाद या रसभोग इसलिए ब्रह्मास्वादसहोदर नहीं कहलाता कि रसास्वाद में प्रमाता के चित्त की भी सत्ता रहती है, क्योंकि चित्त की सत्ता तो ब्रह्मास्वाद के समय योगी व ज्ञानी में भी रहती है। रसास्वाद का ब्रह्मास्वाद से यही अन्तर है कि उस समय चित्तवृत्ति शुद्ध आत्मा-कारा रहती है। अर्थात् आत्मा से भिन्न किसी विषय की प्रतीति उसमें नहीं रहती है, जबकि रसास्वाद मे आत्मा के साथ विभावादिसवलित रत्यादि की प्रतीति भी है।

समीक्षा

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि भट्टनायक ने ही सर्वप्रथम रसास्वादन के मार्ग को प्रशस्त किया। इससे पूर्व भट्ट लोल्लट व शंकुक की मान्यता थी कि सहृदय अनुकार्य रामादि में रहने वाले या अनुकर्ता नटादि मे रहने वाले रस की प्रतीति अर्थात् ज्ञान प्राप्त कर आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं। किन्तु प्रत्यक्षानुभवरूप आनन्दानुभूति रसास्वादन के प्रत्यक्ष अनुभव बिना नहीं बन सकती। साधारणीकरण पद्धति के बिना सीतादि विभाव से उत्पन्न रामादिगत रति की प्रतीति सहृदयों द्वारा कभी सम्भव नहीं थी। अतः साधारणीकरण के द्वारा भट्टनायक ने एक अभूत-पूर्व दिशा प्रदर्शित की। इसी पद्धति को अक्षरशः इनके परवर्ती अभिनवगुप्त आदि ने भी अपनाया। यह बात दूसरी है कि उन्होंने साधारणीकरण के लिए भावकत्व नामक अपूर्व व्यापार को कारण न मानकर काव्य में दोषाभावयुक्त तथा गुणा-लंकारादिसम्पन्न शब्दार्थ को तथा नाट्य में अभिनयादि को कारण माना है। दूसरी बात यह है कि रसास्वादनकाल में प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्तिरूप चित्तवृत्ति मानकर आस्वादन या साक्षात्कार का मार्ग भी सर्वप्रथम भट्टनायक ने ही प्रशस्त किया; किन्तु अभिनवगुप्त ने यह श्रेय भट्टनायक को प्रदान न कर तत्पूर्ववर्ती ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन को दिया।

---

१. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ. १६१।

अभिनवगुप्तकृत भट्टनायकमतालोचन

भट्टनायकमत का निराकरण अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन मे निम्न रीति से किया है। उनका कथन है कि—विभावादि व स्थायिभावों के साधारणीकरण द्वारा सहृदय में रसप्रतीति की बाधा को दूर करने के लिए जिस भावकत्वरूप व्यापार की तथा साधारणीकृत रति के आस्वादनरूपज्ञानार्थ जिस भोजकत्व या भोगीकरणरूप व्यापार की कल्पना भट्टनायक ने की है, वे दोनों कार्य ध्वनिकार तथा आनन्दवर्धन द्वारा स्वीकृत व्यंजनाव्यापार से ही हो सकते हैं। अतः इन दो व्यापारों को काव्यशब्दों में मानने की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि विभावादि द्वारा रस की प्रतीति व्यंजना से ही होती है। भट्टनायक ने ध्वनिकारादि द्वारा प्रतिपादित व्यंजना को स्वीकार नहीं किया, इसलिए उनको भोजकत्वरूप व्यापारान्तर की कल्पना करनी पड़ी। किन्तु रसप्रतीति के भोगीकरणरूप व्यापार द्वारा हो जाने पर भी वस्तु तथा अलङ्काररूप व्यंग्यार्थ के भान के लिए व्यन्जना की सत्ता तो माननी ही पड़ता है। अतः उसी से रसप्रतीति के सिद्ध हो जाने पर भोजकत्व व्यापार को पृथक् मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। रही विभावादि के साधारणीकरणार्थ भावकत्व व्यापार को मानने की बात। काव्यशब्दों का वह भावकत्वव्यापार भट्टनायक के अनुसार दोषरहित तथा गुणालङ्कारसंस्कृत शब्दों का प्रयोग ही है। और समुचितगुणालङ्कारसंस्कृत शब्दों का प्रयोग या परिग्रह रसपरतन्त्र कवि के लिये आवश्यक है, यह भी ध्वनिकार ने ध्वन्यालोक के द्वितीय, तृतीय उद्योत में गुणालङ्कारों का निरूपण करते हुए बतला दिया है। क्योंकि लोकधर्मिस्थानीय व नाट्यधर्मिस्थानीय स्वभावोक्ति व वक्रोक्तिरूप प्रकारद्वयविशिष्ट तथा प्रसाद, माधुर्य व ओजोगुणविशिष्ट शब्दों के द्वारा बोध्यमान विभावादि के योग से रस की प्रतीति होती है। इस प्रकार काव्य रस का भावक है यह बात भी भट्टनायक ने जो कही है। वह पहिले ही ध्वनिकारादि के द्वारा बतला दी गयी है।

अपि च, केवल काव्यशब्द ही रस के भावक नहीं हैं जैसा कि भट्टनायक ने कहा है किन्तु अर्थ भी रस के भावक हैं। क्योंकि अर्थ का परिज्ञान न होने पर केवल काव्यशब्दों से रस की प्रतीति नहीं होती। और समुचितशब्दरहित केवल अर्थ से भी रस की प्रतीति नहीं होती। अन्यथा काव्यशब्दों से भिन्न लौकिकशब्दों द्वारा बोधित अर्थ से भी रस की प्रतीति हो जाती। लौकिकशब्द तथा लौकिक अर्थ से भिन्न *काव्यगत सुन्दर शब्द व रमणीय अर्थ दोनों मिलकर रस के भावक हैं। इस तथ्य* का प्रतिपादन—

> 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
> व्यक्तः काव्यविशेषः '.................. ॥'[1]

इस कारिका के द्वारा ध्वनिकार ने तथा 'यत्रार्थो वाच्यविशेषः वाचक-

---

१. ध्वन्यालोक प्र. उ. का० १३

विशेष शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्त.'[1] इनके द्वारा वृत्तिकार आनन्दवर्धन ने कर ही दिया है। अत समुचितगुणालङ्कारसम्कृत शब्दार्थों के द्वारा रसभावन अर्थात् रस-चर्वणोपयोगी विभावादि का साधारणीकरण व्यजनावृत्ति से ही हो जाता है उनके लिए पृथक् भावकत्व या भावना-नामक व्यापार काव्यशब्दो मे मानने की आवश्यकता नही है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मीमासा में पुरुषप्रवृत्तिरूप आर्थीभावना मे *'स्वर्गकामो यजेत' इत्यादि विधिवाक्य मे आख्याताश से बोधित पुरुषव्यापाररूप* भावना यागरूप करण द्वारा, प्रयाजादिरूप इतिकर्तव्यता के द्वारा स्वर्गरूप इष्ट की भावक है उसी प्रकार काव्य भी व्यजनारूप करण के द्वारा व गुणालङ्कारौचित्यादि-रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा सहृदयपुरुष के प्रति रस का भावक है[2]। अर्थात् विभावादि के साधारणीकरण द्वारा काव्य रस का भावक है वह रस (रति) का साधारणीकरण करता है। साधारणीकृत रति का ही रसिक को साक्षात्कारात्मक भोग होता है।

मीमासा मे बतलाया गया है कि धातु तथा प्रत्ययरूप दो अशों से युक्त 'यजेत' पद मे प्रत्यय मे भी दो अश हैं—आख्याताश व लिङश। दोनो अश भावना के बोधक हैं। उन मे लिङश शाब्दी भावना का तथा आख्यात अश आर्थी भावना का बोधक है। उत्पद्यमान वस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल उत्पादक के व्यापार को भावना कहा जाता है।[3] वह उक्त भावना अशत्रय में युक्त होती है। वे तीन अश साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यतारूप हैं। क्योंकि भावना को साध्याश, साधनाश व इति-कर्तव्यताश (प्रकाराश) की आवश्यकता है। क्योंकि 'भावयेत्' कहने पर 'किं भावयेत्', 'केन भावयेत', 'कथ भावयेत्' यह आकाक्षा होती है। उसमे 'किं भावयेत्' इस आकाक्षा की पूर्ति इष्ट स्वर्गादिरूप साध्य से होती है। 'केन भावयेत्' इस आकाक्षा की पूर्ति 'यजेत' म धात्वर्थ याग के द्वारा होती है तथा 'कथ भावयेत्' इस आकाक्षा की पूर्ति प्रयाजादि यागानुष्ठान के द्वारा होती है। अर्थात् याग से 'प्रयाजाद्यनुष्ठान-रूप इतिकर्तव्यता के द्वारा स्वर्ग को स्वर्गार्थी पुरुष का व्यापार उत्पन्न करे। दूसरे शब्दो मे 'यजेत' इस पद में लिङ्शवाच्य पुरुषव्यापाररूप भावना यागरूप साधन के द्वारा तथा प्रयाजादिरूप इतिकर्तव्यता द्वारा स्वर्गरूप फल को उत्पन्न करती है।

उसी प्रकार यहाँ रसभावक काव्य व्यञ्जनाव्यापार के द्वारा गुणालङ्कारौ-चित्यादिरूप इतिकर्तव्यता से सहृदय मे रस को उत्पन्न करता है। यहाँ तीन अशो वाली रसभावना मे करणाश व्यजना व्यापार है, इतिकर्तव्यताश गुणालङ्कारौ-

---

१ ध्वन्यालोक पृ १०४

२ तस्माद् व्यञ्जकत्वाख्येन व्यापारेण गुणालङ्कारौचित्यादिकयेतिकर्तव्यतया काव्यं भावकं रसान् भावयति, इति त्र्यंशायामपि भावनायां करणांशे ध्वननमेव निपतति।

—ध्वन्यालोकलोचन पृ. १८९

३ उत्पित्सुभवनानुकूलो भावकव्यापारो भावना 'मीमांसापरिभाषा' पृ २५

चित्य की योजना है तथा साध्यांश रस है। इस प्रकार व्यंजनाव्यापार से ही काव्य गुणालङ्कारौचित्ययोजनाप्रकार से रस को उत्पन्न कर देता है। अत भावकत्व-रूप व्यापारान्तर की आवश्यकता नहीं है।

भट्टनायक ने काव्यशब्दो मे भावकत्व व भोजकत्व नामक दो अतिरिक्त व्यापार मानते हुए भोजकत्व को अर्थात् रसभोगरूप साक्षात्कार को काव्यशब्दो का व्यापार माना है। किन्तु रसभोगकाल मे सत्व के उद्रेक के कारण सहृदय के चित्त मे घनमोहान्ध्यसंकटता की निवृत्ति द्वारा आस्वादापरपर्याय अलौकिक (लौकिक-सुखानुभवविलक्षण) विभावादिसवलित-रत्यादिस्थायिभावो से अवच्छिन्न (युक्त) आत्मचैतन्यसाक्षात्काररूप भोग[1] का ध्वननापरपर्याय व्यंजनाव्यापार ही प्रधान हेतु है।[2] रस को व्यग्य मानने पर भट्टनायकस्वीकृत भोग स्वत सिद्ध है। क्योकि विभावादिसवलित रत्यादिभावो से युक्त आत्मचैतन्य की रस्यमानता से उत्पन्न चमत्कार से भिन्न भोग नही है।[3]

भट्टनायक का 'रसो न प्रतीयते' अर्थात रस की प्रतीति नही होती, यह कथन भी अनुपपन्न है। जो वस्तु प्रतीति का विषय नही होती है, वह अप्रतीत पिशाच की तरह अव्यवहार्य होगी। और इस प्रकार रस की प्रतीति न मानने पर वह अव्यवहार्य होगा[4] और उसके सम्बन्ध मे कुछ भी कथन सम्भव नही होगा। अत यह स्वीकार करना ही होगा कि रस प्रतीति का विषय है। किन्तु जैसे इन्द्रिय-सम्बन्ध से, लिंगबल से, आगम से या आप्तवचन से होने वाली लौकिक प्रतीतियो के प्रतीतित्वेन समान होने पर भी उन प्रतीतियो के उपायभूत इन्द्रिय, लिङ्ग, आगम, योगिप्रत्यक्ष आदि उपाया के भिन्न होने से वे प्रतीतियां प्रात्यक्षिकी, आनुमानिकी शाब्दी या आगमिकी, प्रातिभानिकी आदि भिन्न भिन्न नामो से व्यवहृत होती हैं। उसी प्रकार रसप्रतीति भी उसके उपायभूत हृदयसंवाद, तन्मयीभवन आदि से सहकृत विभावादिरूप सामग्री के लौकिकप्रत्यक्षादि सामग्री स भिन्न होने के कारण लौकिक प्रात्यक्षिकी प्रतीति आदि नामो से भिन्न रसना, चर्वणा, निर्वेश, आस्वादन, भोग, समापत्ति, लय आदि अलौकिक नामो से व्यवहृत होती है। अर्थात् रसप्रतीतिनिदानभूत विभावादिसामग्री की यह विशेषता है कि वह हृदयसंवाद व

---

१ भग्नानन्दाशावरणर विभावादिसवलितरत्यादिस्थाय्यवच्छिन्नात्मचैतन्यसाक्षात्कारो भोग ।
—लोचन बालप्रिया पृ १८६

२ भोगोऽपि न काव्यशब्देन क्रियते, अपितु घनमोहान्ध्यसङ्कटतानिवृत्तिद्वारेणास्वादापरनाम्नि अलौकिके द्रुतिविस्तरविकासात्मनि भोगे कर्तव्ये लोकोत्तरे ध्वननव्यापार एव मूर्धाभिषिक्त ।
—ध्वन्यालोकलोचन पृ १८९

३. तच्चेद भोक्तृत्वं रसस्य ध्वननीयत्वे सिद्धे दैवसिद्धम् । रस्यमानतोदितचमत्कारानतिरिक्तत्वाद भोगस्येति ।
—ध्वन्यालोकलोचन पृ १८९, १९०

४. अप्रतीतं हि पिशाचवदव्यवहार्यं स्यात् ।
—ध्वन्यालोकलोचन पृ १८३

तन्मयीभाव को उत्पन्न करने की क्षमता रखती है।[1]

यह रसप्रतीति शंकुकमत में प्रतिपादित लौकिक अनुमानप्रतीति से विलक्षण है, फिर भी इस अलौकिक रसप्रतीति के लिए लौकिक अनुमानादि प्रतीतियों की आवश्यकता है। क्योंकि लौकिक, अनुमान शब्दप्रमाण से व्युत्पन्न चित्तवाले सहृदय को ही रसप्रतीति होती है। अर्थात् लौकिक अनुमानादि के द्वारा रति का ज्ञान होकर जिसके हृदय में उस रति के संस्कार हैं उसी पुरुष को विभावादि अलौकिक सामग्री के द्वारा अपने चित्त में संस्काररूप से विद्यमान रति का उद्बोध होकर उसका रसनारूप आस्वाद होता है, अन्य को नहीं। इसीलिए कहा है—

'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तःकाष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥'

उपर्युक्तरीति से रस को प्रतीतिविषय मानने पर प्रतीत्यनन्तर ही रस की स्थिति होने से 'रसाः प्रतीयन्ते' इस उक्ति में रस का सिद्धवस्तु की तरह निर्देश कैसे किया गया है? इस शङ्का का समाधान अभिनवगुप्त ने 'ओदनं पचति' के दृष्टान्त से किया है। अर्थात् जैसे पच्यमानतण्डुल के ओदनपदवाच्य होने पर भी 'ओदनं पचति' इस वाक्य में पाकानन्तरभावी ओदनावस्था को ध्यान में रखकर उसका सिद्धवस्तु की तरह कर्मत्वेन निर्देश कर दिया है। उसी प्रकार रसनाप्रतीत्यनन्तर होने वाले रस को सिद्धवत् मानकर यहाँ उसे प्रतीति का कर्म बतला दिया है।[2]

भट्टनायक ने रस की न उत्पत्ति मानी है और न अभिव्यक्तिरूप प्रतीति ही। किन्तु रस की उत्पत्ति व अभिव्यक्ति दोनों न मानने पर या तो रस नित्य होगा या सर्वथा असत् होगा। क्योंकि रस की उत्पत्ति न मानने पर रस अजन्य होने से नित्य होगा और अभिव्यक्तिरूप प्रतीति उसकी न मानने पर वह असत् पिशाच की तरह असत् होगा और अव्यवहार्य बन जायेगा।[3]

इसके अतिरिक्त अभिनवगुप्त ने यह दोष भी भट्टनायकमत में दिया है कि भट्टनायक ने काव्य को रस का भावक (उत्पादक) मान कर रस की उत्पत्ति होती है, इस पक्ष का ही प्रत्युज्जीवन कर दिया है।[4] किन्तु यह दोष उत्थान रसभावना

---

१. किन्तु यथा प्रतीतिमात्रकताविशिष्टेऽपि प्रात्यक्षिकी आनुमानिकी, आगमिकी, प्रतिभानकृता, योगिप्रत्यक्षजा च प्रतीतिरुपायवैलक्षण्यादन्यैव, तद्वदियमपि प्रतीतिश्चर्वणास्वादनभोगापरनामा भवतु, तन्निदानभूताया हृदयसंवादाद्युपकृताया विभावादिसामग्र्या लोकोत्तरत्वात्। —लोचन पृ. १८७

२. 'रसाः प्रतीयन्ते' इति 'ओदनं पचति' इतिवद् व्यवहारः। प्रतीयमान एव रसः। —ध्वन्यालोकलोचन पृ. १८७

३. निष्पत्त्यभिव्यक्तिद्वयानभ्युपगमे नित्यो वा असन् वा रस इति न तृतीया गतिः स्यात्। —अ. भा. पृ. २७७

४. काव्यं च रसान् प्रति भावकमिति यदुच्यते तत्र भवतैव भावनादुत्पत्तिपक्ष एव प्रत्युज्जीवितः। —ध्वन्यालोकलोचन पृ. १८८, १८९

को मीमांसासम्मत भावना मानकर दिया है, क्योंकि मीमांसकों ने 'भवितुर्भवतानुकूलो भावयितुर्व्यापार' अर्थात् उत्पद्यमान स्वर्गादिवस्तु की उत्पत्ति के अनुकूल उत्पादक का 'यजेत' इत्यादि वैदिकवाक्यबोधित जो पुरुषव्यापार है उसे भावना माना है। किन्तु भट्टनायक ने सभवत भावना का इस अर्थ मे प्रयोग न कर पुन पुन अनुसधानरूप ज्ञानविशेष म किया है। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने रस के स्वरूपप्रतिपादन मे विभावादिसाधारणीकरण में सहृदयतासहकृत भावनाविशेष को कारण बतलाया है। वहाँ भावना का उत्पत्त्यनुकूलव्यापार अर्थ कथमपि सम्भव नही, क्योकि उस व्यापार स विभावादि का साधारणीकरण सभव नही है।

भट्टनायक ने 'अलोकसामान्याना च रामादीना ये समुद्रसेतुबन्धनादयो विभावास्ते कथ साधारण्य भजेयु' इस उक्ति के द्वारा रामादि क चरित्र सर्वलोक के हृदयसवादी नही है यह कहा है, उनका वह भी कथन साहसमात्र है। क्योकि मानव का चित्त विचित्र वासनाओ से युक्त होता है। जैसा कि 'जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसस्कारयोरेकरूपत्वात्' 'तासामनादित्व चाशिषो नित्यत्वात्'[1] इन सूत्रो के द्वारा योगसूत्रकार पतञ्जलि ने बतलाया है। अर्थात् नानायोनियो मे भ्रमण करते हुए ससारी प्राणी ने किसी योनि मे जिन सस्कारो का अनुभव किया है, हजारो योनियो के व्यवधान के बाद भी पुन जब उस योनि को प्राप्त करता है तब उन पूर्वानुभूत सस्कारो का पुन प्रकटीकरण हो जाता है, क्योकि पुन उस योनिशरीर की प्राप्ति उन सस्कारो की व्यजिका है। मध्य मे जाति, देश व काल का व्यवधान हो जाने पर भी उन पूर्वानुभूत सस्कारो का अपने अनुरूप स्मृत्यादि को सिद्ध करने मे आनन्तर्य (व्यवधानाभाव) बना हुआ है। क्योंकि पूर्वानुभूत सस्कार तथा उनसे होने वाली स्मृति मे एकरूपता है।

तात्पर्य यह है कि यदि मार्जारयोनि मे प्राणी को जो सस्कार उत्पन्न हुए हैं, अनेक योनियो के व्यवधान क बाद पुन मार्जारयोनि प्राप्त होने पर उस मार्जारशरीर के, मार्जारयोनि मे अनुभूत सस्कारो का, उद्बोधक होने से तदनुरूप स्मृति उसको हो जाती है। क्योकि पूर्वानुभूत मार्जारयोनि के सस्कारो मे तथा अनेक योनियो के व्यवधान क बाद भी पुन. प्राप्त होने वाली मार्जारयोनि की स्मृतिरूप फल म उन पूर्वानुभूत सस्कारो का अव्यवधान ही रहता है। अत उन सस्कारो से तदनुरूप स्मृति हो जाती है। स्मृति मे तदनुरूप सुखदु ख का भोग होता है। और उस सुखदु खोपभोगरूप अनुभव से पुन सस्कार बनते हैं उनसे पुन पुन प्राप्त मार्जारयोनि मे उनकी स्मृति होती है। इस प्रकार मार्जारयोनि मे अनुभवद्वारा प्राप्त सस्कारो तथा तज्जन्य स्मृतियो का प्रादुर्भाव, यह धारा चलती रहती है। यह वासना अनादि है। क्योकि इन वासनाओ की कारणभूत महामोहरूप प्राणी, जिसका कि स्वरूप 'सदैव भुक्ते सुखसाधन प्राप्त होते रहें, उनका कभी वियोग न

---

1 पातञ्जलयोगसूत्र कैवल्यपाद सू ९, १०

हो', इत्याकारक सङ्कल्पविशेष है। वह प्रवाहरूप से नित्य है। अतः प्रथम अनुभव किस वासना से उत्पन्न हुआ ? यह शंका निराधार है।

उपर्युक्त रीति से किसी पूर्व जन्म में प्रादुर्भूत समुद्रसेतुबन्धनादि के संस्कारों से लोकोत्तर रामादिचरितों में पूर्वानुभूतवासना के कारण सहृदयों का हृदयसंवाद उपपन्न है।

भट्टनायक का यह कथन भी, कि चित्त के त्रिगुणात्मक होने से रसास्वाद-काल में सत्त्व का उद्रेक होने पर उस सत्त्व के रज और तम से वैचित्र्य से युक्त होने के कारण रसास्वाद द्रुतिविस्तारविकासमय है क्योंकि रज का गुण द्रुति, तम का विस्तार तथा सत्त्व का विकास है,[1] उचित नहीं। क्योंकि यदि सत्त्वादिगुणों के अनुवेध से रसास्वाद में द्रुति-विस्तार-विकासमयता मानी जायगी तो सत्त्वादि-गुणों के अंगांगिभाव के कारण अनन्त वैचित्र्य होंगे और इस प्रकार रसास्वाद में अनन्तवैचित्र्य मानने होंगे जो कि सहृदयहृदयानुभवसिद्ध नहीं है। सभी सहृदयों का एक ही प्रकार का रसास्वाद अनुभवसिद्ध है।

उपर्युक्त रीति से भाव्यमान रति का सत्त्व के उद्रेक के कारण चित्त का स्वात्मचैतन्यस्वरूप लोकोत्तर आनन्द में, वेद्यान्तरशून्यस्थितिरूप भोग होता है। वह परब्रह्मास्वादसविध ही होता है क्योंकि परब्रह्मज्ञान में जिस प्रकार चित्त स्वात्म-चैतन्यस्वरूप लोकोत्तर आनन्द में स्थित होता है उसी प्रकार यहाँ भी उसी आनन्द में स्थित होता है। किन्तु विभावादिसंवलित रति से विशिष्ट या अवच्छिन्न होने के कारण रसास्वाद परब्रह्मास्वादसदृश होता है न कि तद्रूप। विभावादिसंवलित-रत्यवच्छिन्न स्वात्मचैतन्यस्वरूप आनन्द में स्थितिरूप भोग में प्रधान अंश आनन्द ही है और वह चिदानन्दरूप आत्मा के नित्य होने से सिद्ध वस्तु है। अतः प्रधान अंश को लेकर रस में भट्टनायकोक्त सिद्धरूपता, अभिव्यक्ति या प्रतीतिविषय में भी उपपन्न है।

आलोचना का निष्कर्ष

(१) भावकत्वनामक शब्दव्यापार की अतिरिक्त कल्पना निरर्थक है क्योंकि साधारणीकरण का कार्य उपर्युक्त रीति से दोषाभाव व गुणालंकार से युक्त शब्दार्थों तथा अभिनय द्वारा उपस्थापित विभावादि के चित्तवृत्ति में पहुँचने पर सुन्दरता के कारण उनकी पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावना अथवा व्यंजना से हो सकता है। इसका निरूपण पण्डितराज और अभिनवगुप्त ने स्पष्ट कर दिया है।[2] स्वयं

१ यदा हि रजसो गुणस्य द्रुतिः, तमसो विस्तारः, सत्त्वस्य विकासः तदा तासां स्वरूपं स्यात्। —काव्यप्रकाश मकरन्द टीका पृ. ४०

२. (क) मुनिनिर्मितनिबन्धनात्मना काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयता-सहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिः ... ।

—रसगंगाधर, पृ. २१

(ख) भावकत्वमपि समुचितगुणालङ्कारपरिग्रहात्मकम्। —लोचन पृ. १८८।

भट्टनायक ने भी गुणालङ्कार आदि की महत्ता को साधारणीकरण के लिए स्वीकृत किया है।[1]

(२) भावकत्व भी केवल शब्दों में नहीं है अपितु अर्थ में भी है। उसका दिग्दर्शन स्पष्टरूप से अभिनवगुप्त ने लोचन में किया है।[2]

(३) रसास्वादन के लिए पृथक् भोजकत्व व्यापार मानना भी उचित नहीं है। क्योंकि यह कार्य व्यंजना व्यापार से सिद्ध हो सकता है। और व्यंजना व्यापार भोजकत्व व्यापार के मानने पर भी स्वीकृत करना पड़ता है। क्योंकि भोजकत्व व्यापार से रस की अनुभूति हो सकती है किन्तु रस से भिन्न वस्तु और अलंकार-रूप व्यंग्य की प्रतीति व्यंजना व्यापार के बिना नहीं हो सकती। अतः रसास्वादन के लिए अतिरिक्त भोजकत्व व्यापार मानना निरर्थक है।

(४) भट्टनायक के अनुसार सहृदय जिस रति का आस्वादन करते हैं वह रति स्वयं सामाजिकों की नहीं है अपितु साधारणीकरण व्यापार द्वारा साधारणीकृत-रूप में उपस्थापित रामादिरति ही है।[3] किन्तु प्रत्यक्षरूप आस्वादन परकीय वस्तु का नहीं हो सकता है और न उससे प्रत्यक्षात्मक आनन्दानुभूति ही हो सकती है।

(५) भट्टनायक ने रसास्वादनदशा में प्रकाशानन्दमयनिजसंविद्विश्रान्ति-रूप भोग में सत्त्व, रज और तम गुणों के द्वारा चित्त, की द्रुति, विस्तार व विकास ये तीन स्थितियाँ मानी हैं जो वस्तुतः चित्त के तन्मय हो जाने पर रसास्वादन में पृथक्तया प्रतीत नहीं होतीं। और यदि पूर्वावस्था में इन्हें माना भी जाये तो सत्त्वादि गुणों के अंगांगिभाव को लेकर उनके अनेक भेद हो जाने से तीन ही स्थितियाँ नहीं मानी जा सकतीं अपितु अनन्त स्थितियाँ हो जाती हैं।[4]

---

१. तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन नाट्ये च चतुर्विधाभिनयरूपेण विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकत्वव्यापारेण। —अभि भारती पृ २७७।

२. काव्ये च रसान्प्रति भावकत्वमिति यदुच्यते तत्र न काव्यशब्दानां केवलानां भावकत्वमर्थापरिज्ञाने तदभावात्। न च केवलानामर्थानां, शब्दान्तरेणार्प्यमाणत्वे तदयोगात्। द्वयोस्तु भावकत्वमस्माभिरेवोक्तम्। 'यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः' इत्यत्र। —लोचन पृ १८९।

३. तदनेन भावकत्वव्यापारेण विभावादिरूपतां नीतया रामसम्बन्धिन्या रतिश्च सीताव-रामसम्बन्धपरित्यागेन सामान्येन कामिनीत्वादिनोपस्थाप्यते। अनन्तरं भावकत्वव्यापारेण तु तत्कर्योच्या साधारणीकृतविभावादिसहकृतेन सा रतिः सहृदयैरास्वाद्यते। अत्र अनन्या अपि रतेरास्वादः अलौकिकत्वादुच्यते। काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका।

४. (क) सत्त्वादीनां च अङ्गाङ्गिभाववैचित्र्यस्यानन्त्याद् द्रुत्यादित्वेनास्वादगणना न युक्ता। —लोचन पृ १९०

(ख) सत्त्वादिगुणानां चाङ्गाङ्गिभावेन वैचित्र्यमनन्तं कल्प्यमिति का त्रित्वगणना। —अभिनवभारती, पृ० २७७।

(६) भट्टनायक ने रस की प्रतीति, उत्पत्ति व अभिव्यक्ति तीनों का निषेध किया है। किन्तु बिना प्रतीति के रस का स्वरूप ही निष्पन्न नहीं हो सकता। अतः प्रतीति अवश्य माननी होगी, चाहे वह प्रतीति विभावादि अलौकिक उपायों के कारण प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, शब्द आदि लौकिक प्रतीतियों से विलक्षण है। यदि रस की प्रतीति नहीं मानी जायगी तो रस पिशाच की तरह अव्यवहार्य ही होगा। रसप्रतीति के लौकिक ज्ञानों से विलक्षण होने के कारण ही इसकी संज्ञाएं भी भोग, आस्वादन, चर्वणा, समापत्ति, लय, अविघ्नसंवित् आदि अलौकिक ही हैं। भट्टनायक द्वारा स्वीकृत भोग भी प्रतीति से भिन्न नहीं है। भोग को रसना (चर्वणा) रूप मानने पर भी वह रसना प्रतीतिरूप ही है। उपाय के वैलक्षण्य से चाहे उसका नाम भिन्न मान लिया जाय, जैसे उपायवैलक्षण्य के कारण प्रत्यक्षादि प्रतीतियों के प्रत्यक्ष, अनुमान आदि भिन्न नाम हो गये हैं।[1]

(७) भट्टनायक ने भोजकत्व व्यापार का विषय सहृदय को बतलाया है किन्तु वस्तुतः उसका विषय भी साधारणीकृत रत्यादि ही है। भावकत्व व्यापार के विषय विशेष-धर्मों से युक्त रत्यादि है तथा भोजकत्व व्यापार के विषय विशेष-धर्मों से मुक्त साधारणीकृत रत्यादि हैं जिनका वह प्रकाशानन्दमयसंविद्विश्रान्ति-रूप में भोग करता है। यही दोनों में अन्तर है। अभिनवगुप्त तथा पण्डितराज ने भोगीकरण व्यापार का विषय भी रस (साधारणीकृत स्थायिभाव) को बतलाया है।[2]

(८) भट्टनायक रसविषयक उत्पत्ति व अभिव्यक्तिरूप प्रतीति दोनों का निषेध करते हैं। किन्तु उत्पत्ति न मानने पर रस में नित्यता तथा अभिव्यक्तिरूप प्रतीति न मानने पर रस में पिशाच की तरह अव्यवहार्यता की प्रसक्ति है।

सहृदयरत्यभिव्यक्तिवादी आचार्य अभिनवगुप्त

आचार्य अभिनवगुप्तपाद भी ध्वनिकारादि की तरह अभिव्यक्तिवादी हैं। किन्तु वे साधारणीकृत विभावादि से सामाजिक के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि की व्यक्तिविशेषसम्बन्धपरिहाररूप से अभिव्यक्ति मानते हैं। और लौकिक-प्रत्यक्षादि प्रमाणों से विलक्षण रसनादिपर्यायवाची अनुभूति से उन रत्यादि का ज्ञानरूप आस्वादन मानते हैं। अतः इस मत के अभिव्यक्तिवादित्वेन ध्वनिकारादि के

---

1. प्रतीत्यादिव्यतिरिक्तश्च संसारे को भोग इति न विद्मः। रसनेति चेत् सापि प्रतीतिरेव। केवलमुपायवैलक्षण्यान्नामान्तरं प्रतिपद्यतां दर्शनानुमितिश्रुत्युपमितिप्रतिभानादिनामान्तरवत्। अ. भा० पृ० २७७।
2. (क) भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव नान्यत् किञ्चित्।
—लोचन, पृ. १८८
(ख) तृतीयस्य भोजकत्वव्यापारस्य महिम्ना निगीर्णयोः रजस्तमसोरुद्रिक्तसत्त्वजनितेन निजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणेन साक्षात्कारेण विषयीकृतो भावनोपनीतः साधारण्येन रत्यादिः स्थायी भावो रसः। रसगंगाधर पृ. २४

समान होते हुए भी उनसे विलक्षणता बतलाने के लिए यहाँ उसका सहृदयरत्यभिव्यक्तिवादी नाम से उल्लेख किया गया है।

अभिनवगुप्त ने रसविषयक प्राचीन व्याख्याकार भट्टलोल्लटादि के मत में दोषप्रदर्शन कर कोई अपूर्व रसस्वरूप नहीं बतलाया है, किन्तु प्राचीन व्याख्याकारों के रसविषयक मतों को परिशुद्ध कर रसस्वरूप प्रदर्शित किया है और इसी से उनको मूलप्रतिष्ठा का फल प्राप्त हो गया है। इसीलिए स्पष्ट शब्दों में उन्होंने इस बात का निम्न पद्य में उल्लेख किया है—

तस्मात् सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति॥

जब उन से परिशुद्ध रसस्वरूप क्या है? यह पूछा गया तो वे स्पष्ट कहते हैं कि परिशुद्ध रसस्वरूप भी कोई अपूर्व नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप भी आचार्य भरतमुनि ने 'वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति, इति भावा' (नाट्यशास्त्र ७ अध्याय) के द्वारा बतला दिया है। अर्थात् काव्यार्थ ही रस है। उसकी निष्पत्ति ही स्थायी, व्यभिचारी आदि लौकिक चित्तवृत्तियाँ करती हैं, अतः रसरूप काव्यार्थ की भावना कराने के कारण उन्हें भाव कहा जाता है। यहाँ काव्यार्थशब्द रस का बोधक है, क्योंकि काव्यशब्द के पदार्थों और वाक्यार्थों का पर्यवसान रस में ही होता है, अत रस ही प्राधान्य व असाधारणता के कारण काव्यशब्दों का अर्थ है। काव्यार्थशब्द में अर्थशब्द भी *'अर्थ्यन्ते प्राधान्येन इत्यर्थाः'* इस व्युत्पत्ति से सहृदयों द्वारा काव्य में प्रधानतया अर्थनीय (एष्टव्य) अर्थ को बतला रहा है न कि वाच्यार्थ को, क्योंकि रसभावादि कभी भी स्वशब्दवाच्य नहीं होते हैं।[1] लौकिकचित्तवृत्तिरूप स्थायिभाव व व्यभिचारिभाव रस की भावना (निष्पत्ति) किस प्रकार करते हैं? इसका निरूपण करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि लौकिक चित्तवृत्तिरूप स्थाय्यादि भाव जो कि लौकिकदशा में आस्वादयोग्य नहीं हैं, वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विकादि अभिनयप्रक्रियारूढता के कारण साधारणीकरण द्वारा देशकालव्यक्तिविशेषता का परित्याग कर जब सहृदयहृदय में साधारणीकृतरूप से अभिव्यक्त होते हैं, तब वे आस्वादयोग्यता को प्राप्त कर रसनीयता के कारण रस कहलाते हैं। इस प्रकार साधारणीकृत अत एव आस्वादयोग्य सहृदयहृदयनिष्ठ रत्यादिचित्तवृत्तिरूप रस को लौकिक अत एव अनास्वाद्य चित्तवृत्तियाँ भावित अर्थात् निष्पन्न करती हैं। अतः लौकिक चित्तवृत्तियाँ भाव कहलाती हैं तथा उनसे भावित साधारणीकृत अत एव अलौकिक चित्तवृत्तियाँ

---

1 यो वचनार्थो काव्यम्। तत्र च पदार्थवाक्यार्थौ रसेनैव पर्यवस्यत इत्यसाधारण्यात् प्राधान्याच्च काव्यस्यार्थो रसः। अर्थ्यन्ते प्राधान्येनेत्यर्थाः। न त्वर्थशब्दोऽभिधेयवाची स्वशब्दानभिधेयत्वं हि रसादीनामिति ध्वनिकारादिभिर्दर्शितम्। अ. ना. शा. अ. भा. पृ. ३४३

रसनीय (आस्वाद्य) होने पर रस कहलाती हैं।[1]

इस सन्दर्भ से यह सिद्ध होता है कि संस्काररूप में विद्यमान रत्यादि लौकिक चित्तवृत्तियाँ ही जो लोकदशा में देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्ध के कारण अनास्वाद्य होती हैं, काव्य में कवि के सुन्दर निरूपण तथा नाट्य में वाचिकाद्यभिनय के कारण साधारणीकृत होकर जब अभिव्यक्त होती हैं तब देश-कालादिविशेषताओं का परिहार हो जाने से अलौकिक व आस्वादयोग्य बन जाती हैं। अतः वे सहृदयों के द्वारा रस्यमान होने से रस कहलाती हैं। भरतमुनि द्वारा 'वागङ्गसत्त्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्तीति भावाः' इस वचन के द्वारा प्रदर्शित रसस्वरूप का ही निरूपण अभिनवगुप्त ने किया है। इसीलिए उन्होंने परिशुद्ध रस का स्वरूप पूछने पर कहा है कि—'उक्तमेव मुनिना न त्वपूर्वं किञ्चित्। तथा-ह्याह—'काव्यार्थान् भावयन्ति' (ना शा ७ अ २) तत् काव्यार्थो रसः'।

(अ ना पृ २७८)

अभिनवगुप्तप्रतिपादित रसस्वरूप वही है जो भरतमुनि ने बतलाया है। इसी तथ्य के परीक्षण के लिए अब अभिनवगुप्त की रीति से रसस्वरूप का प्रतिपादन किया जा रहा है।

अभिनवगुप्त के अनुसार जिन रत्यादि स्थायिभावों का सहृदय आस्वादन करते हैं वे सहृदय से भिन्न अनुकार्य रामादि तथा अनुकर्ता नटादि में रहने वाले नहीं हैं अपितु सहृदयहृदयवर्ती हैं। सहृदयगत ये ही रत्यादि स्थायिभाव अनुकूल विभावादिसामग्री के उपस्थित होने पर अभिव्यक्त हो जाते हैं और सहृदय द्वारा आस्वाद्यमान होते हुए रस कहलाते हैं। सहृदय में जो रत्यादि भावों के संस्कार विद्यमान हैं, वे इस जन्म के भी हैं तथा जन्मान्तर के भी। सहृदयों ने लोक में प्रमदा, उद्यानादि आलम्बन तथा उद्दीपन कारणों, कटाक्ष-भुजाक्षेपादि कार्यों तथा लज्जा, औत्सुक्य आदि सहकारी कारणों द्वारा स्थायी रत्यादि का पुनः पुनः अनुमान किया है अतः उनमें इस जन्म के संस्कार विद्यमान हैं। तथा पूर्वजन्म के भी हैं। इसीलिए इनमें रसोद्‌बोध की योग्यता है। जिनमें ये संस्कार नहीं होते उनमें रसोद्‌बोध नहीं होता। इसीलिए श्रोत्रियों, जरन्नैयायिकों तथा कतिपय

---

1. (क) चित्तवृत्तय एव लौकिकदशायां वाचिकाद्यभिनयप्रविलापितदशा लौकिकदशायामनास्वाद्य स्वात्मान (साधारणीभावेन) आस्वाद्य कुर्वन्तीत्यतस्ते भावाः। अ. भा. पृ. ३४४।

(ख) वागङ्गमुखरागाणामभिनयन सत्त्वसम्पन्नेन चाभिनयेन यत्नेन कवेः साधारण्येन वर्णनानिपुणस्य यः अन्तर्गतो नायकादिविषयो भावः प्रतिभानरूपः न तु लौकिकविषयका रागस्य एव देशकालादिभेदाभावात् सर्वसाधारणीभावेनास्वादयोग्यः भावयन् आस्वाद-योग्यीकुर्वन् भावश्चित्तवृत्तिरूपः। अ. भा पृ. ३४५, ३४६।

रागियों को, जो कि स्थायिभावों के संस्कारों से रहित हैं, रंगमंच में काष्ठ, कुड्य और अश्मा के समान माना गया है। उनमें रसोद्बोध नहीं होता।[1]

सहृदयों के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायिभाव का काव्य व नाट्य में प्रदर्शित सीतादि कारणों, कटाक्षादि कार्यों तथा लज्जा, औत्सुक्यादि सहकारी कारणों के द्वारा उद्बोध होता है। यद्यपि ये सीतादि राम की रति के प्रति ही कारण हैं न कि सहृदय की रति के प्रति, तथापि साधारणीकरण के द्वारा इनमें सामाजिक के रतिभाव को भी उद्बुद्ध करने की क्षमता है।

अभिनव के अनुसार विभावादि का साधारणीकरण निम्न प्रकार से होता है। अर्थात् सीतादि कारणों, कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कार्यों व लज्जा, औत्सुक्य आदि सहकारी कारणों में 'ये मेरे ही हैं,' 'शत्रु के ही हैं' या 'तटस्थ व्यक्ति के ही हैं' इस प्रकार के सम्बन्धस्वीकार का नियम नहीं रहता, तथा 'ये मेरे नहीं हैं', शत्रु के नहीं हैं' और 'तटस्थ व्यक्ति के नहीं हैं' इस प्रकार के सम्बन्ध-परिहार का नियम भी नहीं रहता। इस प्रकार सम्बन्धविशेष के स्वीकारनियम या परिहारनियम के हटते ही उन सीतादि कारणों में सहृदय के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायिभावों के उद्बोधन की सामर्थ्य आ जाती है। क्योंकि अब उनका न रामादि व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध रहा है। और न सहृदयों से उसका असम्बन्ध-नियम ही रहा है। इसीलिए वे अब अलौकिक बन जाते हैं क्योंकि लोक में सीतादि कारणों, कटाक्षादि कार्यों व लज्जादि सहकारी कारणों का व्यक्तिविशेष रामादि से सम्बन्ध रहता है। काव्य व नाट्य में उपस्थापित इन कारणादि में वह सम्बन्ध नहीं रहा। अत अब वे अलौकिक कहलाते हैं। इसीलिए काव्य और नाट्य में इनकी लौकिक कारणादि संज्ञाएं हटकर अलौकिक विभावादि संज्ञाएं हो जाती हैं। वे अलौकिक संज्ञाएं भी सार्थक संज्ञाएं हैं। लोक में ये क्रमश रति के कारण, कार्य व सहकारिकारण कहलाते हैं। किन्तु अब क्रमश विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव कहे जाते हैं। पहले रामादि व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध होने के कारण इनमें सहृदयों के रतिभाव को उद्बोधित करने की क्षमता नहीं थी। किन्तु अब ये सीतादि कारण, सहृदयों के हृदयों में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायिभावों को आस्वादांकुरयोग्य बनाने की क्षमतावाले हैं। अत. 'विभावयन्ति वासनारूपेण विद्यमानरत्यादिस्थायिभावान् आस्वादांकुरयोग्यता-मापादयन्ति' इस व्युत्पत्ति के अनुसार विभावनसामर्थ्य के कारण विभाव कहलाते हैं। कटाक्ष, भुजाक्षेप आदि कार्य 'अनुभावयन्ति वासनात्मतयातिसूक्ष्मरूपेण अवस्थितान् रत्यादिस्थायिभावान् अनुभवविषयतामापादयन्ति' इस व्युत्पत्ति के

---

1 वासना चेदानींतनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतु। तत्राद्या यदि न स्यात्तदा श्रोत्रिय-जरन्मीमांसकादीनामपि स स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात् तदा यद् रागिणामपि केषांचित् रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्। उक्तं च धर्मदत्तेन—सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्। निर्वासनास्तु रङ्गान्त काष्ठकुड्याश्मसंनिभा ॥ साहित्यदर्पण, ३ परि० पृ ५३-५४

अनुसार अनुभावन-व्यापार द्वारा अनुभाव कहलाते हैं। लज्जा, औत्सुक्य आदि सहकारी कारण 'विशेषेण अभितः सर्वशरीरे वासनात्वेन विद्यमानान् रत्यादि-स्थायिभावान् सञ्चारयन्ति' अर्थात् लज्जादि सहकारी कारण वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायिभावों को विशेषरूप से सारे शरीर में सञ्चारित करने की क्षमता के कारण व्यभिचारी कहलाते हैं। अतः लोक में रत्यादि के जो कारण, कार्य, सहकारी थे, वे ही विभावन, अनुभावन व व्यभिचारण व्यापार के द्वारा विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी इन अलौकिक संज्ञाओं से व्यवहृत[1] होते हैं। इन साधारणीकृत अतएव अलौकिक कारण, कार्य व सहकारियों के द्वारा सहृदयगत रतिभाव का उद्बोधन हो जाता है। इन साधारणीकृत कारण, कार्य व सहकारियों से सामाजिकों के जिस रतिभाव का उद्बोधन होता है वह भी रामादिविशेषव्यक्तिसम्बन्धरहित अतएव साधारणीकृत ही होता है, क्योंकि उसके उद्बोधन के कारण विभावादि साधारणीकृत हैं। उद्बुद्ध रति साधारणीकृत है अतएव विभावादि की तरह यह भी अब लौकिक नहीं किन्तु अलौकिक अर्थात् लोक-विलक्षण है, क्योंकि लौकिक रति रामादिव्यक्तिविशेष से सम्बन्धित होती है और यह उद्बुद्ध रति व्यक्तिविशेष से सम्बन्धित नहीं है। यदि रति को साधारणीकृत न मानकर सहृदयविशेष से सम्बन्धित ही माना जाय तो प्रत्येक सहृदय में रति के विभिन्न होने से सकल सहृदयों का उसमें हृदयसंवाद नहीं होगा, जबकि सभी सहृदयों का एकघन आस्वादरूप संवाद रसदशा में अनुभवसिद्ध है[2]। और उसे स्वसम्बन्धित मानने पर रसदशा में सहृदय निजसुखादि से विवशीभूत हो जावें

जो कि रसास्वादन मे विघ्नभूत है।[1] अत इस (रतिभाव) को भी साधारणीकृत मानना पडता है। इस साधारणीकृत अलौकिक रति का जब सहृदय लौकिक प्रत्यक्षादिप्रमाण तथा योगिप्रत्यक्षादि से विलक्षण स्वसवेदनरूप अलौकिक ज्ञान से आस्वादन करता है तब वह आस्वाद्यमान रति ही रस कहलाती है।[2] यह रति सब विशेषताओ से रहित है। अत न यह लौकिक है, न लौकिकतुल्य है, न मिथ्या है और न अनिर्वचनीय ही है।[3] रति का यह आस्वादरूप ज्ञान भी अलौकिक है क्योकि *यह ज्ञान सभी प्रकार के लौकिकज्ञानो से भिन्न है। लौकिकज्ञान साधारण मनुष्यो* को प्रत्यक्षादि प्रमाणो के द्वारा होता है। किन्तु रति का ज्ञान सहृदयो को इन्द्रियादि लौकिकप्रमाणो से नही होता। लोक मे अपरिपक्व योगियो को प्रत्यक्षादि प्रमाणो की सहायता के बिना योगजसामर्थ्य से भी ज्ञान होता है, किन्तु आस्वाद्यमान रति का ज्ञान योगज सामर्थ्य से भी नही होना है। अन्यथा जैसे युजानयोगी को अपने से भिनरूप से जगत् के पदार्थो का ज्ञान होता है वैसे ही सहृदय को आत्मभिन्नतया तटस्थरूप से रति का ज्ञान होगा। और तटस्थरूप से ज्ञान होने पर सहृदय को उसका आस्वाद न होगा। और न यह ज्ञान परिपक्वयोगी के ज्ञान के समान शुद्ध आत्मविषयक ही है क्योकि इसमे रति व विभावादि के ज्ञान का भी मिश्रण है। अत रति का आस्वाद इन तीनो प्रकार के लौकिकज्ञानो से भिन्न स्वसवेदन या स्वानुभूति के द्वारा ही होता है, अत यह ज्ञान अलौकिक कहलाता है।[4]

यद्यपि ज्ञायमान या आस्वाद्यमान रति ही रस कहलाती है और रति सस्काररूप से सहृदयो मे पहले से विद्यमान है अर्थात् पूर्वसिद्ध है। अत. रस को

---

१. (क) निजसुखादिविवशीभूतश्च कथ वस्त्वन्तर सविद विश्रमयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठै साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभि शब्दादिविषयमयै-भिरातोद्यगानविचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरजन समाश्रितम्।

—अ भा पृ० २८१

(ख) सर्वंजनाना च सुखदु खसविदाम् आस्वादे सविदन्तरसमुद्गम एव परमो विघ्न।

—वही, पृ० २८०

२ (क) सर्वथा रसनात्मकवीतविघ्नप्रतीतिग्राह्यो भाव एव रस। —वही, पृ० २८०

(ख) अनस्तयाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस। —वही पृ० २८५

(ग) तेन साधारणीभूता सन्तानवृत्तेरेकस्या एव वा सविदो गोचरीभूता रति शृगार।

—वही, पृ० २८६

३. सर्वथा तावदेषाऽस्ति प्रतीतिरास्वादात्मा यस्या रतिरेव भाति, तत एव विशेषान्तरानुपहितत्वात् सा रसनीया सती न लौकिकी न मिथ्या नानिर्वाच्या न लौकिकतुल्या न तदारोपादिरूपा। —वही, पृ० २८०

४ न चात्र लौकिकप्रत्यक्षादिप्रमाणव्यापार। किन्त्वलौकिकविभावादिसयोगबलोपनतैवेय चर्वणा। सा च प्रत्यक्षानुमानागमोपमानादिलौकिकप्रमाणजनितरत्याद्यवबोधन तथा योगिप्रत्यक्षजनिततटस्थपरसवित्तिज्ञानात्, सकलवैषयिकोपरागशून्यशुद्धपरयोगिगतस्वात्मानन्दैकघनानुभवाच्च विशिष्यते। —वही, पृ. २८५

पूर्वसिद्ध मानना चाहिए। तथापि जो रति पूर्वसिद्ध है वह लौकिकरति रस नहीं बनती, किन्तु साधारणीकृतरूप से तत्काल अभिव्यक्त अलौकिक रति आस्वाद्यमान होकर रस कहलाती है। और वह रति पूर्वसिद्ध नहीं है। किन्तु जिस काल में साधारणीकृत अतएव अलौकिक विभावादि का चर्वणात्मक-ज्ञानरूप आस्वादन होता है उसी समय वह रति अभिव्यक्त होती है, अतः तत्कालसिद्ध होने से वह पूर्वसिद्ध नहीं है।[1] इसीलिए रस को 'विभावादिजीवितावधि'[2] कहा गया है।

रस की अनुभूति के समय विभावादिमिश्रित रति का आस्वादन पृथक् पृथक् रूप में नहीं होता। किन्तु जिस प्रकार एला, मरीच, कर्पूर, शर्करादि पदार्थों से मिश्रित प्रपाणकरस का पान करने पर इन सबसे भिन्न एक विलक्षण रस की अनुभूति होती है उसी प्रकार विभावादि की सम्मिश्रित चर्वणा से पृथक् पृथक् विभावादि से विलक्षण रस का ही भान होता है।[3] और ऐसा अलौकिक आनन्द प्रतीत होता है कि मानो वह सामने ही विद्यमान हो, शरीर के सब अंगों का स्पर्श कर रहा हो, हृदय में प्रवेश कर रहा हो। यह आनन्द ब्रह्मास्वादसमान होता है। जब तक रति का आस्वादन है तभी तक इस अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है, पश्चात् नहीं। इसलिए चर्व्यमाणता या आस्वाद्यमानता को या आस्वाद को ही रस का प्राण या सार बतलाया है।[4] मम्मट के काव्यप्रकाश तथा अभिनवगुप्त की अभिनवभारती के पर्यालोचन से अभिनवसम्मत उक्त रसस्वरूप की पुष्टि हो जाती है—

लोके प्रमदादिभिः स्थाय्यनुमाने अभ्यासपाटववतां काव्ये नाट्ये च तैरेव कारणत्वादिपरिहारेण विभावनादिव्यापारवत्त्वादलौकिकविभावादिशब्दव्यवहार्यैः. ममैवैते शत्रोरेवैते तटस्थस्यैवैते, न ममैवैते न शत्रोरेवैते न तटस्थस्यैवैते इति सम्बन्धविशेषस्वीकारपरिहारनियमानध्यवसायात् साधारण्येन प्रतीतैरभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषित-वेद्यान्तरसम्पर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादभाजा साधारण्येन

स्वाकार इवाभिन्नोऽपि गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राण विभावादिजीवितावधि पानकरसन्यायेन चर्व्यमाण पुर इव परिस्फुरन्, हृदयमिव प्रविशन्, सर्वांगीणमिवालिगन्, अन्यत्सर्वमिव तिरोदधद् ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन्नलौकिकचमत्कारकारी शृंगारादिको रस —काव्य प्रकाश चतुर्थ उल्लास पृ ६२-६४

काव्यप्रकाश के इस उद्धरण का स्पष्टीकरण पूर्व मे अभिनवगुप्तसम्मत रस के विवेचन मे हो चुका है।

तत्र लोकव्यवहारे कार्यकारणसहचरात्मकदर्शनजस्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यासपाटवात् अधुना तैरेव उद्यानकटाक्षधृत्यादिभि लौकिकी कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तै विभावनानुभावन-समुपरञ्जकत्वमात्रप्राणै अत एव अलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भि प्राच्यकारणत्वादिसस्कारोपजीवनख्यापनाय विभावादिनानामधेयव्यपदेश्यै गुणप्रधानतात्पर्येण सामाजिकधियि सम्यग् योग सम्बन्धम् ऐकाग्र्य वाऽऽसादितवद्भि अलौकिकनिर्विघ्नसवेदनात्मकचर्वणागोचरता नीतोऽर्थ, चर्व्यमाणतैकसार न तु सिद्धस्वभाव, तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रस ।'[1]

अभिनवभारती के इस उद्धरण का तात्पर्य भी अभिनवगुप्तसम्मत रस का विवेचन करते हुए विभावादि की साधारणीकरणप्रक्रिया मे बतलाया जा चुका है।

मम्मट के काव्यप्रकाश के उद्धरण मे तो अभिनवगुप्तसम्मत रसस्वरूप के सभी तत्वो का उल्लेख है। किन्तु अभिनवभारती के उपर्युक्त उद्धरण मे साधारणीकरण के स्वरूप का तथा रसास्वादकालिक अनुभूति का उल्लेख नही है। किन्तु उनका उल्लेख अभिनवभारती के दूसरे उद्धरणो मे उपलब्ध है। अत यह आशङ्का अनुचित है कि मम्मट ने काव्यप्रकाश मे अभिनव के मत का निरूपण करते हुए अपनी ओर स कुछ तत्वो का समावेश कर दिया है। अभिनवभारती भरतकृत नाट्यशास्त्र की तथा लोचन ध्वन्यालोक की टीका है। अत स्वतन्त्र ग्रन्थ की तरह उनमे रस के पूर्ण स्वरूप का विवेचन क्रमबद्धरूप से एक जगह नही हुआ है। और रसस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए बीच मे शकुक आदि की असद्व्याख्यानो का निराकरण भी करना पडा है। अस्तु, जिस उद्धरण मे अभिनवसम्मत साधारणीकरण तथा आस्वादकालिक अनुभूति का निरूपण हुआ है, वह निम्नलिखित है—

'यथा हि' 'वनस्पतय सत्रमासत, प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत्, तामग्नौ प्रादात्' इत्यादावर्थितादिलक्षितस्याधिकारिण प्रतिपत्तिमात्रात् प्रतिनीयप्ररोचितात् प्रथमप्रवृत्तात् अनन्तरमधिकैवोपात्तकालतिरस्कारेणैवासे प्रददानीत्यादिरूपा सत्रमणादिस्वभावा यथादर्शन विध्युद्योगादिभाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकाऽस्ति प्रतिपत्ति ।

---

१. अ भा पृ २८४

अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदयः। तस्य च 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इति (शाकु० अ० १) 'उमापि नीलालक' इति (कुमा—३, ६२) 'हरस्तु किञ्चित्' (कुमा—३,६७) इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तर मानसी साक्षात्कारात्मिकाऽपहसिततत्तद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्यां च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति त्रासकस्यापारमार्थिकत्वाद् भयमेव परं देशकालाद्यनालिङ्गितम्' तत एव 'भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वा' इत्यादिप्रत्ययेभ्यो दुःखसुखादिकृतहानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणं निर्विघ्नप्रतीतिग्राह्यं साक्षादिव हृदये निविशमानं चक्षुषोरिव विपरिवर्तमानं भयानको रसः। तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्ततिरस्कृतो न विशेषतः उल्लिखितः। एवं परोऽपि। (अभि० भा० पृ० २७८-२७९)

फलकामना वाले पुरुष को—'वनस्पतयः सत्रमासत' वनस्पतियों ने सत्र किया, 'तामग्नौ प्रादात्' प्रजापति ने अपनी वपा का अग्नि में हवन किया आदि वाक्यों से प्रथमतः भूतकाल मे सत्र करने तथा अपनी वपा की अग्नि मे आहुति देनेरूप प्राशस्त्यज्ञानात्मक प्ररोचना से युक्त वाक्यार्थ की प्रतीति होती है। उसके बाद मैं भी सत्र करूँ, अपनी वपा की अग्नि मे आहुति दूँ, इत्याकारक कालसम्बन्धरहित अर्थ की मानससाक्षात्कारात्मिका प्रतीति होती है। उसी प्रकार विमलप्रतिभाशाली चित्तवाले सहृदय को 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्' इत्यादि काव्यवाक्यों से दुष्यन्त के द्वारा मृग का पीछा करने पर मृगशिशु ग्रीवा को पीछे की ओर मोडकर सुन्दरतापूर्वक दुष्यन्त के रथ पर दृष्टि लगाये हुए है, इत्यादि वाक्यार्थ का ज्ञान प्रारम्भ में होता है। पश्चात् उस अर्थ के सुन्दर होने से मन मे प्रविष्ट उस अर्थ के भावित होने पर भावना के कारण भीत मृगशिशुविशेष, त्रासक दुष्यन्त तथा देश, काल आदि के सम्बन्ध का परित्याग होकर देशकालादि से असम्बद्ध भयभावमात्र की प्रतीति होती है। उस भय का, न स्वात्मा से सम्बन्ध है, क्योंकि भय के स्वात्मसम्बद्ध होने पर दुःखद होने से उसके परित्याग का भी ज्ञान होगा, न उसका शत्रु से सम्बन्ध है, क्योंकि ऐसा होने पर शत्रुभय के सुखजनक होने से उसके उपादान का भी ज्ञान अवश्य होगा। उपर्युक्त रीति से उसके परित्याग व ग्रहण में विवश होने से वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य भयभाव की निर्विघ्न चर्वणा नहीं हो सकेगी, जो कि रसानुभूति के लिए आवश्यक है। इस भयभाव मे सामाजिक के आत्मा का अनुप्रवेश नहीं है। ऐसी बात नहीं है। अर्थात् सामाजिक की आत्मा का अनुप्रवेश भी है। अतः उस भय में तटस्थता व अस्फुटता की प्रतीतिरूप दोष नहीं है। और मेरा ही भय है, इस प्रकार सामाजिक के आत्मा का विशेषतया सम्बन्ध भी नहीं है। अतः उसमें स्वभयजन्य दुःख के कारण का तथा तत्परिहारार्थ होने वाले उपायानुसन्धानरूप ज्ञानान्तर का उदय भी नहीं है। इस प्रकार निर्विघ्न प्रतीति का विषय भयभाव ही जो कि मानो साक्षात् हृदय में प्रवेश कर रहा हो, नेत्रों के सामने घूम रहा हो भयानक रस कहलाता है।

उपर्युक्त रीति से देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धरहित भयभाव की प्रतीति होने से विघ्नान्तरशून्य चर्वणा उत्पन्न हो जाती है।

'तथाविधे हि भये नात्माऽत्यन्त तिरस्कृतो न विशेषत उल्लिखित'[1] इस अभिनव की उक्ति का श्री नगीनदास पारेख ने निम्न विवेचन किया है—

'यदि यह उल्लिखित हुई हो तो यह प्रतीति सामान्य लौकिक बौद्धिक प्रतीति बन जायेगी। यदि यह तिरस्कृत हुई हो तो बौद्धिकज्ञान व विकल्प के अभाव में यह प्रतीति योगी की रहस्यपूर्ण प्रतीति के सदृश बन जायेगी, रसानुभूति नहीं रहेगी।' किन्तु यह उचित नहीं, *क्योंकि इस विवेचन का मूल-उक्ति के अर्थ या तात्पर्य* से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।

इन उद्धरणों से यह स्पष्ट है कि अभिनवगुप्त के अनुसार लौकिक रत्यादि स्थायिभाव रस नहीं है जैसाकि शंकुक आदि ने माना है। किन्तु लौकिक स्थायिभाव से भिन्न, विभावादि की चर्वणा से उद्बुद्ध, व्यक्तिविशेषसम्बन्धरहित रतित्वादिरूप से साधारणतया उपस्थापित अलौकिक रत्यादि ही रस है। लौकिक रत्यादि सहृदय के हृदय में संस्काररूप से पहले ही विद्यमान हैं जबकि अलौकिक रत्यादि की स्थिति अलौकिक विभावादिशब्दों से व्यपदेश्य कारण, कार्य आदि की चर्वणा के काल में ही है। वही अलौकिक रति प्रत्यक्षादिप्रमाणों से विलक्षण प्रतीति *या आस्वादन के द्वारा आस्वाद्य होने पर रस कहलाती है। अत रस पूर्वसिद्ध नहीं* है और न विभावादि की चर्वणा नष्ट होने पर उसकी स्थिति रहती है। क्योंकि विभावादिचर्वणाकाल में ही उस अलौकिक साधारणीकृत रति की अभिव्यक्ति तथा उस का आस्वादन होता है। रस की सामग्री विभावादि, रति आदि जैसे अलौकिक हैं उसी प्रकार उस रति की प्रतीति या आस्वादन कराने वाला ज्ञान भी प्रत्यक्षादि से भिन्न तथा स्वसंवेदनात्मक और अलौकिक है। इसीलिए इस सारी सामग्री के अलौकिक होने से रस अलौकिक कहलाता है। जैसाकि अभिनवभारती में कहा है—'अलौकिकनिर्विघ्नस्वसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणतैकसारो न तु सिद्धस्वभाव', तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षणो रस।' (अ भा पृ २८४)

रस के इस विलक्षण स्वरूप को प्रदर्शित करने के लिए अभिनवगुप्त ने स्थायिभाव को ही रस मानने वाले शंकुक आदि की मान्यता का स्पष्ट शब्दों में प्रत्याख्यान किया है।[2]

उसका तात्पर्य यह है कि विभावादियों से प्रतीयमान (अनुमीयमान) स्थायिभाव को ही सहृदयों द्वारा आस्वाद्यमान (ज्ञायमान) होने पर रस मानने

---

१ अ भा पृ २७९

२ न तु यथा शङ्कुकादिभिरभ्यधायि-'स्थाय्येव विभावादिप्रत्यायितो रस्यमानत्वाद् रस उच्यते इति। एवं हि लौकिकेऽपि किं न रस ? प्रत्यक्षेऽपि हि यत्र रसनीयता स्यात् तत्र वस्तुतः कथं न भविष्यति। तेन स्थायिप्रतीतिरनुमितिरूपा प्राप्ता न रस।

—अभिनव भारती, पृ० २८४

वाले शङ्कुक आदि का सिद्धान्त समीचीन नहीं है। क्योंकि ऐसा मानने पर जब नट में सहृदयों द्वारा कृत्रिम विभावादि से अनुमीयमान अतएव वस्तुतः अविद्यमान स्थायिभाव रस हो सकता है तो वस्तुतः रामादि में विद्यमान स्थायिभाव रस क्यों नहीं कहा जा सकता ?

यहां नट मे अनुमीयमान स्थायिभाव को अविद्यमान या असत् इसलिए कहा गया है कि रत्यादि स्थायिभाव की स्थिति वस्तुतः नट में नहीं है। सहृदय नट द्वारा प्रदर्शित सीतादिरूप विभावादि से नट मे रति का अनुमान अवश्य करते हैं। किन्तु नटद्वारा प्रदर्शित वे विभावादि भी वास्तविक नहीं हैं किन्तु कृत्रिम हैं, चाहे सहृदय उन्हें नट के कौशल के कारण कृत्रिम न समझें।

लौकिक स्थायिभाव रस नहीं है, इसीलिए रससूत्र मे 'विभावानुभाव-व्यभिचारिसंयोगात्स्थायिनो रसनिष्पत्तिः' इस प्रकार से स्थायी का उपादान सूत्र-कार ने नहीं किया है, क्योंकि ऐसा करने पर परकीय चित्तवृत्तिरूप लौकिक रत्यादि स्थायिभाव रस हैं यह अर्थ होता। ऐसी स्थिति में रामादिगत परकीय-चित्तवृत्तिगत लौकिक रत्यादि ही रस कहलाते जो कि वस्तुतः रस नहीं है। क्योंकि उनके परकीय होने से सहृदय को न तो उनका आस्वादन हो सकता है और न उनसे आनन्दानुभूति हो। इसीलिए अभिनवगुप्त ने सूत्र मे स्थायी पद देने को शल्य-भूत बतलाया है।[1] अर्थात् वह सहृदय मे होने वाली रसप्रतीति मे विघ्न ही सिद्ध होगा क्योंकि साधारणीकृत विभावादि की चर्वणा से अभिव्यक्त अतएव तात्कालिक अतएव स्थायिभिन्न साधारणीकृत चित्तवृत्ति ही रस है। स्थायी पद देने पर परकीय तथा लौकिक चित्तवृत्ति का भान होगा न कि साधारणीकृत चित्तवृत्ति का। क्योंकि विभावादिचर्वणाकाल में सहृदय में उद्‌बुद्ध रति स्थायी नहीं है

यहां यह प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि स्थायी चित्तवृत्ति रस नहीं बनती तो 'स्थायी रसो भवति' इस भरतवचन की उपपत्ति कैसे होगी ? क्योंकि वह तो स्पष्टरूप से स्थायिभाव को ही रस बतला रहा है। इस प्रश्न का समाधान करते हुए स्थायिभाव को रस के बतलाने के दो कारण अभिनवगुप्त ने बतलाये हैं। प्रथम कारण यह है[2] कि लौकिक स्थायिभाव रत्यादि के कारण जो प्रमदा, उद्यान

आदि हैं वे ही साधारणीकृत अतएव अलौकिक विभावनादि व्यापार द्वारा विभावादि नामों से व्यवहृत होकर सहृदयहृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि के अभिव्यंजक बनकर रसचर्वणा में कारण बनते हैं। अतः स्थायी चित्तवृत्ति के जनक कारण, कार्यादि, जो कि अब साधारणीकृत होकर विभावादि कहलाने लगे हैं, से ही रस-चर्वणा होने से स्थायी रस बनता है ऐसा कहा है, न कि परकीय चित्तवृत्ति-रूप लौकिक स्थायिभाव रस बनते हैं।

दूसरा कारण यह है[1] कि रसचर्वणा में सहृदयों का हृदयसंवाद कारण है और हृदयसंवाद में रत्यादि-स्थायी लोकचित्तवृत्ति का परिज्ञान (अनुभव) कारण है। लौकिकचित्तवृत्ति के परिज्ञान के बिना हृदयसंवाद नहीं बन सकता। और लोकचित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में प्रमदा, उद्यानादि कारणों व पुलकादि कार्यों से स्थायी रत्यादि का बोध होता है। इन प्रमदादि कारणों का स्थायी के साथ 'जहाँ प्रमदादि कारणसामग्री है वहाँ रत्यादि स्थायी चित्तवृत्ति है' इस प्रकार के व्याप्तिसम्बन्ध का ज्ञान है। अतः रसचर्वणा के लिए उपयोगी हृदयसंवादकारणभूत लोकचित्तवृत्ति के परिज्ञान की अवस्था में प्रमदा आदि कारण से स्थायी रत्यादि का बोध होने से भी 'स्थायी रस बनता है' ऐसा कहा गया है।

अभिनवगुप्त के अनुसार रत्यादि में एकान्ततः आत्मगतताज्ञान भी नहीं है अतः उस ज्ञान से होने वाली स्वकीय सुखदुःखादि विषयों में आविष्टता सहृदय में नहीं होती। उसमें स्वात्मा के अनुप्रवेश से एकान्ततः परकीयत्वज्ञान भी नहीं है अर्थात् यह रति दूसरे की है ऐसा ज्ञान भी नहीं है। अतः उस ज्ञान से होने वाला तटस्थता व अस्फुटता का दोष भी उपस्थित नहीं होता। विभावादि की चर्वणा से ही सहृदय के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रति की अभिव्यक्ति होती है न कि नवीन रति उत्पन्न होती है। अतः उसकी उत्पत्ति के लिए तदनुकूल विषयों के अर्जन के न्यूनाधिक तारतम्य से रति में तथा रस में न्यूनाधिक तारतम्य की सम्भावना भी नहीं है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण भी अभिनवभारती में कर दिया गया है। जैसे—'अत्र तु स्वात्मैकगतत्वनियमासम्भवाद् न विषयावेशवैवश्यम्। स्वात्मानुप्रवेशात् परगतत्वनियमाभावाद् न ताटस्थ्यास्फुटत्वे। तद्विभावादिसाधारण्यवशसंप्रबुद्धोचितनिजरत्यादिवासनावेशवशाच्च, न विघ्नान्तरादीनां संभवः।'[2]

---

१. (क) हृदयसंवादोपयोगिलोकचित्तवृत्तिपरिज्ञानावस्थायामुद्यानपुलकादिभिः स्थायिभूतरत्याद्यवगमात्। —लोचन पृ. १३७।

(ख) स्थायिभावे हि ये विभावानुभावास्तत्समुचिताश्चित्तवृत्तिश्चर्व्यमाणात्मा रसः, इत्यौचित्यात् स्थायिनो रसतापत्तिरित्युच्यते। प्राक् स्वसंविदित परत्र चानुमित चित्तवृत्तिजात संस्कारक्रमेण हृदयसंवादमादधान चर्वणायामुपयुज्यते यत्।
—लोचन पृ ८९, ९०

२. अभिनव भारती, पृ. २८१

इस उद्धरण मे विभावादि से उद्बुद्ध रत्यादि की एकान्तत. स्वात्मगतता तथा परगतता का निषेध किया गया है।

इस अर्थ का स्पष्टीकरण करने वाले अभिनवभारती के निम्नाकित उद्धरण से इसकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हो जाती है—'मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावत् नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंविन्संस्काराच्च काव्यबलानीयमानापि न तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अतएवोभयदेशकालत्याग। रोमाञ्चादयश्च भूयसा रतिप्रतीतिकारितया दृष्टास्तेऽपि देशकालानियमेन तत्र रतिं गमयन्ति। यस्यां स्वात्मापि तद्वासनावत्त्वात् अनुप्रविष्ट। अतएव न तटस्थतया रत्यवगम। न च नियतकारणतया, येनार्जनाभिषगादिसम्भावना। न च नियतपरात्मैकगततया, येन दु ख-द्वेषाद्युदय साधारणीभावना च विभावादिभि।—अभिनवभारती, पृ २८५।

अर्थात् नट राम के समान मुकुट शिरोवेष्टन आदि धारण करता है जिससे प्रेक्षकों को उसमे नटज्ञान नहीं रहता। सहृदयों को नट मे, राम तो पहिले हो चुका है, इस समय राम की सत्ता नही यह ज्ञान है, इसलिए काव्य द्वारा बोधित रामबुद्धि भी विश्रान्ति प्राप्त नही करती। अर्थात् यद्यपि श्रव्य-काव्य म राम का वर्णन होने से तथा दृश्यकाव्य नाटक मे आङ्गिकादि अभिनयो द्वारा राम का अभिनय होने से 'यह राम है' ऐसा ज्ञान सहृदयो का होता है। किन्तु राम तो अतिप्राचीन काल मे या इस समय राम की स्थिति कहा? अत. रामत्वबुद्धि की विश्रान्ति भी नहीं हो पाती। इस प्रकार नटसम्बन्धी वर्तमान देशकाल तथा रामसम्बन्धी अतीत देशकाल-दोनो का ही परित्याग हो जाता है। रोमाच आदि से लोक मे बार बार देशकाल-विशिष्ट रति की प्रतीति देखी जाती है तथापि अभिनयकाल मे इनसे प्रतीयमान रति भी विशिष्टदेशकालरहित अर्थात् साधारणीकृत-रूप में ही प्रतीत होती है। इस साधारणीकृत रति मे सहृदय के आत्मा का भी अनुप्रवेश है क्योंकि उसमे भी सस्काररूप म रति है। अत रति की तटस्थतया प्रतीति नही होती है। अर्थात् इस रति का मुझसे सम्बन्ध नहीं है यह भाव भी पैदा नही होता। क्योंकि रति सस्काररूप से पहिले ही सहृदयहृदय म विद्यमान है नवीन अर्जित नही करनी है, जिससे रति के अर्जन की सम्भावना हो और विषयार्जनतारतम्य से रति में तारतम्य की सम्भावना हो। न एकान्तत परात्मगतरूप से ही रति की प्रतीति होती है जिससे सहृदय मे दु ख, द्वेष आदि का उदय हो। रति का साधारणीकरण साधारणीकृत विभावादि स होता है। अर्थात् अभिव्यज्यमान रति देशकालव्यक्तिनिरपेक्षरूप से अत एव साधारणीकृतरूप से अभिव्यक्त होती है। इसका कारण है साधारणीकृत विभावादिसामग्री जिसमे कि सामाजिकहृदय में रति की अभिव्यक्ति होती है।

साधारणीकरण

यह ऊपर बतलाया जा चुका है कि भट्टनायक की तरह अभिनवगुप्त भी काव्य मे अलौकिक विभावनादिव्यापार के कारण विभावादि शब्दों से व्यवहृत होने वाले लौकिक कारण, कार्य, सहकारी आदि का साधारणीकरण मानते हैं

क्योंकि साधारणीकरण के बिना उन से सामाजिको के चित्त मे वासनारूप से विद्यमान स्थायिभावो का उद्बोध नही हो सकता। तथापि वे उनके साधारणीकरण के लिए भावकत्वनामक पृथक् व्यापार की कल्पना काव्य-शब्दो मे नही मानते। अपितु वे यह मानते हैं कि दोषाभाव व गुणालकारो से युक्त काव्य-शब्दो मे शास्त्रान्तरो के सामान्य-शब्दों की अपेक्षा विलक्षणता है। अत. उन काव्य-शब्दो से प्रथमतः सीतात्वादिविशेषधर्मपूर्वक सीतादि की ही उपस्थिति होती है किन्तु पश्चात् सौन्दर्य के कारण उन अर्थो के चित्त मे प्रविष्ट होने पर मन मे उनकी बार-बार अनुसंधानरूप भावना होती है। सहृदयतासहकृत इस मानसभावना से ही उनका साधारणीकरण सम्पन्न होता है। इसी को अभिनवगुप्त ने पश्चाद्भावी मानस साक्षात्कार कहा है। इस मानस साक्षात्कार के द्वारा सीतादि कारणो मे देशकालादि-धर्मों तथा रामादिव्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध के स्वीकारनियम व परिहारनियम का भी परिहार हो जाता है। अभिनवगुप्त भट्टनायक की तरह सीतादि की कान्तात्वादिधर्मरूप से उपस्थिति को ही साधारणीकरण नही मानते, अपितु 'ये विभावादि मेरे ही हैं,' 'शत्रु के ही हैं,' 'तटस्थ व्यक्ति के ही हैं'—इस प्रकार के सम्बन्धविशेष के स्वीकारनियम तथा 'ये मेरे ही नही हैं' 'ये शत्रु के ही नही हैं' 'ये तटस्थ के ही नही हैं' इस प्रकार के सम्बन्धविशेष के परिहार के नियम की निवृत्ति को साधारणीकरण मानते हैं। टिप्पणीस्थ अभिनवभारती के उद्धरण[1] से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे पश्चाद्भावी मानस-साक्षात्कार को साधारणीकरण मे कारण मानते है।

उसका तात्पर्य यह है कि 'वनस्पतयः सत्रमासत' 'प्रजापतिरात्मनो वपामुदखिदत् तामग्नौ प्रादात्' इत्यादि वाक्योद्वारा अर्थित्वादिलक्षणयुक्त अधिकारी को जिस प्रकार पहले भूतकालयुक्त आसनदानादि का ज्ञान होता है। तत्पश्चात् देशकालादि से रहित 'मैं भी सत्र करू' और 'अग्नि मे वपा दू' इस प्रकार का मानस ज्ञान होता है। उसी प्रकार विमलप्रतिभानयुक्त चित्तवाले अधिकारी को काव्य-शब्दो से भी प्रथमतः जो वाक्यार्थज्ञान होता है, तत्पश्चात् उससे अधिक, देशकालादिरहित मानस-ज्ञान होता है। अर्थात् सहृदयो को 'ग्रीवाभगाभिराम्' इत्यादि वाक्यो से प्रथमतः

---

१ यथा हि सत्रमासत, तामग्नौ प्रादात् इत्यादौ अर्थितादिलक्षितस्य अधिकारिण. प्रतिपत्तिमात्रात् प्रतितीव्रप्ररोचितात् प्रथमप्रवृत्तात् अनन्तर अधिकैव उपात्तकालादितिरस्कारेणैव मासे प्रददानि इत्यादिरूपा सत्रमणादिस्वभावा यथादर्शन प्रतिभाभावनाविधिनियोगादिभिर्भाषाभिर्व्यवहृता प्रतिपत्तिस्तथैव काव्यात्मकादपि शब्दादधिकारिणोऽधिकासित प्रतिपत्ति.। अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय.। तस्य च 'ग्रीवाभगाभिरामम्' इति (शाकु० अ० १) 'उमापि नीलालक' (कुमारसम्भव ३।६२) 'हरस्तु किंचित्' (कुमार. ३।६७) इत्यादिवाक्येभ्यो वाक्यार्थप्रतिपत्तेरनन्तर मानसी साक्षात्कारात्मिका अपहस्तिततद्वाक्योपात्तकालादिविभागा तावत्प्रतीतिरुपजायते। तस्या च यो मृगपोतकादिर्भाति तस्य विशेषरूपत्वाभावाद् भीत इति, त्रासकस्य अपारमार्थिकत्वात् भयमेव पर देशकालाद्यनालिंगितम् ""भयानकोरसः। —अभिनवभारती, पृ० २७८-९

देशकालादियुक्त तथा त्रासक दुष्यन्त से भयभीत मृगादि का ज्ञान होता है। किन्तु बाद मे गुणालकारादियुक्त ललित शब्दों द्वारा उस अर्थ के उपस्थित होने से वह अर्थ चित्त में प्रविष्ट होता है और सौन्दर्य के कारण उसकी पुन. पुनः अनुसन्धानरूप भावना करने से एक मानस साक्षात्कार उत्पन्न होता है। इस ज्ञान मे देशकालादि विशेषधर्मों का तथा डराने वाले व्यक्ति का ज्ञान भी नष्ट हो जाता है। और इस प्रकार देशकालादिधर्मों से रहित शुद्ध भयमात्र की प्रतीति होती है। यही भय स्थायिभाव ग्रस्वाद्यमान होने पर भयानक रस होता है। इस प्रकार अभिनवगुप्त ने वाक्यार्थ-ज्ञान के बाद काव्य-शब्दों की विलक्षण शक्ति द्वारा प्रतीयमान मानस-साक्षात्कार से स्थायिभावों तथा विभावादि का साधारणीकरण माना है। पण्डितराज जगन्नाथ ने भी साधारणीकरण का यही कारण बतलाया है।[1] उन्होंने भावनाविशेष को प्रधान रूप से साधारणीकरण का कारण माना है और सहृदयता को उसका सहकारी कारण माना है। किन्तु उनकी यह भावना जो पुन. पुन. अनुसन्धानस्वरूप है अभिनव के मानससाक्षात्कार से भिन्न कोई वस्तु नहीं है और सहृदयता भी अभिनव की विमलप्रतिभानशालिहृदयतारूप अधिकारिता से भिन्न नही है। भावना पुन पुन. अनुसन्धानरूप मानस-ज्ञान है इस बात को स्वय प्रारम्भ मे ही पण्डितराज जगन्नाथ ने स्पष्ट कर दिया है।[2]

उपर्युक्त रीति से विभावादि का साधारणीकरण सहृदयतासहकृत भावना-विशेष या मानस-साक्षात्कार से ही होता है। गुणालकारयुक्त शब्दार्थ वर्ण्य विषय को सुन्दरता प्रदान कर उसे सहृदय के हृदय में स्थान प्राप्त कराने तथा उसका पुन. पुनः अनुसधान कराने मे सहायक होते हैं। अभिनवगुप्त तथा पण्डितराज जगन्नाथ दोनो ने ही इस बात को माना है। इसलिए पण्डितराज ने "समुचित-ललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदय प्रविष्टैः" इस उक्ति के द्वारा गुणालकार व दोषाभाव से युक्त शब्दार्थ को सहृदयहृदयप्रवेश मे कारण माना है। अभिनवगुप्त ने भी "काव्यात्मकात् शब्दात् अधिकारिणोऽधिकास्ति प्रतिपत्ति." इस उक्ति के द्वारा काव्यात्मक (दोषाभाव व गुणालकार से युक्त) शब्द को अधिक प्रतिपत्ति अर्थात् मानस प्रतिपत्ति मे कारण स्वीकार किया है। भट्टनायक के मत का खण्डन करते हुए लोचन मे 'भावकत्व च गुणालकारयुक्तशब्दपरिग्रहात्मकम्" इस उक्ति के द्वारा गुणालकारयुक्त शब्दों को जो काव्यार्थ का भावक बतलाया है उसका तात्पर्य इसी में है। वहा भावकत्व से साधारणीकरण अर्थ गृहीत नहीं है अपितु स्थायिभाव की भावना अर्थात् पुन· पुन. अनुसधान गुणालकारयुक्त शब्दों

---

१ समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैं सहृदयहृदय प्रविष्टैस्तदीयसहृदयता-सहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभि-चारिशब्दव्यपदेश्यैं शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादि-भिश्च कार्यैश्चिन्तादिभि· सहकारिभिश्च।   —र० ग० पृ० २१

२. भावना च पुन पुनरनुसधानात्मा ज्ञानविशेष । रसगगाधर, पृ. २।

द्वारा होता है यही तात्पर्य गृहीत है। भट्टनायक ने भी भावकत्व व्यापार मे प्रकारान्तर से दोषाभाव व गुणालकार से युक्त शब्दो एव चतुर्विध अभिनय को कारण माना है।[1] अभिनवगुप्त उपर्युक्त रीति से विभावादि का तथा स्थायिभाव रत्यादि का भी साधारणीकरण स्वीकार करते हैं। कुछ विद्वानो की धारणा है कि वे प्रमाता का भी साधारणीकरण मानते हैं। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि रसास्वादनप्रक्रिया मे प्रमाता का साधारणीकरण मानने की कोई आवश्यकता नही है। विभावादि की चर्वणा से अभिव्यक्त साधारणीकृत रत्यादि भाव की जब सहृदय चर्वणा करता है उस समय प्रमाता का अन्त करण तन्मय होकर अन्तर्मुख हो जाता है और रत्यादिमिश्रित आत्मा का ग्रहण करता है। आत्मा सभी विषयो से रहित शुद्ध है। ऐसी परिस्थिति मे उसके साधारणीकरण की आवश्यकता नही है। प्रमाता का साधारणीकरण मानने वाले यही मानते हैं कि रसास्वाददशा मे सहृदय का मन या सहृदय की आत्मा रागद्वेष तथा लौकिक सुख-दुख आदि से निर्मुक्त हो जाती है। किन्तु इस अवस्था को प्राप्त करने के लिए भी प्रमाता के साधारणीकरण की आवश्यकता नही है। प्रमाता मे राग-द्वेष तथा सुख-दुख का सम्पर्क सुख-दुखमय बाह्य विषयो के कारण होता है। किन्तु रसास्वाद-दशा म सुख दुख के उत्पादक बाह्य विषयो का सम्पर्क आत्मा म नही रहता। वहा केवल रत्यादि विषय का सम्पर्क रहता है और वे भी साधारणीकृत होकर सुखदु खोत्पादकता की दशा से ऊपर उठ चुके हैं। इसी स्थिति को बतलाने के लिए रत्यादि का साधारणीकरण माना गया है। अभिनवगुप्त ने इस तथ्य का स्पष्टीकरण अभिनवभारती मे कर दिया है।[2] अभिनव ने प्रमाता का भी साधारणीकरण माना है यह भ्राति विद्वानो को अभिनवभारती तथा काव्यप्रकाश के निम्नलिखित उद्धरणो से हुई है—"यस्या वस्तुसता काव्यार्पिताना च देशकाल-प्रमात्रादीना नियमहेतूना अन्योन्यप्रतिबन्धबलाद् अत्यन्तमपसरण स एव साधारणीभाव सुतरा पुष्यति[3], 'ततएव न परिमितमेव साधारण्यम् अपितु विततम्'[4]। 'सामाजिकाना वासनात्मकतया स्थित स्थायी रत्यादिको नियतप्रमातृगतत्वेन स्थितोऽपि साधारणोपायबलात् तत्कालविगलितपरिमितप्रमातृभाववशोन्मिषित-वेद्यान्तरसपर्कशून्यापरिमितभावेन प्रमात्रा।' —काव्यप्रकाश, पृ ९२।

---

१ तस्मात् काव्य दोषाभावगुणालङ्कारमयत्वलक्षणेन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निबिडनिज मोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणीकरणात्मना अभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रस। अ भा पृ २७७

२ भयमव पर देशकालाद्यनालिङ्गितम। तत एव भीतोऽहं भीतोऽयं शत्रुर्वयस्यो मध्यस्थो वेत्यादिप्रत्ययेभ्यो दु खसुखादिकृतहानादिबुद्ध्यन्तरोदयनियमवत्तया विघ्नबहुलेभ्यो विलक्षणम भयानको रस। तथाविधे हि भय नात्मा न पर तिरस्कृत न विशेषतयोल्लिखित। एव परोऽपि। —अभिनवभारती पृ २७९

३ अभिनवभारती पृ २७९

४ वही, पृ २८९

यहा अभिनवभारती के प्रथम उद्धरण मे विभावादि और रत्यादि में विशेषता के कारणभूत देश, काल तथा प्रमाता (व्यक्तिविशेष) का परिहारमात्र बतलाया गया है न कि प्रमाता का साधारणीकरण। अभिनवभारती के द्वितीय उद्धरण मे भी व्यापक साधारणीकरण से प्रमाता का साधारणीकरण अभिप्रेत नहीं है अपितु रत्यादि का ही व्यापक भूमि मे साधारणीकरण अभीष्ट है। अर्थात् जिस प्रकार जहा जहा धूम है वहा वहा अग्नि है इस प्रकार धूम तथा अग्नि का व्याप्तिज्ञान किसी देशविशेष या कालविशेष से सीमित नही है अपितु सार्वदेशिक तथा सार्वकालिक है। उसी प्रकार रत्यादि के साधारणीकरण मे भी किसी नियत व्यक्ति, देश व कालविशेष के सम्बन्ध का निराकरण नही है अपितु सभी व्यक्तिविशेषों तथा सर्वदेशकालादि के सम्बन्ध का निराकरण है।

तृतीय काव्यप्रकाश के उद्धरण मे भी 'परिमितप्रमातृभाव' तथा 'अपरिमितभाव' शब्दों मे रत्यादि स्थायिभाव की ही परिमितता अर्थात् देशकालव्यक्तिविशेष के साथ सम्बन्ध और अपरिमितता अर्थात देशकालव्यक्तिविशेष-सम्बन्ध का निराकरण होकर देशकालव्यक्तिविशेष सम्बन्ध रहित स्थिति मे पहुँच जाना गृहीत है। वस्तुत काव्यप्रकाश के उद्धरण में परिमितशब्द का नियत तथा अपरिमितशब्द का अनियत अर्थ है। अर्थात् साधारणीकृत विभावादि की चर्वणा से उद्बुद्ध रतिस्थायिभाव यद्यपि नियतप्रमाता मे रहता है तथापि उद्बोधनकाल मे उसमें नियतप्रमातृगतता का ज्ञान नही होता। अर्थात् इस उद्बुद्ध रतिभाव में साधारणीकरण के द्वारा नियतप्रमातृता (व्यक्तिविशेषसम्बद्धता) का अभाव हो जाता है। इसीलिए इसकी व्याख्या करते हुए वामन झलकीकर ने कहा है—'तत्काल रसास्वादकाल विगलित अप्रतीत य परिमितप्रमातृभाव, 'ममैवैतेऽस्मैव रसास्वादमिना' इत्येवंरीत्या अननुभूयमानो यो व्यक्तिविशेषसम्बन्ध तद्वशेन उन्मिषित प्रादुर्भूत अपरिमितो भावश्चित्तवृत्तिविशेषो यस्य तेन प्रमात्रा इत्यर्थ '।[1]

काव्यप्रकाश के प्रदीप टीकाकार गोविन्दभट्ट ने भी—'रसास्वादकाले स्थायिना प्रमातृविशेषनिष्ठत्वलक्षणाया. परिमितप्रमातृताया यद्विगलनमज्ञान तद्वशेनोन्मिषितो वेद्यान्तरसम्पर्कशून्य अपरिमितो भावो यस्य तेन प्रमात्रा सकलसहृदयसंवादकारिणा प्रमातृविशेषसम्बन्धाग्रहरूपेण साधारण्येन स्थायी चर्व्यते।[2]

इसीलिए अभिनवगुप्त ने कहीं भी सहृदय या प्रमाता का साधारणीकरण नहीं बतलाया।

रस की अलौकिकता

जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है रस की सम्पूर्ण सामग्री अलौकिक है अत रस को भी अलौकिक कहा जाता है। इनमें विभाव अनुभाव, व्यभिचारी

---

१ काव्यप्रकाश, बालबोधिनी टीका पृ ९०

२ काव्यप्रकाश, प्रदीपटीका पृ ९८

भाव तथा रत्यादि स्थायिभाव का साधारणीकरण के द्वारा अलौकिक होने का निरूपण पहले किया जा चुका है। विभावादि हेतु में अलौकिकता अन्य प्रकार से भी है। जैसे—विभावादि को रति के उद्बोधन या रसतापत्ति मे कारण माना गया है और निमित्तकारण कारक (उत्पादक) तथा ज्ञापक भेद से दो प्रकार के ही लोक मे होते हैं। विभावादि को रस का जनक कारण भी नही माना जा सकता क्योंकि निमित्तकारणरूप जनक के अभाव मे भी कार्य की स्थिति रहती है। जैसे दण्डादि निमित्तकारण के अभाव में घट की स्थिति है। किन्तु विभावादि के अभाव मे रसकी स्थिति नही रहती है। इसीलिए रस को 'विभावादिजीवितावधि' कहा गया है। अत. विभावादि रस के निमित्त कारण नही है। इसीलिए रसको कार्य नही माना जा सकता। विभावादि रस के ज्ञापक कारण भी नहीं बन सकते। क्योंकि ज्ञापक कारण से पूर्व ज्ञाप्य की स्थिति रहती है जैसे दीपप्रकाश से पूर्व ज्ञाप्य घट की। किन्तु विभावादिचर्वणा से पूर्व रस की स्थिति नहीं है, अपितु विभावादि-चर्वणाकाल मे ही है। इसीलिए रस को सिद्धस्वभाव न मानकर तात्कालिक माना गया है।[1] अत. विभावादि, ज्ञापक कारण भी नही है, इसीलिए रस को ज्ञाप्य भी नही माना जा सकता। विभावादि लोक मे होने वाले द्विविध कारक व ज्ञापक कारणो से भिन्न हैं, फिर भी रस के कारण हैं अत ये अलौकिक कारण कहलाते हैं।[2]

रस का ज्ञान लोक मे होने वाले सभी ज्ञानों से भिन्न है क्योंकि लोक मे प्रत्यक्षादिप्रमाणजन्य ज्ञान, योग-सामर्थ्य-जनित अपरिपक्वयोगिज्ञान तथा विषयान्तर-सम्पर्कशून्य आत्ममात्रविषयक परिपक्वयोगिज्ञान, ये तीन प्रकार के ज्ञान हैं। रस का ज्ञान लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणो से नही होता किन्तु अलौकिक विभावादि की चर्वणा से व्यक्त साधारणीकृत-स्थायिचर्वणा से होता है।

---

१ चर्व्यमाणतैकसार न तु सिद्धस्वभाव, तात्कालिक एव न तु चर्वणातिरिक्तकालावस्थायी रस। —अभिनवभारती, पृ० २८४

२ (क) अत एव विभावादयो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य, तदबोधापगमेऽपि रससम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञप्तिहेतवो येन प्रमाणमध्ये पतेयु, सिद्धस्य कस्यचित् प्रमेयभूतस्य रसस्याभावात्। किं तर्हि एतद्धि विभावादय इति। अलौकिक एवाय चर्वणोपयोगी विभावादिव्यवहार। क्वान्यत्र इत्थं दृष्टमिति चेद् भूषणमेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ।

—अभिनव भारती, पृ० २८५

(ख) ननु विभावादिरत्र किं ज्ञापको हेतु, उत कारक? न ज्ञापको न कारक अपि तु चर्वणोपयोगी। ननु क्वैतद् दृष्टमन्यत्र। यत एव न दृष्टं तत एवालौकिकमित्युक्तम्।

—लोचन पृ० १८५

(ग) स च न कार्य विभावादिनाशेऽपि तस्य सम्भवप्रसङ्गात्। नापि ज्ञाप्य सिद्धस्य तस्यासम्भवात्। कारकज्ञापकाभ्यामन्यत् क्व दृष्टमिति चेत्, न क्वचिद् दृष्टमित्यलौकिकसिद्धेर्भूषणमेतन्न दूषणम्। —काव्यप्रकाश, च उ पृ० १०१

और रस का ज्ञान न समाधिकालिक योगज सामर्थ्य से ही होता है क्योंकि ऐसा मानने पर जिस प्रकार योगी के द्वारा ज्ञायमान वस्तुओं में तटस्थता अर्थात् स्वभिन्नत्व का ज्ञान है उसी प्रकार सामाजिक द्वारा ज्ञायमान रस (रति) का ज्ञान भी परकीयत्वरूप से होगा और उसमें तटस्थताजन्य अस्फुटता आदि रसविघ्नों की उपस्थिति होने से उसका आस्वाद नहीं बनेगा। रसज्ञान को सर्वविधविषयान्तर-सम्पर्कशून्य आत्ममात्रपर्यवसित ज्ञान भी नहीं माना जा सकता, क्योंकि उस स्थिति में सहृदयचित्त में रत्यादि स्थायिभावों का सम्पर्क न होने से सहृदयों का उस भाव के साथ तन्मयीभावरूप सहृदयता का आवेश नहीं होगा और उसके बिना तज्जन्य चमत्काररूप सौन्दर्य प्राप्त नहीं होगा।[1] अतः भट्टनायक ने रस में तन्मयीभावरूप *आवेश के कारण ही रसास्वाद को ब्रह्मास्वाद से भिन्न बतलाया है—*

> वाग्धेनुर्दुग्ध एतं हि रसं यद्बालतृष्णया।
> तेन नास्य समः स स्याद् दुह्यते योगिभिर्हि यः।
>
> —लोचन पृ० ९१

इसका तात्पर्य यही है कि सहृदय भावावेश अर्थात् स्थायिभाव में तन्मयीभाव प्राप्त कर रस का आस्वादन करता है जबकि योगी बिना आवेश के ही ब्रह्मास्वाद प्राप्त करता है।

उपर्युक्त रीति से रस किसी भी लौकिक ज्ञान का विषय नहीं है। इतना होते हुए भी रस में भानविषयता का अभाव नहीं है। रसना से उसका भान होता है, और रसना स्वसंवेदन या स्वानुभूति से भिन्न नहीं है। आस्वाद्यमानता या आस्वादन को ही रस का स्वरूप बतलाया गया है। किन्तु यह आस्वादन या रसना कोई रसनेन्द्रियजन्य स्वाद नहीं है अपितु बोधरूप है।[2] यह रसनामय बोध लौकिक बोधों (प्रत्यक्षादि, प्रमाणजन्य ज्ञानों) से विलक्षण है। क्योंकि जैसा अभी बतलाया गया है इसके कारण लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाण नहीं हैं किन्तु अलौकिक विभावादि का संयोग है। इसलिए अलौकिक विभावादिसंयोग से होने वाली इस अलौकिक बोध-

रूपा रसना का विषय होने से भी रस को अलौकिक कहा गया है।[1]

उपर्युक्त रीति से जब विभावादि से रस निष्पन्न नहीं होता तो 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' इस सूत्र में विभावादि के योग से रस की निष्पत्ति कैसे बतलायी गयी है? इसका समाधान करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि रसविषयक रसना की निष्पत्ति होती है न कि रस की, उसी की निष्पत्ति को रस की निष्पत्ति कह दिया है, क्योंकि रसना ही रस का प्राण है। इसीलिए 'रसैकतकप्राणो ह्यसौ' ऐसा कहा है।[2]

मम्मट ने रसज्ञान को साक्षात्काररूप मानते हुए भी न उसे निर्विकल्पक ज्ञान का विषय माना है, क्योंकि उस दशा में अन्य वस्तुओं का ज्ञान नहीं होता। और रसास्वादन में विभावादि का परामर्श (ज्ञान) भी रहता है। तथा न उसे सविकल्पक ज्ञान का विषय ही माना है। क्योंकि सविकल्पक ज्ञान शब्दव्यवहार का विषय भी होता है। अर्थात् उसका शब्दों द्वारा भी ज्ञान होता है जबकि रस का ज्ञान शब्द से न होकर स्वसंवेदन से ही होता है। लोक में जो भी प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है वह निर्विकल्पक या सविकल्पक ज्ञान का विषय होता है। किन्तु रस का ज्ञान इन दोनों ज्ञानों से भिन्न है तथा साक्षात्काररूप है। इस कारण भी रस को अलौकिक कहा गया है।[3] उपर्युक्त रीति से रस सभी दृष्टियों से अलौकिक है।

रसास्वादन का अधिकारी भी लौकिक साधारण पुरुषों से विलक्षण होता है। अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि काव्य के निरन्तर परिशीलन से जिनमें कविवर्णित भावों में तन्मयीभवन की योग्यता आ चुकी है वे ही सहृदय कहलाते हैं[4] और रसास्वादन के अधिकारी हैं। तन्मयीभाव हृदय का धर्म है न कि बुद्धि का। इसीलिए बुद्धि की प्रधानता वाले ब्रह्मज्ञान को रसास्वादन से भिन्न ही बतलाया है। हृदय-प्राधान्य के कारण ही रसास्वादन के अधिकारी सामाजिक को अन्य पुरुषों से विलक्षण 'सहृदय' की संज्ञा प्रदान की गई है।

यद्यपि हृदय की सत्ता सभी प्राणियों में है किन्तु हृदय की सामान्य सत्ता

---

१. रसना च बोधरूपैव किन्तु बोधान्तरेभ्यो लौकिकेभ्यो विलक्षणैव। उपायादीनां विभावादीनां लौकिकवैलक्षण्यात्। तेन विभावादिसंयोगाद् रसना यतो निष्पद्यते ततस्तथाविधरसनागोचरो लोकोत्तरोऽर्थो रस। —अभिनव भारती, पृ २८५

२. तर्हि सूत्रे निष्पत्तिरिति कथम्। नैव रसस्य। अपितु तद्विषयरसनायाः। तन्निष्पत्त्या तु तदेकायत्तजीवितस्य रसस्य निष्पत्तिरुच्यते न कश्चिदत्र दोष। —वही, पृ २८५

३. तद्ग्राहकं च न निर्विकल्पकं विभावादिपरामर्शप्रधानत्वात्। नापि सविकल्पकं चर्व्यमाणस्यालौकिकानन्दमयस्य स्वसंवेदनसिद्धत्वात्। उभयाभावस्वरूपस्य चोभयात्मकत्वमपि पूर्ववत् लोकोत्तरतामेव गमयति। —काव्यप्रकाश, पृ. ९४-९५

४. येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज सहृदया। —लोचन, पृ ३८-३९

सहृदयत्व प्रदान नहीं करती अपितु तन्मयीभवनरूप उत्कर्षयुक्त हृदय की सत्ता ही सहृदयत्व प्रदान करती है।[1] अभिनवगुप्त ने रसास्वाद प्रक्रिया में तन्मयीभवन को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। वे जहा भी रसास्वादन का निरूपण करते हैं वहाँ विभावादि की चर्वणा से तन्मयीभवन द्वारा ही रसास्वाद बतलाते हैं और यह *तन्मयीभवनयोग्यता सहृदयत्व के बिना नहीं बनती।* अतः अभिनवभारती व लोचन मे सहृदयता को तन्मयीभवन का कारण बतलाया है।[2] कवि व सहृदय दोनों को ही रसास्वादन के लिए तन्मयीभाव की अपेक्षा है। कवि यद्यपि लौकिक वस्तुओं से रत्यादि भावों का व्यक्तिविशेष से सम्बन्धित रूप में ज्ञान प्राप्त करता है, किन्तु हृदयसंवादरूपी सहृदयता के द्वारा तन्मयीभाव प्राप्त कर उनका साधारणीकृत-रूप में जब तक आस्वादन नहीं कर लेता तब तक न उसे स्वयं रसानुभूति होती है और न उसकी अभिव्यक्ति के लिए वाग्व्यवहाररूप वर्णन ही बन सकता है। इसीलिए लोचन में शोक स्थायिभाव की रसरूपतापरिणति का निरूपण करते हुए तन्मयीभावप्रक्रिया से ही कवि में रसानुभूति तथा तज्जन्य अभिव्यक्तिरूप कवित्व के उद्गम का निरूपण अभिनवगुप्त ने किया है।[3] सहृदय को भी रसास्वादन के लिए साधारणीकृत विभावादि की चर्वणा द्वारा सहृदयताजन्य हृदय-संवादपूर्वक तन्मयीभावरूप से रत्यादि का आस्वादन अपेक्षित है। इसका निरूपण अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में रसप्रकरण में किया है।[4] कवियों में भी सहृदयता की आवश्यकता है। इसके बिना हृदयसंवादमूलक तन्मयीभाव नहीं बन सकता। अतः कवि भी सहृदय है। इसी प्रकार नायक भी जब रसास्वादन करता है अर्थात् *सीतादि कारणों से अभिव्यक्त* साधारणीकृत अपने रत्यादि भावों का

आस्वादन करता है तब उसे भी इसी तन्मयीभाव की अपेक्षा होती है। इसीलिए भट्टतौत ने नायक, कवि और सहृदय तीनों में रस की समान अनुभूति बतलाई है।[1] भट्टनायक ने भी बतलाया है कि जब तक कवि तन्मयीभाव द्वारा रसपरिपूर्ण नहीं हो जाता तब तक उसकी काव्यरूप में अभिव्यक्ति सम्भव नहीं होती।[2]

रसविघ्न

सब प्रकार के विघ्नों से रहित प्रतीति, जिसे कि रसना, भोग, चमत्कार, निर्वेश, आस्वादन समापत्ति, लय, विश्रान्ति आदि शब्दों से कहा जाता है, के द्वारा ही रस का साक्षात्काररूप आस्वादन सम्भव है।[3] इस प्रतीति में अभिनवगुप्त ने सात विघ्न माने हैं। इनमें से एक भी विघ्न होने पर रसास्वादन कराने वाली प्रतीति नहीं हो सकती। वे विघ्न निम्नांकित हैं—(१) संभावनाविरह, (२) स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश, (३) निजसुखादिविवशीभाव, (४) प्रतीत्युपायविकलता, (५) स्फुटत्वाभाव, (६) अप्रधानता (७) संशययोग।[4]

१ संभावना-विरह

संवेद्य विषय की असम्भावना होने पर सामाजिक उस विषय में अपने मन को विनिविष्ट ही नहीं कर सकता, उस विषय में एकान्ततः चित्तपरिणतिरूप विश्रान्ति की तो सम्भावना ही कहाँ? असंभावना के हटने पर ही इस विश्रान्ति की सम्भावना है। इस दोष के परिहार के लिए वस्तु की लोकसाधारणता आवश्यक है जिससे उस में रसास्वादयिता का हृदयसंवाद हो सके। समुद्रलंघन आदि अलौकिक चेष्टाओं का जहाँ निरूपण है वहाँ उनका सम्बन्ध ऐसे इतिहासप्रसिद्ध लोकातीतसामर्थ्ययुक्त पुरुषों से माना है जिनमें ऐसे कार्य करने की प्रसिद्धि तथा सामर्थ्य की भावना हमारे हृदय में चिरकालिक संस्कार के रूप में विद्यमान है। इसलिए नाटकादि में इतिहासप्रसिद्ध वस्तु तथा नायकादि का अवलम्बन किया जाता है।[5] और इस प्रकार सम्भावनाविरह दोष का परिहार किया जाता है।

---

१. नायकस्य कवे श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः। —लोचन, पृ ९२

२. यावत्पूर्णो न चैतेन तावत् नैव वमत्यमुम्। —लोचन पृ ८७

३. सकलविघ्नविनिर्मुक्तसंवित्तिरेव चमत्कारनिर्वेशरसनास्वादनभोगसमापत्तिलयविश्रान्त्यादि-शब्दैरभिधीयते। —अभिनवभारती, पृ. २८०

४. विघ्नापसारका-प्रतिपत्तौ अयोग्यता-संभावनाविरहो नाम, स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकाल-विशेषावेश, निजसुखादिविवशीभाव, प्रतीत्युपायवैकल्यम्, स्फुटत्वाभाव, अप्रधानता, संशययोगश्च। —वही, पृ २८०

५ तथा हि संवेद्यमसंभावयमानः संवेद्ये संविदं विनिवेशयितुमेव न शक्नोति का तत्र विश्रान्तिः इति प्रथमो विघ्नः। तदपसारणे हृदयसंवादो लोकसामान्यवस्तुविषयः। अलोक-सामान्येषु तु चेष्टितेषु अखण्डितप्रसिद्धिजनितगाढारूढप्रत्ययप्रसरकारी प्रख्यातरामा-दिनामधेयपरिग्रहः। अत एव निस्सामान्यान्यपदेशव्युत्पत्तिप्रयोजने नाटकादौ प्रख्यात-वस्तुविषयत्वादि नियमेन निरूपयिष्यते। —वही पृ २८०

२. स्वगतपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश

इस विघ्न के दो अंश हैं। नियमतः (क) आत्मगत सुखादि का आस्वादन[1] तथा (ख) परगत सुखादि का आस्वादन।

(क) एकान्ततः आत्मगत सुख का आस्वाद करने पर यथासम्भव उस सुख के नाश के भय, उसकी रक्षा में व्यग्रता तथा तत्समान सुख के अर्जन की इच्छा से एवं एकान्ततः आत्मगत दुःख का आस्वादन करने पर उस दुःख को छोड़ने की इच्छा, उसके प्रकाशन की इच्छा व उसे छिपाने की इच्छा के कारण ज्ञानान्तर के उदय से आत्मगत सुख और दुःख के आस्वादन में चित्तविश्रान्ति सम्भव नहीं।

(ख) एकान्ततः परगत सुख व दुःख का आस्वादन करने पर भी आत्मा में स्वस्वभावानुसार सुख, दुःख और तटस्थता आदि अन्य ज्ञानों के उदय से एकान्ततः चित्तविश्रान्ति नहीं होगी।[2] इन दोनों विघ्नों के परिहार का उपाय विभावादि का साधारणीकरण है। इसके द्वारा देशकालविशेषसम्बन्ध तथा व्यक्तिविशेषसम्बन्ध का निराकरण हो जाता है। 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र पूर्वरङ्गविधिं प्रति' इत्यादि से बोधित पूर्वरङ्ग का निगूहन न करने से तथा 'नटी विदूषको वापि' इत्यादि वचनों के द्वारा लक्षित प्रस्तावना के दर्शन से सम्मुखस्थ अभिनेता में नटबुद्धि सामाजिकों को होती है जिससे रामत्वबुद्धि का परिहार हो जाता है। और इसमें अतीतकाल व प्राचीनदेशसम्बन्ध का परिहार भी हो जाता है। नट राम के समान मुकुट, शिरोवेष्टन आदि धारण करता है, उसके समान ही चारों प्रकार के अभिनय करता है तथा अलौकिक भाषाभेद, लास्याङ्ग, रंगपीठ आदि नाट्यधर्मी प्रवृत्तियों का वहाँ अवलम्बन किया जाता है। अतः नटबुद्धि का भी उस समय आच्छादन हो जाने से वर्तमान काल देश आदि का भी परिहार हो जाता है और इसी व्यक्ति को इसी देश में इसी काल में ये सुख अथवा दुःख हैं, इन सब बातों का निराकरण हो जाता है।[3] लोक में अदृष्ट आसीन पाठ्यपुष्पगन्धिकादि का प्रयोग भी इसीलिए बतलाया गया

---

१. स्वैकगतानां च सुखदुःखसंविदामास्वादे यथासम्भवं तदपगमभीरुतया वा तत्परिरक्षाव्यग्रतया वा तत्सदृशार्जिजीर्षया वा तज्जिहासया वा तत्प्रचिख्यापयिषया वा तद्गोपनेच्छया वा प्रकारान्तरेण वा संवेदनान्तरसमुद्गम एव परमो विघ्नः। —वही, पृ. २८०

२. परगतत्वनियमभाजामपि सुखदुःखानां संवेदने नियमेन स्वात्मनि सुखदुःखमोहमाध्यस्थ्यादिसंविदन्तरोद्गमनसम्भवादवश्यंभावी विघ्नः। —अभिनवभारती, पृ. २८०।

३. तदपाकरणे 'कार्यो नातिप्रसङ्गोऽत्र पूर्वरङ्गविधिं प्रति' इत्यादिना पूर्वरङ्गानिगूहनेन 'नटी विदूषको वापि' इति लक्षितप्रस्तावनावलोकनेन च यो नटत्वप्रतिपत्तिस्तदनुस्मरः प्रतिशीर्षकादिना तत्प्रच्छादनप्रकारोऽभ्युपायः. अलौकिकभाषादिभेदलास्याङ्गरङ्गपीठमण्डपगतकक्ष्यादिपरिग्रहनाट्यधर्मिसहित.————स एष सर्वो एव मुनिना साधारणीभावसिद्ध्या रसचर्वणायोगित्वेन परिकरबन्ध समाश्रित। तद. स एव स्वपरनियतताविघ्नापसारणप्रकारो व्याख्यात.। अ. भा. पृ. २८०-२८१

है। क्योंकि ये सब साधारणीभाव के द्वारा रसचर्वणा के उपयोगी हैं। इससे स्वपर-नियततारूप विघ्न का परिहार हो जाता है।

'मुकुटप्रतिशीर्षकादिना तावन्नटबुद्धिराच्छाद्यते। गाढप्राक्तनसंवित्संस्काराच्च न काव्यबलानीयमानापि तत्र रामधीर्विश्राम्यति। अत एवोभयकालदेशपरित्यागः'[1] इस संदर्भ के द्वारा अभिनव ने इसी तथ्य का स्पष्टीकरण किया है।

३. निजसुखादिविवशीभाव

अपने सुखादि में निमग्नता भी रसप्रतीति में विघ्न है। निजसुखादि में निमग्न सहृदय काव्यार्थ रत्यादि में अपने चित्त को निमग्न नहीं कर सकता और उसका उसमें तन्मयीभाव नहीं हो सकता जो कि रसास्वादन के लिए आवश्यक है। इस विघ्न के परिहार के लिए नृत्य, गीत, वाद्य, मण्डपसज्जा, विदग्ध गणिकाओं के नृत्य तथा विभिन्न प्रकार के अभिनयों की योजना नाट्य में की गई है। इनके द्वारा विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है और उनमें सकलजनभोग्यता आ जाती है। रसास्वादन के लिए हृदयसंवादरूप सहृदयता की अत्यन्त आवश्यकता है। इन नृत्य, गीतादि की मनोरम योजना से अहृदय पुरुष का हृदय भी निर्मल हो जाता है और उसमें भी सहृदयता आ जाती है।[2]

४, ५. प्रतीत्युपायविकलता तथा अस्फुटता

रसप्रतीति के उपायों की विकलता (अभाव या न्यूनता) तथा उनकी अस्फुटता भी रसविघ्न हैं। क्योंकि यदि रसप्रतीति के साधन विभावादि उपाय न होंगे तो उसकी प्रतीति ही नहीं होगी, उसमें चित्तविश्रान्ति तो दूर की बात है।

यदि विभावादि से अतिरिक्त शब्द तथा अनुमान प्रमाण आदि के द्वारा रत्यादि की प्रतीति मानी भी जाय तो वह अस्फुट प्रतीति होगी। प्रत्यक्ष के समान स्फुट प्रतीति शब्दादि प्रमाणों से नहीं होती। और रसास्वादन के लिए रत्यादि की प्रत्यक्षकल्प, स्फुट प्रतीति अपेक्षित है, क्योंकि स्फुट प्रतीति होने पर उसमें अनुमानादि के द्वारा अन्यथाभावज्ञान की सम्भावना नहीं होती। यद्यपि अलातचक्रादि में प्रत्यक्ष ज्ञान के बाद भी अन्यथाभावज्ञान देखा जाता है तथापि वह ज्ञान भी परवर्ती बलवान्

---

१. अ. भा. पृ. २८५

२. (क) निजसुखादिविवशीभूतश्च कथं वस्त्वन्तरे संविदं विश्रमयेदिति तत्प्रत्यूहव्यपोहनाय प्रतिपदार्थनिष्ठैः साधारण्यमहिम्ना सकलभोग्यत्वसहिष्णुभिः शब्दादिविषयमयैरातोद्यगान-विचित्रमण्डपपदविदग्धगणिकादिभिरुपरञ्जनं समाश्रितम्। येनाहृदयोऽपि हृदयवैमल्य-प्राप्त्या सहृदयीक्रियते। —अ. भा. पृ. २८१

(ख) ये तु स्वभावत एवाभूताः (न निर्मलमुकुरहृदयाः) तेषां प्रत्यक्षोचिततथाविधचर्वणाला-भाय नटादिप्रक्रिया, स्वगतक्रोधशोकादिसङ्कटहृदयग्रन्थिभञ्जनाय गीतादि-प्रक्रिया च मुनिना विरचिता। —अ. भा. पृ. २९१

प्रत्यक्ष से ही होना है। इन दोनों विघ्नों के निराकरण के लिए नाट्य में लोकधर्मी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से युक्त अभिनयन का अवलम्बन किया गया है। रत्यादि भावों का उनके कारणों तथा कार्यों द्वारा बोधन ही अभिनय कहलाता है। जैसे लज्जाभाव की अक्षिसंकोचन आदि के द्वारा प्रतीति कराना। इस अभिनयन व्यापार से भावों की प्रतीति प्रत्यक्ष के समान स्फुट होती है। अतः यह व्यापार शब्द, अनुमानादि प्रमाणों से विलक्षण है।[१]

६ अप्रधानता

आस्वाद्यमान वस्तु की अप्रधानता भी रसविघ्न है। उसके अप्रधान होने पर अन्य प्रधान के प्रति अंगभूत उस वस्तु में चित्तविश्रान्ति नहीं होती। रसरूपता को प्राप्त करने वाले रत्यादि की स्वरूपमात्रविश्रान्ति आवश्यक है। इसीलिए लोचन में भावध्वनिस्थल में व्यभिचारी भाव की स्वरूपमात्र में विश्रान्ति न होने से रस-प्रतिष्ठा का अभाव बतलाया गया है।[२] अतः जिन वस्तुओं में अप्रधानता है उनकी चर्वणा रस नहीं कहलाती। जैसे जड विभावों तथा अनुभावों की चर्वणा रस नहीं है। क्योंकि वे जड होने से चित्तवृत्ति की प्रतीतिमात्र कराते हैं। स्वयं चित्तवृत्तिरूप न होने से रसिक उनका आस्वादन नहीं करता। तथा वे प्रतीयमान चित्तवृत्ति के अंग हैं। अतः रसिक की विश्रान्ति उनके आस्वादन में नहीं होती। इसी प्रकार यद्यपि व्यभिचारी भाव चेतनरूप हैं, उनका आस्वादन सम्भव है, फिर भी वे रत्यादि स्थायिभाव में गुणीभूत हैं अतः उनकी चर्वणा स्थायिरूप मुख्य चित्तवृत्ति के अंगरूप से ही होती है अङ्गिरूप में नहीं।[३] इसलिए उनकी चर्वणा भी स्वरूप में विश्रान्त न होने से रस नहीं है। अतः विभावादि की अपेक्षा प्रधान स्थायिभाव का ही प्रधानरूप में वर्णन कवि को करना चाहिए। अन्य विभावादि का नहीं।[४]

---

१. नि च प्रतीत्युपायानामभाव एव प्रतीतिः। अस्फुटप्रतीतिकारिशब्दलिङ्गसमवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति। स्फुटप्रतीतिरूपप्रत्यक्षोचितप्रत्ययसाकाङ्क्षत्वात्। यथाहु—'सर्वा चेयं प्रमितिः प्रत्यक्षपरा' (न्यायसूत्र भाष्य १-३) इति। स्वसाक्षात्कृते ह्यागमानुमानशतैरपि अनन्यथाभावस्य स्वसंवेदनात्। अलातचक्रादौ साक्षात्कारान्तरेणैव बलवता तदपहरणात् इति लौकिकस्तावदयं क्रमः। तस्मात् तदुभयविघ्नविघाते अभिनया लोकधर्मीवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समभिषिच्यन्त। अभिनयनं हि शब्दलिङ्गव्यापारविलक्षणमेव प्रत्यक्षव्यापारकल्पमिति निर्णेष्यामः। —अभिनवभारती, पृ. २८१

२ व्यभिचारिणोऽपि चर्व्यमाणस्य तावन्मात्रविश्रान्तावपि स्थायिचर्वणापर्यवसानोचितरसप्रतिष्ठामनवाप्यापि प्राणत्व (काव्यजीवितत्व) उक्तम्। —लोचन, पृ. ९०

३. व्यभिचारी तु चित्तवृत्त्यात्मकत्वेऽपि मुख्यचित्तवृत्तिपरवश एव चर्व्यते। —लोचन, पृ. १४७

४. अप्रधाने च वस्तुनि कस्य संविद्विश्राम्यति। तस्यैव प्रत्ययस्य प्रधानान्तरं प्रत्यनुधावत स्वात्मन्यविश्रान्तत्वात्। अतोऽप्रधानस्य जडे विभावानुभाववर्गे व्यभिचारिनिचये च संविदात्मकेऽपि नियमेनान्यमुख्यप्रेक्षिणि समवर्तीति तदतिरिक्त स्थाय्येव तथा चर्वणापात्रम्।
—अ. भा. पृ. २८१

७. संशययोग

रत्यादि स्थायिभावों के विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव एकान्ततः नियत नही हैं। जैसे व्याघ्र आदि जिस प्रकार भयभाव के प्रति विभाव हैं उसी प्रकार उत्साह विस्मय तथा क्रोध के प्रति भी हैं। अश्रुपात आदि जिस प्रकार रति के अनुभाव हैं उसी प्रकार शोक और भय के भी। चिन्तादि जिस प्रकार रति के सचारी हैं उसी प्रकार उत्साह, शोक तथा भय के भी हैं। अत केवल विभावों, केवल अनुभावो व केवल व्यभिचारियों से रत्यादि स्थायिभाव की निश्चित प्रतीति नही होगी। अपिच केवल व्याघ्रादि विभावो को देखने पर भय, उत्साह विस्मय आदि में से किसी एक भाव का निश्चय नही होगा। यही स्थिति केवल अनुभावों व केवल व्यभिचारियो के विषय मे भी है। अत. किसी एक भाव का निश्चय न होने से उसमे चित्तविश्रान्ति नही होगी। इस विघ्न के परिहार के लिए रससूत्र मे योगपद का उपादान किया गया है। अर्थात् किसी एक भाव की निश्चित प्रतीति के लिए विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी तीनो का सयोग अपेक्षित है। तीनो का सयोग होने पर किसी दूसरे भाव की प्रतीति का सन्देह नही हो सकता। क्योकि तीनो का सयोग निश्चित-भाव का असदिग्ध रूप से परिचायक है। अतः दूसरे भाव की प्रतीति का सशय नही होता।

डा. नगेन्द्र ने अभिनवभारती मे प्रतिपादित, सहृदय की रसप्रतीति में बाधक विघ्नो का प्रतिपादन करते हुए आचार्य विश्वेश्वर तथा प. रामदहिन मिश्र के अनुसार उनकी सप्त सख्या का विभिन्नरूप से निरूपण किया है। पं. रामदहिन मिश्र के अनुसार "स्वगतत्व-परगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश" दो विघ्न हैं और "प्रतीत्युपायवैकल्य" और "अस्फुटता" एक विघ्न है, दो नही। आचार्य विश्वेश्वर के अनुसार "स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेश" एक ही विघ्न है तथा 'प्रतीत्युपायवैकल्य' एव 'अस्फुटता' ये दोनो भिन्न भिन्न विघ्न हैं। इस प्रकार दोनो के मत मे सप्त सख्या का निर्वाह होने पर भी उनमें उपर्युक्त रीति से भेद है। इन दोनों मतो मे पं. रामदहिन मिश्र के मत को उपयुक्त सिद्ध करते हुए डा. नगेन्द्र ने कहा है[1]—'प्रतीति के उपायो की विकलता तथा स्फुटप्रतीति का अभाव दो अलग तथ्य न होकर एक ही तथ्य के कारण और कार्य हैं। अर्थात् उपायो की विकलता का परिणाम ही तो प्रतीति की अस्फुटता है।' परन्तु यह कथन अभिनवभारती के सर्वथा प्रतिकूल होने से नितान्त अप्रामाणिक है। सर्वप्रथम तो अभिनवभारती मे इन विघ्नो का उल्लेख करते हुए प्रत्येक विघ्न का पृथक् पृथक् निर्देश किया गया है जैसे 'सभावनाविरहः, स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकाल—विशेषावेशः, निजसुखादिविवशीभावः, प्रतीत्युपायवैकल्यम्, अस्फुटता, अप्रधानता, संशययोगश्च'। "इनमें स्वगतत्वपरगतत्वनियमेन देशकालविशेषावेशः" का पृथक्

---

१. रससिद्धान्त, पृ० १०१

एकरूप से उल्लेख हुआ है और प्रतीत्युपायवैकल्य और अस्फुटता का पृथक्-पृथक् विभिन्न रूप से उल्लेख हुआ है। अतः ये दोनों पृथक् विघ्न हैं।

दूसरी बात यह है कि सुखदुःख आदि के नियतरूपता स्वगत या परगत होने पर ज्ञानान्तर के उद्गमरूप जिस दोष की सम्भावना की गई है वह एक है तथा उसके परिहार का उपाय भी एक ही बतलाया गया है।[1]

तीसरी बात यह है कि प्रतीत्युपायवैकल्य तथा अस्फुटता नामक विघ्नों का निराकरण करते हुए अभिनवभारती में ये विघ्न दो हैं यह स्पष्ट उल्लेख मिलता है। वहाँ कहा गया है कि इन दोनों विघ्नों के निवारण के लिए लोक-धर्मी वृत्तियों तथा प्रवृत्तियों से उपस्कृत अभिनय व्यापार का आश्रय नाट्य में किया जाता है।[2]

चौथी बात यह है कि प्रतीत्युपायविकलता और अस्फुटता में कार्यकारण-भाव नहीं है जैसाकि डा नगेन्द्र ने निर्देश किया है। अपितु रत्यादि-प्रतीति में किसी उपाय का अभाव प्रतीत्युपायविकलता शब्द से बतलाया गया है। यदि शब्द व अनुमान प्रमाण को रत्यादि-प्रतीति का उपाय माना जाय तो उसकी स्फुट प्रतीति नहीं होगी। क्योंकि शब्दादि प्रमाणों से वस्तु का ज्ञान सामान्यतया ही होता है न कि प्रत्यक्ष की तरह विशेषरूप से। यह अर्थ अस्फुटता शब्द से बतलाया गया है। अतः इन दोनों में कार्यकारणता का प्रश्न ही नहीं है। प्रतीत्युपाय की विकलता प्रतीति के अभाव का कारण हो सकती है न कि प्रतीति की अस्फुटता का। इसीलिए इन दोषों का निरूपण करते हुए 'प्रतीत्युपायानामभावे कथं प्रतीतिः'[3] इस उक्ति से उपायवैकल्य से रत्यादि की प्रतीति का अभाव तथा 'अस्फुटप्रतीतिकारि-शब्दलिङ्गसम्भवेऽपि न प्रतीतिर्विश्राम्यति'[4] इस उक्ति से अस्फुटता दोष से प्रतीति-विश्रान्ति का अभाव बतलाया है।

इसी प्रकार अप्रधानतारूप रसप्रतीतिविघातक विघ्न का निरूपण करते हुए डा नगेन्द्र ने कहा है—'अभिनवगुप्त की दृष्टि सर्वथा विषयिपरक है अतः उन्होंने काव्य में विभाव-पक्ष की अपेक्षा भावपक्ष पर ही अधिक बल दिया है.... किन्तु इससे यह भ्रान्ति नहीं होनी चाहिए कि काव्य में विभाव, अनुभाव का स्वतन्त्र चित्रण या व्यभिचारी की स्वतन्त्र व्यञ्जना रस की अभिव्यक्ति एवं अनुभूति के लिए सर्वथा एवं सर्वथा अपर्याप्त रहती है। संस्कृत तथा हिन्दी में ऐसे अनुपम सरस छन्द हैं जिनमें मुख्यतः विभाव अनुभाव का चित्रण है.... और व्यभिचारी द्वारा रस की प्रतीति का उत्कृष्ट प्रमाण तो अधिकांश छायावादी काव्य ही है'[5] इत्यादि। किन्तु डा नगेन्द्र का यह कथन भी भ्रान्तिमूलक है। अभिनवगुप्त का अभिप्राय

---

१ तत्र स एव स्वगतत्वपरगतत्वविभागनियमप्रकारो व्याख्यातः। —अभिनवभारती, पृ २८१

२ तस्मात्तदुभयविघ्नविघातकं अभिनया लोकधर्मीवृत्तिप्रवृत्त्युपस्कृताः समुपदिष्टाः।

—अभिनवभारती, पृ २८१

३ ४. अभि भा पृ २८१ ५. रस सिद्धान्त पृ ३०३

अप्रधानता विघ्न के प्रतिपादन मे यही है कि दूसरी वस्तुओं मे गुणीभूत अप्रधान वस्तु की चर्वणा रस नही हो सकती चाहे वह वस्तु विषय हो या विषयी हो। क्योकि उस अप्रधान वस्तु के प्रधान वस्तु की तरफ अभिमुख होने से उसकी चर्वणा की स्वस्वरूप मे विश्रान्ति नही हो सकती जो कि रस का जीवन है। अत अप्रधान विभावादि की चर्वणा रस नही बन सकती। उनका यह अभिप्राय नही है कि विभाव तथा अनुभाव से या व्यभिचारी भाव से रसप्रतीति नही हो सकती। क्योकि उनकी चर्वणा भी स्थायिभाव की प्रतीति कराकर तच्चर्वणा द्वारा रसप्रतीति कराती ही है।

अभिनवगुप्त का यह स्पष्ट अभिप्राय है कि रसप्रतीति मे विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव की चर्वणा भी स्थायिचर्वणा के साथ होती है और वस्तुत विभावादि की चर्वणा से ही रसरूपता प्राप्त करने वाले साधारणीकृत स्थायी की चर्वणा होती है। इसीलिए रस को 'विभावादिजीवितावधि या विभावादि-चर्वणाजीवितावधि' कहा गया है। फिर भी विभावा, अनुभावा व व्यभिचारी भावो की चर्वणा रस नही कहलाती क्योकि उनकी चर्वणा का पर्यवसान रत्यादि स्थायिभावो की चर्वणा मे होता है। इस प्रकार विभावादिचर्वणा की स्वस्वरूप मे विश्रान्ति नही होती और स्थायिचर्वणा का अपने आप मे ही पर्यवसान होने से उसकी स्वस्वरूप मे विश्रान्ति है। अत प्रधानभूत भावचर्वणा ही रस है। अभिनव-भारती मे निर्दिष्ट अप्रधानताविघ्न का प्रतिपादन इसी तथ्य का स्पष्टीकरण कर रहा है। अभिनवगुप्त ने 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम' (ना शा अ ६) इस उक्ति के द्वारा स्थायिभावो मे अप्रधानता का निराकरण किया है।[1]

अप्रधानतारूप विघ्न का प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त ने विभावो, अनुभावो व व्यभिचारिभावो की अप्रधानता स्पष्टरूप से सिद्ध की है। उनका कथन है कि विभाव व अनुभाव जड वर्ग म आते है उनमे सविद्विश्रान्ति का प्रश्न ही उत्पन्न नही होता। व्यभिचारिभाव यद्यपि चित्तवृत्ति होने से चेतनरूप हैं किन्तु उनमे भी सामाजिक की चित्तवृत्ति की विश्रान्ति नही होती, क्योकि वे नियमत स्थायिभाव के अग हैं अत अप्रधान हैं। प्रधान मे चित्तवृत्ति की विश्रान्ति होती है न कि अप्रधान मे। रत्यादि स्थायिभाव प्राणी मे जन्म से लेकर मृत्युपर्यन्त सस्काररूप से विद्यमान रहते हैं।[2] जबकि व्यभिचारिभाव सर्वदा नहीं रहते। उनकी सत्ता अपने विभावो पर आश्रित है। और व्यभिचारिभाव स्थायिभाव के उपरञ्जकमात्र होने से उसके अग हैं। विभाव यद्यपि व्यभिचारिभावो की तरह ही स्थायिभावो के भी बोधक हैं। और अपने औचित्य और अनौचित्य मे

1 एवमप्रधानत्वनिरास स्थायिनिरूपणाया स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्याम' इत्यनया सामान्यलक्षणशेषभूतया विशेषलक्षणनिष्ठया च कृत। —अ भा पृ २८३

२ जात एव जन्तुरियतीभि सविद्भि परीतो भवति नहि एतच्चित्तवृत्तिवासनाशून्य प्राणी भवति। केवल कस्यचित् काचिद् अधिका चित्तवृत्ति काचिदूना।

—अभिनवभारती, पृ २८२-२८३

स्थायिभावों में भी औचित्य व अनौचित्य का आधान करते हैं, तथापि स्थायिभावों की सत्ता विभावों की सत्ता पर आश्रित नहीं है। विभावों के न होने पर भी संस्काररूप से प्राणी में स्थायिभावों की सत्ता रहती है।[1] किन्तु व्यभिचारी भावों की सत्ता विभावों पर ही आश्रित है। विभावों के अभाव में कोई भी व्यभिचारी भाव अस्तित्व नहीं रखता।[2] अतः विभावों के, उद्बोधन द्वारा स्थायिभावों के, उपरंजकमात्र होने से तथा स्थायिभावों के सर्वदा स्थायी होने से विभावादि की अपेक्षा स्थायिभावों में प्रधानता है।

इसी प्रकार व्यभिचारी भावों की अपेक्षा भी स्थायिभाव प्रधान है क्योंकि उपर्युक्त रीति से स्थायिभाव प्राणी में यावज्जीवन स्थिर रहते हैं। किन्तु व्यभिचारी भावों की सत्ता सर्वप्रथम तो सब प्राणियों में आवश्यक नहीं। जैसे रसायन सेवन करने वाले ऋषि-मुनि आदि में ग्लानि, श्रम आदि चित्तवृत्तियों की उनके विभावादि द्वारा भी उत्पत्ति नहीं होती। तथा जिन प्राणियों में उत्पत्ति होती भी है उनमें भी ग्लानि आदि व्यभिचारिरूप चित्तवृत्तियाँ विभावों के न होने पर नष्ट हो जाती हैं और किसी प्रकार का संस्कार प्राणी में नहीं छोड़तीं।[3] उत्साह आदि स्थायिभाव, कार्यविशेष के सम्पन्न हो जाने पर भी तथा जिससे कि उनकी अभिव्यक्ति हुई है, उन विभावादि के न रहने पर भी नष्ट नहीं होते अपितु कार्यान्तरविषयक उत्साह आदि की स्थिति प्राणी में सर्वदा बनी रहती है।[4] व्यभिचारिरूप चित्तवृत्तियों की अपेक्षा स्थायिभावरूप चित्तवृत्तियों की स्थायिता में युक्ति देते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि 'इस पुरुष में ग्लानिरूप चित्तवृत्ति है' यह कहने पर उस चित्तवृत्ति के कारण की जिज्ञासा होती है। किन्तु यह पुरुष उत्साह से युक्त है यह कहने पर उसके कारण की जिज्ञासा व्यक्ति को नहीं होती। इससे यह सिद्ध है कि उत्साहादि स्थायिभाव कारणरूप विभावादि के बिना भी प्राणी में संस्काररूप से रहते हैं जबकि ग्लानि आदि व्यभिचारिरूप चित्तवृत्तियों का उदय और अस्तित्व बिना कारण के नहीं होता।[5] अतः उन व्यभिचारिरूप चित्तवृत्तियों की अपेक्षा

---

१ अतएव विभावास्तदुद्बोधका अन्तःस्वरूपोपरञ्जकाश्च विद्यमाना रत्युत्साहादेः उचितानुचितत्वमात्रमावहन्ति, न तु तदभावे सर्वथैव ते निराकृताः। वासनात्मना सर्वजन्तूनां तन्मयत्वेनावस्थानात्। —अभिनवभारती, पृ. २८३

२. व्यभिचारिणां तु स्वविभावाभावे नामापि नास्ति। —अभिनव भारती, पृ. २८३

३. ये पुनरमी ग्लानिशङ्काप्रभृतयश्चित्तवृत्तिविशेषास्ते समुचितविभावाभावाज्जन्मन्यपि न भवन्त्येव। तथाहि रसायनमुपयुक्तवतो मुनेर्ग्लान्यालस्यश्रमप्रभृतयो नोत्पद्यन्ते। यस्यापि भवन्ति विभाववशात्तस्यापि हेतुप्रलये क्षीयमाणाः संस्कारशेषतां तावत् नावश्यमनुबध्नन्ति। —अभिनवभारती, पृ. २८३

४. उत्साहादयस्तु सम्पादितस्वकर्तव्यतया प्रलीनकल्पा अपि संस्कारशेषतां नातिवर्तन्ते, कर्तव्यान्तरविषयस्य उत्साहादेरखण्डनात्। —अभिनवभारती, पृ. २८३

५. तथाहि ग्लानोऽयमित्युक्ते कुत इति हेतुप्रश्नेन अस्थायिता तस्य सूच्यते, न तु राम उत्साहशक्तिमान् इत्यत्र हेतुप्रश्नमाहुः। —अभिनवभारती, पृ. २८३

भी रत्यादि स्थायी चित्तवृत्तियों में प्रधानता है। इससे विभावादि की अपेक्षा स्थायी भावों में सर्वदा प्रधानता ही रहती है, कदापि अप्रधानता नहीं।

अभी यह बतला दिया है कि व्यभिचारिभावरूप चित्तवृत्तियों की अपेक्षा रत्यादि स्थायिभावरूप चित्तवृत्तियाँ प्रधान हैं। क्योंकि व्यभिचारी चित्तवृत्तियाँ समुपरञ्जन द्वारा स्थाय्यात्मक चित्तवृत्तियों की अङ्ग हैं, उनमें गुणीभूत हैं। तथा रत्यादि स्थायी चित्तवृत्तियाँ अन्य किसी चित्तवृत्ति की अङ्गभूत नहीं है अत वे प्रधान हैं। आगे अभिनवगुप्त ने बतलाया है कि रत्यादि स्थायी चित्तवृत्तियों में भी कुछ चित्तवृत्तियाँ प्रधान हैं दोष नहीं। जो स्थायी चित्तवृत्तियाँ धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में किसी भी पुरुषार्थ को सिद्ध करने वाली हैं वे प्रधान मानी जाती हैं। पुरुषार्थसाधिका वे स्थायी चित्तवृत्तियाँ रति, क्रोध, उत्साह तथा निर्वेद हैं। इन में रतिरूप चित्तवृत्ति प्रधानरूप से काम पुरुषार्थ की तथा गौणरूप से कामसम्बद्ध धर्म व अर्थ की साधिका है। क्रोधप्रधान पुरुषों में क्रोधरूप चित्तवृत्ति रहती है जो कि रौद्र की स्थायी चित्तवृत्ति है, वह अर्थरूप पुरुषार्थ की साधिका है। इसी प्रकार वीररस की स्थायी चित्तवृत्ति उत्साह भी धर्म, अर्थ व काम तीनों पुरुषार्थों की साधिका है। इसीलिए लोचन में अभिनवगुप्त ने कहा है कि वीर व रौद्र रस का अत्यन्त विरोध नहीं है।[1] तत्वज्ञानोत्पन्न निर्वेदरूप स्थायिचित्तवृत्ति मोक्षरूप पुरुषार्थ की साधिका है। इस प्रकार रति, क्रोध, उत्साह व निर्वेद के कामादि पुरुषार्थों के साधक होने से इन्हें प्रधान माना गया है। किन्तु हास्य, करुण, अद्भुत, बीभत्स, भयानक रसों की स्थायी चित्तवृत्तियाँ हास, शोक विस्मय, जुगुप्सा तथा भय किसी भी पुरुषार्थ के साक्षात् साधक नहीं हैं। पुरुषार्थसाधिका रत्यादि चित्तवृत्तियों के अङ्ग बनकर चाहे वे पुरुषार्थ के साधक हों। अत उन्हें स्थायी होते हुए भी रत्यादि की अपेक्षा अप्रधान माना गया है। हासादि चित्तवृत्तियों के विभाव विकृतवेषादि सभी लोगों में अतिशयमात्रा में सुलभ हैं। अत वे प्रधान नहीं किन्तु प्रधान रत्यादि चित्तवृत्तियों के उपरञ्जक ही हैं। उपर्युक्त रत्यादि चित्तवृत्तियाँ जन्म से ही प्राणी में रहती हैं। अत वे स्थायी कहलाती हैं, जब कि व्यभिचारी चित्तवृत्तियाँ स्वविभावों के द्वारा कुछ काल के लिए उत्पन्न होकर तथा स्थायी चित्तवृत्तियों में उपरञ्जन द्वारा सस्कारवैचित्र्य उत्पन्न कर विलीन हो जाती हैं। किन्तु स्थायी चित्तवृत्तियाँ सर्वदा ही सस्काररूप से रहती हैं। अपने विभावादि से उद्बुद्ध होकर विभावादि के नष्ट हो जाने पर भी वे सर्वथा नष्ट नहीं होतीं। सस्काररूप से उनका अस्तित्व विभावादि के नष्ट हो जाने पर भी रहता ही है।

रत्यादि चित्तवृत्तियाँ जन्म से ही मनुष्य में रहती हैं इसका दिग्दर्शन कराते हुए अभिनव ने कहा है कि प्रत्येक प्राणी दु ख से द्वेष करता है तथा सुख का आदर करता है अत: सभी प्राणी रमण की इच्छा रखते ही हैं। अपने को अन्य पुरुषों से

---

१. वीररौद्रयोर्धीरोद्धते भीमसेनादौ समावेश क्रोधोत्साहयोरविरोधात्। —लोचन, पृ ३८१

उत्कृष्ट मानकर उनका उपहास भी वह करता है। अभीष्ट वस्तु के वियोग से दु खी होता है। वियोग के कारणो पर क्रोध करता है। उनके निवारण मे अशक्त होने पर भयभीत होता है। अभीष्ट वस्तु के अर्जनविषयक उत्साह से भी युक्त होता है। किसी वस्तु को अनिष्ट मानकर उस अनुचित वस्तु से विमुख भी होता है अर्थात् उससे जुगुप्सा करता है। विशेष अर्थात् असामान्य कार्यों को देख कर विस्मित भी होता है। और किसी वस्तु का त्याग भी करना चाहता है। इन चित्तवृत्तियो म स किसी पुरुष म किसी चित्तवृत्ति की अधिकता व किसी की न्यूनता रहती है। किसी की चित्तवृत्ति उचित विषय से नियन्त्रित होती है और किसी की नहीं।

रसो की आनन्दरूपता

अभिनवगुप्त के अनुसार सभी रस आनन्दरूप है। क्योकि रति, शोक, जुगुप्सा आदि सभी स्थायिभावो का, तत्तत्स्थायिभावोचित साधारणीकृत देशकाल-व्यक्तिविशेषसम्बन्धरहित विभावादि की चर्वणा से, सामाजिको के हृदय में वासना-रूप मे विद्यमानो का सामान्यतया उद्बोधन होता है। साधारणीकृत विभावादि-चर्वणा के द्वारा सामाजिकहृदय मे सस्काररूप मे विद्यमान रत्यादि की व्यक्तिविशेष-सम्बन्धरहित रतित्वरूप से ही अभिव्यक्ति होती है। इन साधारणीकृत रत्यादि का उद्रिक्त सत्वगुण के कारण अन्तर्मुख चित्त मे आनन्दरूप आत्मा के साथ जब रस-नात्मक बोध होता है तब आनन्दरूप आत्मा के साथ आस्वाद्यमान रत्यादि भाव ही शृङ्गारादि रस कहलाते है। रसास्वादनकाल म रत्यादिभावो के साथ आनन्दघन आत्मसवित् की चर्वणा के कारण सभी रस आनन्दरूप है। यद्यपि आनन्दघन आत्मा क साथ रत्यादिभावो की भी चर्वणा होती है। और रत्यादि-भावो में रति, उत्साह आदि कतिपय भाव स्वस्वभाव के कारण सुखजनक है तो शोक, क्रोध, भय, जुगुप्सा आदि दु खजनक भी है। अत आनन्दरूपता के साथ दु ख-रूपता भी करुणादि कतिपयरसो की माननी चाहिए। इसका समाधान करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि साधारणीकृत विभावादिचर्वणा से लोक में दु खजनक शोकादिभाव भी देशकालव्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से प्रतीत होकर केवल शोक, भय आदि क रूप मे ही अभिव्यक्त होते है। और सहृदयता के कारण उद्रिक्त-सत्वयुक्त सामाजिक मन का उस भाव मे जब तन्मयीभाव हो जाता है तो उस समय एकघनशोकसवित् मे हो सहृदय के हृदय की विश्रान्ति हो जाती है। किसी भी भाव म अन्तरायशून्य हृदयविश्रान्ति ही आनन्द का स्वरूप है। इसीलिए लोक मे भी एकघनशोकसवित् की चर्वणा के समय स्त्रियो की उसी भावसवित् में अन्तरायशून्य हृदयविश्रान्ति होने से उन को सुख की प्रतीति होती है। शोकादि भाव, मृतव्यक्ति तथा तत्सम्बन्धित वस्तुओं के कारण, दु खजनक होते है। किन्तु मृतव्यक्ति तथा तत्सम्बन्धित अन्यवस्तुओ का सम्पर्क नष्ट हो जाने पर शुद्ध शोक-ज्ञान में सुख ही होता है। इसीलिए सभी भावों का ज्ञान रसास्वादनवेला में सुख-

जनक ही होता है।[1]

वस्तुतः रसास्वादवेला में प्रधानतया आनन्दघन आत्मा का ही ज्ञान होता है। शोकादिभाव उस अवस्था में गौण रहते हैं। उस आनन्द में विचित्रतामात्र *शोकादि भाव करते हैं। अतः सब रस आनन्दरूप ही हैं।* क्योंकि सभी में प्रधानतया आनन्दघन आत्मा का ही आस्वाद होता है।[2]

इस मत में भरतसूत्रस्थ संयोग पद का व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध तथा निष्पत्ति पद का अभिव्यक्ति अर्थ है। आस्वादन द्वारा रसरूपता को प्राप्त होने *वाला रतिस्वरूप साधारणरूप से उपस्थापित, सकलसहृदयसंवादसिद्ध रत्यादि व्यंग्य* हैं और साधारणीकृत अत एव देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धरहित विभावादि व्यंजक हैं। *यह व्याख्या प्रत्यभिज्ञादर्शनानुसारिणी व अद्वैतवेदान्तमतानुसारिणी है। अर्थात्* जिस प्रकार प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार आत्मा (जीव) यद्यपि आनन्दरूप है अत एव महेश्वर से अभिन्न है, तथापि उसका वह स्वरूप माया के कारण अज्ञान से तिरोहित रहता है और विद्या के द्वारा उसके उस महेश्वरस्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। जैसा कि आगमाधिकार में बतलाया गया है—

> एवं प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।
> विद्याभिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते॥
> मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते।
> महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदकः॥

इसी प्रकार वेदान्त दर्शन के अनुसार जीव का स्वरूप सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म ही है। किन्तु उसका वह स्वरूप संसारदशा में माया या अज्ञान के कारण तिरोहित रहता है और ज्ञान के द्वारा अज्ञान का नाश होने पर उस वास्तविक स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। अभिनवगुप्त के रससिद्धान्त की भी यही स्थिति है। उनके मत में सहृदयों के हृदय में संस्काररूप से स्थायिभाव विद्यमान हैं किन्तु वे अनुद्बुद्ध व व्यक्तिविशेष से सम्बन्धित हैं। देशकालव्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध से रहित अत एव साधारणीकृत विभावों की चर्वणा सहृदयों के द्वारा होती है न कि देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धयुक्तों की। अतः साधारणीकृत विभावादि से जब इनकी अभिव्यक्ति होती है तब अपने वास्तविक स्वरूप अर्थात् देशकालव्यक्ति-विशेषसम्बन्धरहित साधारणीकृतरूप में ही होती है। इसी अभिप्राय से इसे अभिव्यक्ति-वाद कहा जाता है। किन्तु अभिनवगुप्त ने यह भी बतलाया है कि इस साधारणीकृत

---

१. तत्र सर्वेऽमी सुखप्रधानाः। स्वसंविच्चर्वणारूपस्यैकघनस्य प्रकाशस्यानन्दसारत्वात्। तथा हि एकघनशोकसंविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य हृदयविश्रान्तिः, अन्तरायशून्य-विश्रान्तिशरीरत्वात् सुखस्य। —अ. भा. पृ. २९२

२. अस्मन्मते संवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का। केवलं तस्यैव चित्रताकरणे रतिशोकादिवासनाव्यापारः। तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापारः। —अ. भा. पृ. २९२

रति का प्रमाता जब आस्वादन करता है तब वह आस्वाद्यमान रति रस कहलाती है। वह आस्वादन व्यापार रसना, चर्वणा आदि शब्दों से व्यवहृत हुआ है। किन्तु यह चर्वणा भी व्यंजनाव्यापाररूप ही है न कि ज्ञापनरूप। क्योंकि ज्ञप्ति द्वारा बोधित वस्तु की सत्ता पहले से सिद्ध होती है और रस की सत्ता पूर्वसिद्ध नहीं है। इसीलिए रस को ज्ञाप्य नहीं माना जाता किन्तु व्यंग्य माना जाता है। इस अभिप्राय से भी *अभिव्यक्तिवाद का सम्बन्ध* इस मत से है। यद्यपि 'विभावादिभिर्व्यञ्जितश्चर्वणीयः रस'[1] इत्यादि उक्तियों से अभिव्यक्ति के बाद स्थायी की चर्वणा होती है और वह चर्वणा व्यंजना से भिन्न व्यापार है ऐसा प्रतीत होता है किन्तु वस्तुतः वह चर्वणा भी व्यंजना से भिन्न नहीं है। अपितु व्यंजनारूप है। लोचन में इस अर्थ का स्पष्टीकरण हुआ है।[2]

इन चारों मतों में क्रमिक विकास होने से परस्पर सोपानभाव है न कि परस्पर विरोध। आचार्य भरत ने 'नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनस प्रेक्षका।'[3] इस उक्ति के द्वारा विभावादि से अभिव्यक्त स्थायिभाव की रसरूपता बतलाई थी। वहां रसरूप में परिणत होने वाले स्थायिभाव का वास्तविक स्वरूप क्या है और किसमें रहने वाला स्थायिभाव रस बनता है, इसी की क्रमिक व्याख्या इन चारों मतों में हुई है।

भट्टलोल्लट ने उस स्थायिभाव को ही रस माना है जो कि लौकिक है। साथ ही उस स्थायिभाव को विषयनिष्ठ माना न कि विषयिनिष्ठ। अर्थात् जो स्थायिभाव रस बनता है वह सहृदय में रहने वाला नहीं है किन्तु सहृदय से भिन्न अनुकार्य रामादि में मुख्यवृत्ति से तथा आरोपरूप गौणी वृत्ति से अनुकर्ता नटादि में रहने वाला है। अर्थात् प्रधानतया रत्यादि स्थायीभाव की सत्ता अनुकार्य रामादि में ही है न कि अनुकर्ता नटादि में। राम के समान आंगिक, वाचिक, सात्त्विक, व आहार्य अभिनयों के कारण सहृदय प्रेक्षक उन रत्यादि का नट में आरोप करके उनके ज्ञान से आनन्दानुभूति कर लेता है।

शंकुक इनसे कुछ आगे बढ़े। उन्होंने यद्यपि लौकिक रत्यादि स्थायिभाव को ही रस माना, किन्तु अनुकार्य रामादि में रहनेवाले स्थायिभाव को नहीं। अपितु नट के द्वारा काव्यानुसन्धान तथा शिक्षा के बल से कुशलतापूर्वक प्रदर्शित विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भावों से, रामत्वेन अभिमत नट में सहृदयों द्वारा, अनुमित रतिभाव को रस माना है। यह अनुमीयमान स्थायिभाव अनुकर्तृस्थ है जो कि

---

१. काव्यप्रकाश, ४ उल्लास, पृ. ११०

२. (क) तत्र चर्वणाया अभिव्यञ्जनमेव न तु ज्ञापनं प्रमाणव्यापारवत्। —लोचन, पृ ११०

(ख) तेन प्रतीतिस्तावद्रसस्य सिद्धा। सा च रसनारूपा प्रतीतिरुत्पद्यते। वाच्यवाचकयोस्तत्राभिधादिविविक्तो व्यञ्जनात्मा ध्वननव्यापार एव। भोगीकरणव्यापारश्च काव्यस्य रसविषयो ध्वननात्मैव। नान्यत् किञ्चित्। —लोचन, पृ. १८८

३. ना शा., षष्ठ अध्याय पृ. २८१

अनुकार्यगत स्थायिभाव का अनुकरण है। इस मत मे भट्टलोल्लट के मत से निम्नलिखित वैशिष्ट्य है—

(१) *भट्टलोल्लट अनुकार्यगत स्थायिभाव को रस मानता है और शकुक अनुकर्तृगत अनुमीयमान स्थायिभाव को या स्थायिभाव के अनुकरण का।*

(२) भट्टलोल्लट व्यभिचारिभावो से उपचिति के कारण स्थायिभाव को रस मानते हैं और शकुक अनुकरणरूप होने से स्थायिभाव को रससज्ञा से अभिहित करते हैं।

(३) भट्टलोल्लट नट मे अनुकार्यगत मूल रस का आरोप मानते हैं तथा शंकुक अनुकार्यगत स्थायिभाव की अनुकर्ता मे अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभावादि से अनुमिति मानते हैं।

(४) भट्टलोल्लट उपचित होकर रस बनने वाले स्थायिभाव की उत्पत्ति मानते हैं और शकुक उसकी अनुमिति मानते हैं।

(५) भट्टलोल्लट जिसमे रस मानते हैं उस अनुकार्य मे रस की सत्ता वास्तविक है जबकि शकुक जिस नट मे रस की स्थिति मानते हैं उसमे उसकी वास्तविक सत्ता नही है।

(६) दोनो ही मतो मे रस का ज्ञान सहृदयों को लौकिक प्रमाणो से ही होता है न कि अलौकिक स्वसंवेदन से। भट्टलोल्लट के मत मे ज्ञानलक्षणा प्रत्यासत्ति के द्वारा नट मे आरोपित रति का ज्ञान सामाजिकों को होता है और शकुक के मत मे अनुमिति प्रमाण के द्वारा।

किन्तु दोनो ही मतो मे रस अभी तक विषयगत है और लौकिक धरातल से ऊपर नही उठा है।

इन दोनो मतो मे रसशब्द 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति से रतिभाव का बोधक है। किन्तु सहृदयों को नट मे उस रति का ज्ञानलक्षणरूप अलौकिक सनिकर्ष से या अनुमान प्रमाण से ज्ञान होता है तब उनको आनन्द की अनुभूति होती है। अतः आनन्दजनकता के कारण वह रति रस कहलाती है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण 'सीताविषयिणी अनुरागरूपा रतिरविद्यमानापि नटके नाट्यनैपुण्येन तस्मिन् स्थितेव *प्रतीयमाना सहृदयहृदये चमत्कारमर्पयन्त्येव रसपदवीमधिरोहति*' वामन झलकीकर की इस उक्ति से हो जाता है।[1]

शकुक के मत में नट मे अनुमीयमान रति सामाजिको के ज्ञानरूप आस्वाद का विषय बनकर उनमे आनन्दरूप चमत्कार उत्पन्न करने के कारण रस

---

१. काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका पृ. ८८

कहलाती है ।[1]

भट्टनायक के भुक्तिवाद में रस लौकिक स्तर से ऊपर उठ चुका है। उन्होंने देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्ध से युक्त लौकिक रति को ही रस नहीं माना है। अपितु देशकालादि से विनिर्मुक्त साधारणीकृत अतएव अलौकिक रति को रस स्वीकार किया है। वे उसका आस्वादनरूप ज्ञान किसी लौकिक प्रमाण से नहीं मानते हैं अपितु भोगरूप प्रकाशानन्दमय संविद्विश्रान्ति द्वारा मानते हैं जो कि वस्तुत स्वानुभूति या स्वसंवेदनरूप ही है। लौकिक स्थायिभाव को लोकोत्तर बनाने के लिए भट्टनायक ने काव्यशब्दों में भावकत्वनामक अपूर्व व्यापार की कल्पना की। उनके मत में भी सहृदय जिस रति का आस्वादन करते हैं वह साधारणीकृत होने पर भी सहृदय की अपनी रति नहीं है अपितु रामादि अनुकार्य की ही है। इस मत में भी रस मुख्यत विषयगत ही है न कि विषयिगत। अर्थात् यद्यपि साधारणीकृत होने से रस (स्थायिभाव) का सम्बन्ध विषय (रामादि) से हट चुका है किन्तु वस्तुत उसका सम्बन्ध विषयी (सहृदय) से अभी तक नहीं हुआ है क्योंकि वह स्थायिभाव वस्तुत सहृदय का नहीं है, अपितु रामादि का (विषयगत) ही है।

रस के विषय में अभिनवगुप्त का योगदान महत्त्वपूर्ण है। उनका योगदान निम्नलिखित है—

(१) अभिनवगुप्त ने रत्यादि स्थायिभावों का सहृदयनिष्ठ मानकर उनकी विषयिगतता का सर्वप्रथम प्रतिपादन किया। सहृदय के अपने स्थायिभाव की रसरूपता का निरूपण रससिद्धान्त को उनकी सबसे महत्त्वपूर्ण देन है।

(२) सभी दृष्टियों से रस की लोकोत्तरता (अलौकिकता) की सिद्धि रससिद्धान्त को उनकी दूसरी बड़ी देन है।

(३) उनके मत में देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्ध से रहित साधारणीकृत रत्यादि आस्वाद्यमान होने पर रस कहलाते हैं और वे स्थायी से विलक्षण हैं क्योंकि लौकिक रत्यादि ही स्थायी भाव कहलाते हैं। फिर भी 'स्थायिभावा रसत्वमाप्नुवन्ति' इत्यादि भरतवाक्यों में जो स्थायिभाव की रसरूपता बतलाई गई है वह इस अभिप्राय से है कि जो अलौकिक स्थायिविलक्षण रत्यादि भाव रस बनते हैं व लोकदृष्टि से स्थायिभाव हैं। अभिनवभारती में 'स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' इस भरतवचन की व्याख्या करते हुए इस तथ्य का स्पष्टीकरण कर दिया गया है।[2]

---

१ एतन्मतस्यापि निरूपणम् ।.... "स्त्रैणैव मुनिभिः ... स्वैरेव विभावादय' इति प्रकाशितैस्तन्मन्दैर्भावरि विभावादिभिस्तन्नियता रतिरनुभवनानाभि निजमोदवदलान्तानादिकानानास्वादनान्तरा चन्द्रास्वादने "अनामताति स्वयंनुमितिरिव रसनिष्पत्तिरिति ।

—काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका, पृ. ९०

२ तदेव नाट्ये तैर्विभावादिभिरेव प्रतीतिः प्रत्यक्षकल्पता स्व लोकप्रयत्ने ये स्फुटिता भावस्य स्थायिनतैवजीवित रसत्व तत उपपद्यते । —अभिनवभारती, पृ. २८८

(४) भरत मुनि ने लोक मे रत्यादि के कारण, कार्य एव सहकारी कारणो को ही काव्य और नाट्य मे विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारी नामो से व्यवहृत किया है।[1] किन्तु लोक मे कारणादि सज्ञाओ से व्यवहृत होने वाले तत्वो को काव्य और नाट्य मे विभावादि सज्ञाओ से क्यो व्यपदिष्ट किया गया ? इसका कारण भट्टलोल्लट आदि मे से किसी ने नही बतलाया। सर्वप्रथम अभिनव ने ही इसका उद्घाटन किया। उन्होने बताया कि रत्यादि के लौकिक कारण, कार्य व सहकारी कारण काव्य और नाट्य मे देशकालव्यक्तिविशेष के सम्बन्ध से रहित होकर अपनी लौकिकता का परित्याग कर देते हैं अत उनकी लौकिक सज्ञाओ का परित्याग भी आवश्यक हो गया। साथ ही देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धसहित लौकिक कारणो, कार्यो व सहकारियो मे सामाजिक के रत्यादि भाव का उद्बोधन करने की क्षमता नही थी जो कि अब उनके साधारणीकृत अलौकिक रूप में उपस्थित होने पर हो गई है। अत उनको अब विभावन, अनुभावन एव व्यभिचारण व्यापार के कारण विभावादि शब्दो से व्यपदिष्ट किया गया है।

(५) विभावादि के साधारणीकरण के लिए भावकत्व व्यापार की आवश्यकता का निराकरण करते हुए दोषाभावगुणालकारयुक्त शब्दार्थ द्वारा विभावादि की चमत्कारपूर्ण उपस्थिति होने से भावनारूप मानस साक्षात्कार के द्वारा ही साधारणीकरण की दिशा अभिनवगुप्त ने निर्देशित की है।

(६) रसास्वादनकाल मे प्रमाता मे भी 'मैं ही रस का आस्वादकर्ता हू' इस परिमित अर्थात् नियत प्रमातृभाव का निराकरण होकर स्वपरसम्बन्धरहित अपरिमित (अनियत) प्रमातृत्व निष्पन्न हो जाता है और साधारणीकरण भी सीमित न होकर व्यापक है, इस बात का निर्देश भी सर्वप्रथम अभिनवगुप्त ने ही किया।

(७) रसास्वादन के लिए विशिष्ट योग्यता वाला अधिकारी अपेक्षित है जिसमे कि काव्य के निरन्तर परिशीलन के अभ्यास से अन्त करण की शुद्धि होकर वर्णनीय वस्तु मे तन्मयीभवन की योग्यता हो।

इस प्रकार उक्त चारो मतो मे रस के वास्तविक स्वरूप का निरूपण करने मे परस्पर पूर्वापरसोपानरूप क्रम है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण स्वयं अभिनवगुप्त ने अपने मत का प्रतिपादन करने से पूर्व कर दिया है। उन्होंने स्पष्ट शब्दो मे कहा है कि पूर्वसोपानरूप पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तो को आधार मानकर तथा उन्हीं मे कुछ सशोधन कर रस का स्वरूप मैं बतला रहा हूँ। वे पूर्वाचार्यो के सिद्धान्तो के प्रति अपनी इस आस्था को कृतज्ञता के साथ प्रकाशित करते हैं कि मैंने उन्ही सोपानभूत पूर्वाचार्यों के सिद्धान्तो पर अपना रस-सिद्धान्तरूपी प्रासाद प्रतिष्ठित किया है।

---

१. कारणान्यथ कार्याणि सहकारीणि यानि च।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययो ॥
विभावा अनुभावास्तत्कथ्यन्ते व्यभिचारिण । —का. प्र. ४ उल्लास, पृ ९९

मैंने जो उनके मत में दोष प्रदर्शित किये हैं वे उन मतों के खण्डनरूप में नहीं है अपितु संशोधन के रूप में हैं। रस-सिद्धान्त की स्थापना में वे स्वयं क्रमिक संविद्‌विकास मानते हैं। वे कहते हैं कि क्रमिक संविद्‌विकास जब आम्नायसिद्ध है तब रस के अज्ञातज्ञापकत्वरूप अपूर्वत्वरूप की कल्पना निरर्थक है। जैसे—

'आम्नायसिद्धे किमपूर्वमेतत् संविद्विकासेऽधिगतागमित्वम्।
इत्थं स्वयंसिद्धमहार्हहेतुद्वन्द्वेन किं दूषयिता न लोकः॥
ऊर्ध्वोर्ध्वमारुह्य यदर्थतत्त्वं धीः पश्यति श्रान्तिमवेदयन्ती।
फलं तदाद्यैः परिकल्पितानां विवेकसोपानपरम्पराणाम्॥
चित्रं निरालम्बनमेव मन्ये प्रमेयसिद्धौ प्रथमावतारम्।
तन्मार्गलाभे सति सेतुबन्धपुरप्रतिष्ठादि न विस्मयाय॥
तस्मात्सतामत्र न दूषितानि मतानि तान्येव तु शोधितानि।
पूर्वप्रतिष्ठापितयोजनासु मूलप्रतिष्ठाफलमामनन्ति'[1]॥

क्रमिक संविद्‌विकास के शास्त्रसिद्ध या परम्परासिद्ध होने पर अज्ञातज्ञापकत्वरूप अपूर्वत्व की सम्भावना सम्भव नहीं। अन्यथा क्रमिक संविद्‌विकास तथा अपूर्वत्वरूप दोनों स्वयंसिद्ध हेतुओं का परस्पर विरोध उपस्थित होगा।

श्रम का अनुभव न करते हुए उत्तरोत्तर आगे बढ़ती हुई बुद्धि जिस वस्तुतत्त्व का साक्षात्कार करती है वह साक्षात्कार पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित विवेकसोपानपरम्पराओं का ही फल है। अर्थात् पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों के आधार पर ही आगे बढ़कर वह उस अर्थतत्त्व का साक्षात्कार कर सकी है। प्रमेय वस्तु को सिद्ध करने के लिए निराश्रय अर्थात् पूर्वावलम्बनरहित प्रथमसोपानरूप पूर्वसिद्धान्त का प्रतिपादन ही आश्चर्य की बात है। उस पूर्व-सिद्धान्तरूपी सोपान के होने पर उस आधार पर उत्तरवर्ती सिद्धान्तों की स्थापना कोई आश्चर्य की बात नहीं। जैसे आधारभूत वस्तु के होने पर सेतुबन्धन व नगरनिर्माण आदि में कोई विस्मय की बात नहीं होती। इसलिए रस के विषय में मेरे सिद्धान्त के प्रतिष्ठाभूत भट्टलोल्लट आदि पूर्वाचार्यों के मतों का मैंने प्रत्याख्यान नहीं किया है किन्तु उनका संशोधनमात्र किया है। क्योंकि पूर्वाचार्यों द्वारा प्रतिष्ठापित सिद्धान्तों की संगति बैठाने में भी मौलिक सिद्धान्त की स्थापना का फल प्राप्त होता है, ऐसा विद्वान् मानते हैं।

इसी के बाद ही अभिनव ने क्रमिक संविद्‌विकाससिद्ध अत एव परिशुद्ध रसस्वरूप का विवेचन किया है। जिस का निरूपण किया जा चुका है।

रसभावनावादी धनंजय और धनिक

अभिनवगुप्त के बाद दशरूपककार धनंजय तथा उसके टीकाकार धनिक ने दशरूपक के चतुर्थ प्रकाश में रस-सम्बन्धी विचार प्रस्तुत किये हैं। उनके अनुसार

1 अ भा पृ २७८

काव्यशब्दो द्वारा अभिधा से ही रस की प्रतीति होती है, क्योंकि अभिधा आपाततः प्रतीयमान वाच्यार्थ को ही नहीं बतलाती अपितु "यत्पर शब्द. स शब्दार्थ" शब्द का जिस अर्थ मे तात्पर्य होता है वही शब्दार्थ अभिधा का विषय होता है, इस न्याय के अनुसार रस को भी अभिधा का विषय तात्पर्यवृत्ति से उन्होंने माना है। अत जिस प्रकार "गाम् आनय" इत्यादि वाक्यो मे शब्द द्वारा बोधित तथा 'द्वार द्वारम्' इत्यादि मे प्रकरण द्वारा प्रतीयमान क्रिया ही कारको से युक्त होकर लौकिक वाक्यो का अर्थ होती है, इसी प्रकार "प्रीत्यै नवोढा प्रिया" इत्यादि मे प्रीत्यादि शब्दो द्वारा वाच्य एव 'यः कौमारहर स एव हि वर' इत्यादि मे विभावादि से प्रतीयमान रत्यादि स्थायिभाव ही विभावादि से ससृष्ट होकर काव्यशब्दो के अर्थ होते हैं।[1] ये रत्यादि भाव जब काव्योपात्त शब्दो या अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभावादि से आस्वाद्य बनते हैं तब रस-सज्ञा से व्यहृत होते हैं।[2]

यहाँ दशरूपक के व्याख्याकार धनिक ने एक प्रश्न उठा कर उसका समाधान प्रस्तुत कर रस को काव्यशब्दो का अर्थ सिद्ध किया है। धनिक ने कहा है कि 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' तथा 'य कौमारहरः स एव हि वर' इत्यादि काव्यवाक्यो मे शृङ्गार रस का वाचक कोई भी पद नही है। अत रस जब पदार्थ नही तब वह वाक्यार्थ कैसे हो सकता है, क्योंकि पदार्थसमूह ही तो वाक्यार्थ होता है। इसलिए रस को काव्यवाक्यो का अर्थ नहीं माना जा सकता। यह प्रश्न उपस्थित कर उसका समाधान किया है कि यद्यपि रस किसी पद का अर्थ नहीं है तथापि काव्य-शब्दो का तात्पर्य रस मे ही है। अतः काव्यशब्द तात्पर्यवृत्ति से अपदार्थरूप रस का भी बोधन करते हैं।[3] जैसे पदो का अर्थ लाघवात् पदार्थमात्र ही है क्योंकि वे अभिधा व्यापार से पदार्थों को ही बतलाते हैं न कि वाक्यार्थ को। फिर भी प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप प्रयोजन से रहित होने से उन पदो का तात्पर्य पदार्थमात्र मे नही। अपितु प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधक वाक्यार्थ मे ही है। जैसा कि कुमारिल भट्ट ने कहा है —

---

१ वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया।
वाक्यार्थ कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरै ॥ —दशरूपक, ४ प्रकाश, ३७ वा

यथा लौकिकवाक्येषु श्रूयमाणक्रियेषु 'गामभ्याज' इत्यादिषु अश्रूयमाणक्रियेषु च 'द्वार द्वारम्' इत्यादिषु स्वशब्दोपादानात् प्रकरणादिवशाद् बुद्धिसनिवेशिनी क्रियैव कारकोपचिता वाक्यार्थस्तथा काव्येष्वपि क्वचित् स्वशब्दोपादानात् 'प्रीत्यै नवोढा प्रिया' इत्येवमादौ क्वचिच्च प्रकरणादिवशान्नियताभिहितविभावाद्यविनाभावाद्वा साक्षाद् भावकचेतसि विपरिवर्त-मानो रत्यादि स्थायी स्वस्वविभावानुभावव्यभिचारिभिस्तत्तच्छब्दोपनीतै संस्कारपरम्परया परां प्रौढिमानीयमानो रत्यादिर्वाक्यार्थ। —अवलोक टीका, पृ २४६-२४७

२. विभावैरनुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभि।
आनीयमान स्वाद्यत्व स्थायी भावो रस स्मृत। ॥ —द रू च प्र. १ का

३ यद्यप्यपदार्थस्य वाक्यार्थत्व नास्ति, इति वाच्यम्, कार्यपर्यवसायित्वात्तात्पर्यशक्ते।
—दशरूपक, अवलोकटीका, पृ २४७

न विमुञ्चन्ति सामर्थ्यं वाक्यार्थेऽपि पदानि नः ।
वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति च स्थितिः ॥

साक्षाद् यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम् ।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले ॥

वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्त्या नान्तरीयकम् ।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम् ॥

तात्पर्य यह है कि पद यद्यपि साक्षात् पदार्थ का ही बोध कराते हैं। किन्तु पदार्थों के द्वारा प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप फल सिद्ध न होने से पदों का पर्यवसान पदार्थ में नहीं है, किन्तु प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप फल के बोधक वाक्यार्थ में ही है। जिस प्रकार काष्ठों का फल पाकक्रिया है फिर भी पाकक्रिया ज्वाला के बिना निष्पन्न नहीं होती। अतः नान्तरीयक होने से ज्वाला भी काष्ठों का कार्य है। उसी प्रकार पदों का कार्य प्रवृत्तिनिवृत्तिबोधक वाक्यार्थ का बोधन है किन्तु पदार्थ का बोधन किये बिना वे वाक्यार्थ का बोधन नहीं करा सकते। अतः नान्तरीयक पदार्थ का प्रतिपादन भी पद करते हैं।

तात्पर्य यह है कि जैसे मीमांसादर्शन में पौरुषेय लौकिक वाक्य तथा अपौरुषेय वेदवाक्य सभी प्रवृत्तिनिवृत्तिरूप कार्य के बोधक हैं। अन्यथा प्रवृत्ति या निवृत्तिरूप कार्य के बोधक न होने से वे उन्मत्त वाक्य की तरह अनुपादेय हो जायेंगे।[1] उसी प्रकार प्रतिपादक विभावादि तथा प्रतिपाद्य स्थायिभाव या रस के बोधक काव्यशब्दों का प्रयोजन सहृदयों को निरतिशय सुख की अनुभूति कराने के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतः निरतिशयानन्दोद्भूति ही उन का प्रयोजन या कार्य माना गया है।[2] यह प्रयोजन ही वक्ता के तात्पर्य का विषय है। अतः 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' अर्थात् वक्ता का तात्पर्य जिस अर्थ को बोधित करने में है वही शब्द का अर्थ होता है। इस न्याय से निरतिशयानन्दास्वाद ही काव्यशब्दों का तात्पर्यशक्ति द्वारा बोधित अर्थ है। इसीलिये तात्पर्य से ही निरतिशयसुखास्वादरूप अर्थ की प्रतीति हो जाने पर तत्प्रतीत्यर्थ ध्वनिकारादि द्वारा प्रतिपादित व्यञ्जनावृत्ति की क्या आवश्यकता है? क्योंकि शब्दों द्वारा अश्रुत अर्थ में भी तात्पर्य अन्योक्ति (अप्रस्तुतप्रशंसा) स्थलों में देखा जाता है।[3]

---

१. यथा हि पौरुषेयमपौरुषेयं वा वाक्यं सर्वं कार्यपरम्-अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत् ।
—दशरूपकावलोक, पृ. २४७

२. काव्यशब्दानां चान्वयव्यतिरेकाभ्यां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्तिविषययोः प्रयोजनान्तरानुपलब्धेः स्वानन्दोद्भूतिरेव कार्यत्वेनावधार्यते ।
—वही, पृ. २४७-२४८

३. तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।
किमुक्तं स्यादश्रुतार्थतात्पर्येऽन्योक्तिरूपिणि ॥ —वही, पृ. २४९

अतः काव्यशब्दों का तात्पर्य वाक्यार्थ मे ही है, वाक्यार्थप्रतीति के अनन्तर प्रतीत होने वाले रसादि व्यंग्य मे नही है, यह कथन सङ्गत नही है। क्योंकि तात्पर्य कोई तुला पर तोली हुई वस्तु नही है कि वाक्यार्थ को ही तात्पर्य बोधन कर सकता है व्यंग्यार्थ को नहीं। और न यह माना जा सकता है कि वाक्यार्थबोधन के बाद तात्पर्य की विश्रान्ति हो गई है। और विश्रान्त होने के बाद तात्पर्यव्यापार 'शब्द-बुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभावः' अर्थात् शब्द, बुद्धि व कर्म का व्यापार एक अर्थ को बतला कर विरत हो जाने पर फिर अन्य अर्थ को बतलाने मे समर्थ नहीं है। अतः वाक्यार्थ का बोधन कर विश्रान्त तात्पर्यव्यापार रसादि व्यग्य का बोध नहीं करा सकता। क्योंकि 'वक्तुरिच्छा तु तात्पर्यं परिकीर्तितम्'[1] इस तात्पर्यलक्षण के अनुसार तात्पर्य वक्ता की इच्छारूप है। और वक्ता की इच्छा तब तक विश्रान्त नही मानी जा सकती जब तक कि वक्ता के अभिप्रेत अर्थ की प्रतीति न हो जाय।

इसीलिए 'भ्रम धार्मिक विश्रब्धम्' इत्यादि गाथा मे भी वक्त्री कुलटा की इच्छा सकेतस्थान पर धार्मिक के भ्रमणनिषेधअर्थ मे ही है न कि भ्रमणविधिरूप वाक्यार्थ मे। अत जब तक भ्रमणनिषेधरूप अर्थ की प्रतीति नही होती तब तक तात्पर्यवृत्ति की विश्रान्ति नही होती। इस प्रकार वहाँ भी तात्पर्यवृत्ति से भ्रमण-निषेध अर्थ की प्रतीति हो जाने से तदर्थ व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता नही है।

काव्यनिर्णय में निम्नाङ्कित कारिकाओ मे इसी अर्थ की अभिव्यक्ति है —

ध्वनिश्चेत् स्वार्थविश्रान्तं वाक्यमर्थान्तराश्रयम्।
तत्परत्वं त्वविश्रान्तौ तच्च विश्रान्त्यसम्भवात्॥
एतावत्येव विश्रान्तिस्तात्पर्यस्येति किं कृतम्।
यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम्॥
भ्रम धार्मिक विश्रब्धमिति भ्रमिकृतास्पदम्।
निर्व्यावृत्ति कथं वाक्यं निषेधमुपसर्पति॥
प्रतिपाद्यस्य विश्रान्तिरपेक्षापूरणाद्यदि।
वक्तुर्विवक्षिताप्राप्तेरविश्रान्तिर्न वा कथम्॥
पौरुषेयस्य वाक्यस्य विवक्षापरतन्त्रता।
वक्त्रभिप्रेततात्पर्यमतः काव्यस्य युज्यते[2]॥

अर्थ—तात्पर्यशक्ति वाक्यार्थ का बोधन कर विश्रान्त हो चुकी है। अतः वाक्यार्थप्रतीति के अनन्तर प्रतीत होने वाले रसादिरूप व्यग्यार्थ की प्रतीति नही करा सकती। अतः व्यग्यार्थबोधन के लिए व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता है। व्यञ्जनावादी ध्वनिकारादि के इस पूर्वपक्ष का निराकरण करते हुए तात्पर्यवादी ने कहा है कि जब तक वक्ता के अभिप्रेत प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती तब

१. (क)—न्यायसिद्धान्तमुक्तावली शब्दखण्ड
(ख) वक्तेर्विवक्षितार्थो यस्तत्तात्पर्यमुदाहृतम्। भावप्रकाशन ६ अधिकार
२. —दशरूपकावलोक, पृ. २५०-२५१

तक तात्पर्य की विश्रान्ति नहीं हो सकती, क्योंकि तात्पर्य कोई तुलाधृत वस्तु नहीं है कि वाक्यार्थ का ही वह बोधन करे और व्यङ्ग्यार्थ का न करे।

'भ्रम धार्मिक विस्रब्धम्' इत्यादि गाथा में भ्रमणविधिरूप वाक्यार्थ को बतलाकर ही तात्पर्यशक्ति की विश्रान्ति नहीं है, किन्तु तदनन्तर प्रतीयमान भ्रमणनिषेध अर्थ का बोधन करने के बाद ही विश्रान्ति होती है। यदि यह कहा जाय कि धार्मिक की भ्रमणविधि से ही जब वाक्यार्थ उपपन्न हो जाता है तथा वाक्यार्थपूर्ति के लिए अन्य किसी अर्थ की अपेक्षा नहीं तब भ्रमणादिविधिरूप अर्थ में तात्पर्य की विश्रान्ति क्यों नहीं मानी जाय? किन्तु व्यञ्जनावादी पूर्वपक्षी का यह कथन उचित नहीं क्योंकि वक्ता के विवक्षित अर्थ की जब तक प्रतीति नहीं हो जाती तब तक तात्पर्य की विश्रान्ति नहीं मानी जा सकती। 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि गाथा को कहने वाली पुंश्चली (कुलटा) है। वह अपने संकेत गोदावरी नदी के जलप्राय कुञ्ज में धार्मिक का भ्रमण पसन्द नहीं करती। अतः उसका विवक्षित अर्थ संकेतस्थान पर धार्मिक के भ्रमण का निषेध है न कि भ्रमण। अतः जब तक उस भ्रमणनिषेध अर्थ की प्रतीति नहीं हो जाती तब तक वाक्यार्थ की उपपत्ति न होने से तात्पर्य की विरति नहीं मानी जा सकती। अतः उपर्युक्त गाथा में ध्वनिवादियों द्वारा बोधित भ्रमणनिषेध व्यङ्ग्य अर्थ की तात्पर्य द्वारा प्रतीति हो जाने से उस की प्रतीति के लिए व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता नहीं है। जिस प्रकार लौकिक पौरुषेय वाक्यों में वाक्यार्थ वक्ता की विवक्षा के अधीन है और वक्ता की इच्छा ही तात्पर्य है। इस लिए वक्ता के विवक्षित अर्थ की प्रतीति तात्पर्यशक्ति से हो जाती है। उसी प्रकार काव्यवाक्यों में भी कवि का तात्पर्य सहृदयों को निरतिशय सुख का आस्वाद कराना है, अतः उसी अर्थ की प्रतीति के बाद ही तात्पर्य की विश्रान्ति मानी जा सकती है पूर्व नहीं। इस प्रकार तात्पर्य से रसादि व्यंग्यार्थ की प्रतीति हो जाने से तदर्थ व्यञ्जनावृत्ति की आवश्यकता नहीं है।

धनञ्जय और धनिक के अनुसार विभावादि का तथा रसपदबोध्य रत्यादि का उत्पाद्य-उत्पादकभाव, गम्यगमकभाव, भोज्यभोजकभाव या व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध नहीं है अपितु भाव्यभावकभाव सम्बन्ध है। उनकी मान्यता है कि काव्य-शब्द रस के भावक होते हैं। 'काव्यार्थाः रसान् भावयन्ति' यह उक्ति उनकी मान्यता का मूल आधार है। रस सहृदय में अपने आप निष्पन्न होता हुआ विशिष्ट विभावादियुक्त काव्य के द्वारा सहृदय के चित्त में भावित किया जाता है।[1] यद्यपि अन्य शास्त्रीयशब्दों तथा लौकिकशब्दों एवं उनके अर्थों में जब कहीं भी भाव्य-भावकसम्बन्ध नहीं माना जाता तब काव्यशब्दों व उनके अर्थों में नवीन सम्बन्ध को मानने का क्या आधार है? यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान धनिक

१. यतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावः। किं तर्हि? भाव्यभावकसम्बन्धः। काव्यं हि भावकं, भाव्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विशिष्टविभावादिमता काव्येन भाव्यन्ते।—दशरूपकावलोक, पृ २५१, २५२

ने यह दिया है कि भावनाक्रियावादी मीमांसकों ने यह सम्बन्ध माना है। जैसे 'स्वर्गकामो यजेत' इस वाक्य में यागक्रिया भावक तथा स्वर्ग भाव्य है; इसी प्रकार उपर्युक्त वाक्य में ही लिङ् का अर्थ शाब्दी भावना भावक है तथा पुरुष-प्रवृत्तिरूप आर्थी भावना भाव्य है।[1] अतः यह किसी नवीन सम्बन्ध की कल्पना नहीं है। और यदि आवश्यकतावश अन्वय-व्यतिरेक द्वारा यहाँ नवीन सम्बन्ध भी माना जाय तो क्या अनौचित्य है?[2]

लोक में कटाक्षभुजाक्षेप आदि तथा लज्जादि के साथ, स्त्रीपुरुषों में, रति का अविनाभावसम्बन्ध नियमेन देखा जाता है। अतः काव्य में भी रत्यादि की कार्यभूत चेष्टाओं के प्रतिपादक शब्दश्रवण से सहृदयों को उनसे (रत्यादिकार्यभूत चेष्टाओं से) अविनाभूत रत्यादि की प्रतीति नियम से होती है। इसीलिए सीतादि पदों का स्थायी रत्यादि में संकेतग्रह न होने से रत्यादि का ज्ञान नहीं बनेगा, यह कथन भी निस्सार है।[3] क्योंकि अभिधेय से अविनाभूत अर्थ की प्रतीति लक्षणा है। अतः लक्षणा से रत्यादि की प्रतीति उपपन्न है।

धनंजय और धनिक भी अभिनवगुप्त की तरह रस को विभावादि तथा रत्यादि से मिश्रित आत्मानन्दरूप ही मानते हैं।[4] धनिक ने कहा है कि विभावादि-संसृष्ट स्थायी के साथ सहृदय के चित्त का परस्पर सम्मिलन होने से स्वपरविभाग के नष्ट हो जाने पर जो प्रबलतर आत्मानन्द का उद्भव होता है वही स्वाद अर्थात् रस है।[5]

धनंजय और धनिक भी विभावादि का साधारणीकरण मानते हैं और उसी के द्वारा सहृदय की रसोद्भूति में सीतादि विभावों की उद्बोधनक्षमता

---

१. लिङोऽभिधा सैव च शब्दभावना भाव्या च तस्यां पुरुषप्रवृत्तिः ।
   लिङ्र्थबोध करण तदीय प्ररोचना चाङ्गतयोपयुज्यते ॥ —अर्थसंग्रहटीका

२. न चान्यत्र शब्दान्तरेषु भाव्यभावकलक्षणसम्बन्धाभावात् काव्यशब्देष्वपि तथा भाव्यमिति वाच्यम्। भावनाक्रियावादिभिस्तथाङ्गीकारात्। किं च मा चान्यत्र तथा, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामिह तथावगमात्। तदुक्तम्—
   भावाभिनयसम्बद्धाद् भावयन्ति रसानिमान्।
   यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभिः ॥ —दशरूपक प्र ४, पृ. २५२-२५३

३. अथ पुनरगृहीतसम्बन्धेभ्यः पदेभ्यः स्थाय्यादिप्रतिपत्तिरिति चेत् लोके तथाविधचेष्टायुक्तस्त्रीपुंसादिषु रत्याद्यविनाभावदर्शनादिहापि तथोपनिबन्धे सति रत्याद्यविनाभूतचेष्टादिप्रतिपादकशब्दश्रवणादभिधेयाविनाभावेन लाक्षणिकी रत्यादिप्रतीतिः।
   —दशरूपक, च. प्र. ४, पृ. २५३

४. स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः । —दशरूपक, ४ प्रकाश, कारिका ४३

५. काव्यार्थेन विभावादिसंसृष्टस्थाय्यात्मकेन भावकचेतसः सम्भेदे अन्योन्यसंवलने प्रत्यस्त-मितस्वपरविभागे सति प्रबलतरस्वानन्दोद्भूतिः स स्वादः ।
   —दशरूपक-अवलोक, पृ. २५८

स्वीकार करते हैं।[1] रामादि का वे काव्य तथा नाट्य में निबन्धन इतिहासादि की तरह वास्तविकरूप में नहीं मानते हैं अपितु कवि या नट रामादि को सर्वसाधारणोपयोगी धीरोदात्तादि अवस्थाओं का प्रतिपादन करने के लिए उनका कोई आश्रय चाहते हैं। उसी आश्रय के रूप में उनका चित्रण वे स्वीकार करते हैं। अतः धनञ्जय व धनिक के अनुसार काव्य व नाट्य में निबध्यमान रामादि लोकसाधारणोपयोगी धीरोदात्तादि अवस्थाओं के प्रतिपादक हैं।[2]

अभिनवगुप्त की तरह धनंजय व धनिक भी काव्य व नाट्य में निबद्ध विभावादि से उद्‌बुद्ध सहृदयगत स्थायिभाव का ही आस्वादन मानते हैं। अर्थात् काव्य व नाट्य में चित्रित व अभिनीत अर्जुनादि पात्रों में उत्साह देख कर उन के द्वारा सहृदय अपने ही स्थायिभाव का आस्वादन कर आनन्द प्राप्त करते हैं जैसे बालक मिट्टी के हाथी से खेलते हुए उन अवास्तविक मृण्मय हाथी आदि के उत्साह में अपने ही उत्साह का आस्वादन कर आनंदित होते हैं। उसी तरह काव्य के श्रोता काव्य में वर्णित अर्जुन आदि पात्रों द्वारा प्रदर्शित उत्साह को देख कर स्वयं के उत्साह का आस्वादन करते हैं और उससे आनन्द प्राप्त करते हैं। इससे यह स्पष्ट है कि सामाजिक अपने ही उत्साह आदि भावों का आस्वादन करते हैं और आनन्दित होते हैं। अतः इनके अनुसार स्त्री आदि विभावों का उपयोग लौकिक शृंगारादि में जैसा होता है वैसा नहीं होता किन्तु उनसे भिन्न रूप में होता है।[3] अर्थात् वे लौकिक स्त्री आदि विभाव साधारणीकरण के द्वारा सामाजिकों के स्वकीय स्थायिभाव के आस्वादन में कारण होते हैं। अतः नाट्यरस लौकिक रस से विलक्षण है।

धनंजय व धनिक रस की स्थिति सहृदय में ही मानते हैं न कि रामादि अनुकार्य व नटादि अनुकर्ता में। क्योंकि रामादि अनुकार्य की स्थिति नाट्याभिनय-

---

१. ता एव च परित्यक्तविशेषा रसहेतवः ।
तत्र धीरोदात्ताद्यवस्था परित्यक्तजनकतनयादिविशेषाः स्त्रीमात्रवाचिनः किमिवानिष्टं कुर्युः ?
—दशरूपक ४ प्रकाश, ४१ का. पृ. २२६

२. धीरोदात्ताद्यवस्थानां रामादिः प्रतिपादकः ।
विभावयति रत्यादीन् स्वदन्ते रसिकस्य ते ॥
न हि कवयो योगिन इव ध्यानचक्षुषा ध्यात्वा प्रातिस्विकीं रामादीनामवस्थामितिहासादिवदुपनिबध्नन्ति, किं तर्हि ? सर्वलोकसाधारणाः स्वोत्प्रेक्षाकृतसन्निधीः धीरोदात्ताद्यवस्थाः क्वचिदाश्रयमात्रदायिनीः दधति । —दशरूपक, पृ. २२५, २२६

३. क्रीडतां मृण्मयैर्यद्वद्बालानां द्विरदादिभिः ।
स्वोत्साहः स्वदते तद्वत् श्रोतॄणामर्जुनादिभिः ॥ —दशरूपक, ४ । ४१

'एतदुक्तं भवति नात्र लौकिकशृंगारादिवत् स्त्र्यादिविभावानामुपयोगः किं तर्हि प्रतिपादितप्रकारेण लौकिकरसविलक्षणत्वं नाट्यरसानाम् ।'
—दशरूपक, अवलोक ४ प्रकाश, पृ. २२६, २२७

काल में व काव्यश्रवणकाल में नहीं है। तथा कवि द्वारा काव्य का निर्माण तथा पात्रों द्वारा नाट्य का अभिनय अनुकार्य के रसास्वादन के लिए नहीं, अपितु सहृदय के रसास्वादन के लिए होता है।

अपि च अनुकार्य रामादि में शृंगाररस मानने पर जिस प्रकार कान्ता-संयुक्त शृंगारी तरुण को देखने पर सहृदयों में स्वस्वभावानुसार लज्जा, ईर्ष्या आदि भावों का उदय होता है उसी प्रकार अभिनीयमान शृंगारी रामादि को देखने पर भी इन्हीं लज्जा आदि भावों का उदय होता है।[1]

नर्तकों में, यद्यपि अभिनयकाल में अभिनयादि में व्यस्त रहने के कारण, रसास्वाद सम्भव नहीं तथापि यदि वे भी काव्यार्थ की भावना करते हैं तो रसास्वादन के पात्र हैं। उस समय वे सहृदय की श्रेणी में प्रविष्ट हैं न कि नट की श्रेणी में।[2]

विद्वानों ने धनंजय के भाव्यभावकसम्बन्ध को भट्टनायक से गृहीत माना है और उसे भट्टनायक के सदृश ही स्वीकार किया है।[3] किन्तु चाहे यह सम्बन्ध धनंजय ने भट्टनायक से लिया हो किन्तु नायक के भाव्य-भावकसम्बन्ध की समानता इसमें नहीं है। प्रथम तो रस के सम्बन्ध में भट्टनायक ने भाव्यभावकभाव सम्बन्ध माना ही नहीं है जैसाकि उनके मत का प्रतिपादन करते हुए बतला दिया गया है। रसके विषय में भाव्यभावकभाव सम्बन्ध की यह उद्भावना डा० नगेन्द्र की है।[4] यद्यपि काव्यशब्दों तथा विभावादि में भाव्य-भावक सम्बन्ध भट्टनायक को इष्ट है तथापि रस तथा विभावादि में भाव्यभावक सम्बन्ध उन्हें कदापि अभिप्रेत नहीं है। क्योंकि

---

१. रसः स एव स्वाद्यत्वाद्रसिकस्यैव वर्तनात् ।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात् काव्यस्यातत्परत्वतः ॥
द्रष्टुः प्रतीतिर्व्रीडेर्ष्यारागद्वेषप्रसंगतः ।
लौकिकस्य स्वरमणीसंयुक्तस्येव दर्शनात् ॥ —दशरूपक ४ प्र. का. ३८, ३९

२. 'काव्यार्थभावनास्वादो नर्तकस्य न वार्यते'। दशरूपक, ४ प्र. ४२ का.
नर्तकोऽपि न लौकिकरसेन रसवान् भवति तदानीं भोग्यत्वेन स्वमहिलादेरग्रहणात् ।
काव्यार्थभावनया त्वस्मदादिवत् काव्यरसास्वादोऽस्यापि न वार्यते। —अवलोक, पृ. २४८

३. 'परिणामतः उनके मतानुसार संयोग का अर्थ होता है भाव्यभावकसम्बन्ध और निष्पत्ति का अर्थ होता है भावित होना या भावित जो भट्टनायक का भी वास्तविक मत है'।
—डा. नगेन्द्र, रससिद्धान्त, पृ. १७८

४. *विभावादि के साथ संयोग होने से स्थायी भाव भावित होकर रसरूप में परिणत हो जाता है—यही रस की निष्पत्ति है। विभावादि भावनक्रिया के कारण भावक हैं और स्थायिभाव भाव्य हैं। अतः संयोग का अर्थ हो जाता है भावकभाव्यसम्बन्ध। परम्परागत भोजक-भोज्यभाव सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता क्योंकि रस की सिद्धि निष्पत्ति तो स्थायिभाव के भावित होने में है। इस सिद्ध निष्पन्न रस की सहृदय द्वारा भुक्ति निष्पत्ति के बाद की घटना है।* डा. नगेन्द्र का रससिद्धान्त, पृ. १६७

विभावादिसाधारणीकरणात्मक भावकत्वव्यापार रस (रत्यादि स्थायिभाव) का भावक है न कि विभावादि। अतः विभावादि से रति भाव्य नहीं है।[1] धनञ्जय के अनुसार विभावादि भावक हैं तथा रस भाव्य है।[2]

इसीलिए धनञ्जय ने कहा है—

> पदार्थैरिन्दुनिर्वेदरोमाञ्चादिस्वरूपकैः।
> काव्याद्विभावसञ्चार्यनुभावप्रख्यतां गतैः।
> भावितः स्वदते स्थायी रसः स परिकीर्तितः॥

इस प्रकार भट्टनायक तथा धनंजय व धनिक के भाव्यभावकभाव सम्बन्ध में मौलिक अन्तर स्पष्ट है।

महिमभट्ट

धनंजय और धनिक के बाद महिमभट्ट ने भी प्रसङ्गतः रस का विवेचन किया है। क्योंकि उनका प्रधान उद्देश्य ध्वनिकारादि द्वारा प्रतिष्ठापित ध्वनि-सिद्धान्त का निराकरण है। उन्होंने अनुमान द्वारा रसादि व्यंग्य की प्रतीति मान कर तदर्थ स्वीक्रियमाण ध्वनि (व्यंजना) का निराकरण किया है। जैसा कि प्रारम्भ में ही महिमभट्ट ने कहा है—

> अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयितुम्।
> व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम्॥

महिमभट्ट नैयायिक थे तथा ध्वनिविरोधी आचार्य थे इसलिए उन्होंने रसादि की प्रतीति के लिए व्यंजनावृत्ति मानने का प्रत्याख्यान किया और अनुमिति द्वारा रसादि, वस्तु तथा अलंकाररूप प्रतीयमान अर्थों की प्रतीति मानी। इसी उद्देश्य के लिए उन्होंने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ की रचना की। नैयायिक होने के कारण उन्होंने रसविषयक विवेचन भी न्यायमतानुसार ही किया है जैसा कि श्री शंकुक ने किया था। महिमभट्ट भी यह मानते हैं कि कविनिर्मित कृत्रिम विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारिभावनामक कारणों, कार्यों तथा सहकारिकारणों के द्वारा अविद्यमान रत्यादि स्थायिभावों का ज्ञान सहृदयों को हो जाता है। तदनन्तर हृदयसंवाद के कारण वे उनका आस्वादन करते हैं। इस प्रकार आस्वाद्यमान रत्यादि स्थायिभाव ही रस कहलाते हैं।[4] इनके मत में काव्यनिर्मित विभावादि गमक अर्थात्

1 विभावादिसाधारणीकरणात्मना भावकव्यापारेण भाव्यमानः स्थायी।
—का० प्र० ४ उल्लास, पृ० १०३

2 भाव्यन्ते च विभावादिभिः प्रेक्षकेषु रत्याः। दशरूपकावलोक पृ० २५५

3 दशरूपक चतुर्थ प्रकाश का ४६-४७

4 तदन्यैरत्र काव्यादिभिः कृत्रिमैर्विभावादिभिरनैसर्गिकैरपि ये रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावप्रत्यक्षमात्र कविभिः प्रतिपन्नैः प्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसंवादादास्वादं-मुपगताः सन्तो रसा इत्युच्यन्ते। —व्यक्तिविवेक, पृ० ३०

अनुमापक और रत्यादि स्थायिभाव गम्य (अनुमेय) हैं। अत वे शकुक के समान ही भरतसूत्र मे सयोग पद का गम्यगमकभाव सम्बन्ध तथा निष्पत्ति शब्द का अनुमिति-रूप अर्थ मानते हैं।

यद्यपि यह मत शकुक के मत के सदृश ही प्रतीत होता है किन्तु केवल इतना ही अन्तर है कि शकुक ने नाट्य के आधार पर नाट्यरस की व्याख्या की थी और महिमभट्ट प्रधानतया काव्यरस की व्याख्या करते हैं। इसीलिए उन्होंने 'रत्यादयः स्थायिभावव्यपदेशभाज कविभि प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना.' इत्यादि उक्ति से कवि के द्वारा विभावादिवर्णन से स्थायिभाव की प्रतीति बतलाई है न कि नट द्वारा अभिनीयमान विभावो से। इसीलिए शकुक के अनुसार सहृदय नट मे रति की अनुमिति करते हैं और महिमभट्ट के अनुसार काव्यनिबद्ध रामादि अनुकार्य मे उस रति का अनुमान कर तथा हृदयसवाद के कारण आस्वादन कर आनन्दानुभूति प्राप्त करते हैं। किन्तु यह अन्तर भी वस्तुतः नही है। क्योकि काव्यशब्द का प्रयोग श्रव्य व दृश्य दोनो के लिए होता है। अत श्रव्यकाव्य के रस की व्याख्या ही दृश्यकाव्य के रस की भी व्याख्या है। क्योकि श्रव्य व दृश्य दोनो प्रकार के काव्यो मे विभावादि-चर्वणा द्वारा ही रस की प्रतीति होती है। किन्तु जैसे पहिले कहा जा चुका है कि महिमभट्ट का उद्देश्य ध्वनिकारसम्मत ध्वनि का अनुमान मे अन्तर्भाव करना है। और ध्वनिकार ने श्रव्यकाव्य रामायणादि मे रसादिरूप ध्वनि की प्रतीति के लिए ही व्यञ्जनावृत्ति मानी है। अत सर्वविध ध्वनिका अनुमान मे अन्तर्भाव द्वारा उसका निराकरण करने वाले महिमभट्ट के समक्ष श्रव्यकाव्य ही प्रस्तुत था। अत श्रव्यकाव्यगत रस का निरूपण महिमभट्ट ने किया है।

महिमभट्ट लौकिक रत्यादि तथा उसके अनुमापक लौकिक सीतादि कारणो मे और काव्यवर्णित विभावादि एव उनके द्वारा प्रतीयमान रत्यादि स्थायिभाव मे स्पष्ट अन्तर मानते हैं। वे लौकिक विभावादि (हेत्वादि) को अकृत्रिम तथा काव्य-वर्णित विभावादि को कृत्रिम स्वीकार करते हैं। इसीलिए जहा लौकिक सीतादि को कारण, कार्य और सहकारी सज्ञाए हैं वहां काव्य मे वर्णित सीतादि की विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारी सज्ञाए हैं। अभिनवगुप्त की तरह महिमभट्ट भी इन सज्ञाओं को विभावनादि व्यापारो के कारण सार्थक स्वीकार करते हैं। क्योकि काव्य मे निबद्ध सीतादि विभाव, भावो को बोधित करने मे समर्थ हैं अत वे विभावन व्यापार द्वारा विभाव कहलाते हैं। लौकिक मुखप्रसादादि कार्य ही काव्य मे उपनिबद्ध होने पर तत्तद्भावा को अनुभवविषय बनाते हैं अत वे अनुभावन व्यापार द्वारा अनुभाव कहलाते हैं। उत्कलिका (तरग) के समान चिन्तादि सहकारी कारण ही काव्य मे स्वविभावादि द्वारा प्रदर्शित किये जाने पर विशेषरूप से तत्तद्भावो अर्थात् रसावस्था को प्राप्त होने वाले स्थायिभावो मे सचरण करते हैं अत 'विशेषतया आभिमुख्येन चरन्ति' इस व्युत्पत्ति को लेकर व्यभिचरण व्यापार द्वारा व्यभिचारी कहलाते हैं, जैसाकि भरत ने कहा है—'विविध आभिमुख्येन रसेषु चरतीति

व्यभिचारिण: ।'[1]

यद्यपि लौकिक सीतादि कारण, कटाक्षभुजाक्षेपादि लौकिक कार्य, लज्जादि लौकिक सहकारिकारण भी क्रमशः लौकिक रत्यादि अवस्थाविशेषों का बोधन, अनुभवविषयतापादन तथा रत्यादि के प्रति सचरण करते ही हैं फिर भी वे विभाव अनुभाव व्यभिचारी इसलिए नहीं कहलाते हैं कि वे रत्यादि अवस्थाविशेषों का ही बोधन करते हैं, रत्यादि भावों का नहीं ।[2] लोक मे विद्यमान रामादिगत रत्यादि स्थायी अवस्थाविशेष ही कवि द्वारा काव्य में वर्णन करने के लिए जब अपने मे अनुसहित (ज्ञानरूप अनुसधान के विषय) अर्थात 'रामोऽहं सीताविषयकरतिमान्' इत्याकारक ज्ञान के विषय किये जाते हैं तब वे रस की भावना कराने से भाव कहलाते हैं । जैसाकि भरत ने कहा है कि लौकिक रत्यादि स्थायी ही नाट्य मे अभिनयादि द्वारा प्रतीत होने पर रसों को भावित करते हैं । अतः नाट्यप्रयोक्ताओं ने इन्हें भाव कहा है ।[3] इस प्रकार लौकिक तथा काव्यनिबद्ध रत्यादि के कारण, कार्य व सहकारियो में, क्रमश अकृत्रिम व कृत्रिम होने से तथा लोकविषयता व काव्यविषयता होने से, स्वरूपत· तथा विषयत· भेद है । इसलिए इनको कभी एक नहीं माना जा

---

१. ये च तेषा (स्थायिभावाना) हेतव सीताद्या केचित् त एव काव्यादौ समर्पिता सन्तो विभाव्यन्ते एभिरिति विभावा इत्युच्यन्त । यदाह भरत —

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाश्रयाः ।
अनेन यस्मात्तेनाय विभाव इति संज्ञित. ॥

ये च तेषा (स्थायिभावाना) केचित् कार्यरूपा भुजक्षेपादयोऽर्थास्त एव काव्यादुपदर्श्यमाना: सन्तोऽनुभावयन्ति तांस्तान् भावानित्यनुभावा इत्युच्यन्ते । यदाह भरत —

वागङ्गसत्त्वाभिनयैर्यस्मादर्थोऽनुभाव्यते ।
वागङ्गोपाङ्गसंयुक्तो सोऽनुभाव इति स्मृत. ॥

ये च तेषामन्तरान्तराऽवस्थायिनोऽवस्थाविशेषास्तदवान्तरहेतुजनिता उत्पन्नविकाराः केचिदुत्पद्यन्ते त एव निजविभावानुभाववर्गमन्तरेणोपदर्श्यमाना सन्तो विशेषेणाभिमुख्येन चरन्ति तेषु तेषु भावेष्विति व्यभिचारिण इत्युच्यन्ते । यदाह भरत —
विविधमाभिमुख्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिण इति । —व्यक्तिविवेक पृ ६८-६९

२. न च लोके विभावादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वादिनामेव तत्र सम्भवात् । न च विभावादयो हेत्वादयश्चेत्येक एवार्थ इति मन्तव्यम् । अन्ये हेत्वादयोऽन्य एव विभावादय । तथा ये लोके रत्यादयो रामादिगता. स्थेमभाजोऽवस्थाविशेषा केचित, त एव काव्यादौ कवि-प्रभृतिभिर्वर्ण्यमानानुसन्धानमहिता. सन्तो भावयन्ति तांस्तान् रसानिति भावा इत्युच्यन्ते ।
—व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ. ६७-६८

नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
यस्मात् तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि ॥ ना. शा. ७, ३ ।

सकता।[1] काव्य में वर्णित विभावादि में लौकिक कारणादि की अपेक्षा एक विशिष्ट भेद यह है कि लौकिक कारण तथा कार्यादि से प्रतीयमान रत्यादि में किसी प्रकार की चमत्कारजनकता नहीं है किन्तु कविवर्णित विभावादि से प्रतीयमान रत्यादि स्थायिभाव में सहृदयचमत्कारजनकता होती है।[2] इसका एकमात्र कारण कवि का वर्णनकौशल है। इसीलिए महिमभट्ट ने कहा है—

> भवतेः प्रयोजनांशो यश्चमत्कारित्वलक्षणः।
> स तत्रास्तीति, सोऽप्यस्य विभावाद्यैकहेतुकः॥
> अतएव न लोकेऽपि चमत्कारः प्रसज्यते।
> अत्र हेत्वादयः सन्ति न विभावादयो यतः॥
> न चैकार्थत्वमाशंक्यमेषां लक्षणभेदतः।
> स्वभावरचायमर्थानां यत्र साक्षादमी तथा॥
> स्वदन्ते सत्कविगिरां गता गोचरतां यथा॥

महिमभट्ट तो यहाँ तक मानते हैं कि प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञात अर्थ भी सहृदयों में चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होते, किन्तु वे ही अर्थ जब सत्कवि द्वारा वर्णित होते हैं तब लोकोत्तर चमत्कार उत्पन्न करने में समर्थ हो जाते हैं। क्योंकि कविकौशल से उनमें सहृदय के तन्मयीभावन की शक्ति आ जाती है। कविवर्णित विभावादि से प्रतीयमान भावों का ही सहृदय तन्मयीभवन द्वारा आस्वाद करने में समर्थ होते हैं।[3] अतः वे ही सहृदयों को आनन्द देने वाले हैं एव इसी कारण विभावादि पदों से व्यवहृत होते हैं।

लौकिक तथा काव्यनिबद्ध स्थायिभावों में महिमभट्ट बिम्बप्रतिबिम्बभाव मानते हैं। लौकिक सीतादि कारणों से अनुमित रामादिगत रत्यादि स्थायिभाव वास्तविक तथा अकृत्रिम हैं और काव्यनिबद्ध विभावादि से प्रतीयमान (अनुमीयमान) रत्यादि स्थायिभाव कृत्रिम, अवास्तविक तथा रत्यादि के अनुकरणरूप हैं अतः वे प्रतिबिम्ब[4] कहलाते हैं। क्योंकि प्रतिबिम्ब बिम्ब का अनुकरण ही होता है[5]

महिमभट्ट की रसविषयक मान्यता का निरूपण करते हुए डा. नगेन्द्र ने

---

१. तदेवं विभावादीनां 'हेत्वादीनां' च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे चावस्थिते सत्येतत्त्वासिद्धये। —व्य. वि. पृ. ७३

२. व्य. वि. पृ. १०८

३. प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात् संवेद्यमानः सचेतसां न तथा चमत्कारमातनोति यथा स एव सत्कविना वचनगोचरतां गमितः। यदुक्तम्—

> कविशक्त्यर्पिता भावास्तन्मयीभावयुक्तितः।
> तथा स्फुरन्त्यमी काव्यान्न तदध्यक्षतः किल॥ व्य. वि. प्र. वि. पृ. ७३

४. अमन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः। व्य. वि. प्र. वि. पृ. ७९

५. अनुकार्यस्य बिम्बत्वमनुकरणस्य प्रतिबिम्बत्वम्। —व्यक्तिविवेकव्याख्यान, पृ. ७३

कहा है—'महिमभट्ट ने यह भी स्वीकार किया कि रस की स्थिति सहृदय में होती है। सहृदय ही स्थायिभावों का रसरूप में आस्वादन करता है किन्तु रत्यादि की वास्तविक स्थिति प्रमाता में नहीं होती। वे केवल रंगमंच पर प्रदर्शित या काव्य में वर्णित स्थायिभावों के प्रतिबिम्ब होते हैं'।[1] इनका यह कथन संगत नहीं क्योंकि जिस तरह शंकुक रत्यादि भावों की स्थिति रामत्वेन अभिमत नट में मानते हैं। और नट में भी वस्तुतः रत्यादि की स्थिति नहीं होती किन्तु उनके द्वारा कुशलतापूर्वक प्रदर्शित विभावादि से सहृदय उसमें रति की अनुमिति कर लेते हैं। और उस अनुमीयमान रति के वस्तुसौन्दर्य के कारण आस्वाद्य होने से उसका आनन्द आस्वादन करते हैं। इसी प्रकार महिमभट्ट भी यह मानते हैं कि काव्य में वर्णित होने से विभावादि शब्दों से व्यवहृत, कृत्रिम कारण, कार्य सहकारियों से प्रतीयमान वस्तुतः काव्यनिबद्ध रामादि में भी अविद्यमान रति ही सहृदयों द्वारा आस्वाद्यमान होने पर रस कहलाती है।

अन्तर इतना ही है कि शंकुक ने नाट्यरस का निरूपण किया है और महिमभट्ट ने प्रधानतया काव्यरस का। अतः नट नाट्य में उन विभावादि को अभिनय द्वारा प्रदर्शित करता है और उन्हीं से सहृदय वस्तुतः नट में अविद्यमान रति का अनुमान करते हैं। किन्तु काव्य में जिन विभावादि के द्वारा सहृदय को रति का अनुमितिरूप ज्ञान होता है वे कृत्रिम विभावादि कवि द्वारा शब्दों के माध्यम से प्रदर्शित किये जाते हैं। इसलिए महिमभट्ट ने 'कारणादिभिः कृत्रिमैर्विभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिबिम्बकल्पाः स्थायिभावव्यपदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमानाः'।[2] ऐसा कहा है और शंकुक ने 'नटेनैव प्रदर्शितः' यह कहा है। जिन रत्यादि की सहृदय अनुमिति करते हैं वे न शंकुक के मत में वास्तविक हैं और न महिमभट्ट के मत में। शंकुक उन अवास्तविक (अविद्यमान) रत्यादि की स्थिति अभिनयकर्ता रामत्वेन अभिमत नट में मानता है। महिमभट्ट काव्यरस का निरूपण करने के कारण उन अविद्यमान रत्यादि की स्थिति काव्य में उपवर्णित रामादि में स्वीकार करता है। यद्यपि इस बात का उन्होंने शब्दतः उल्लेख नहीं किया है तथापि अन्यत्र उनकी स्थिति सम्भावित न होने से काव्योपवर्णित रामादि में ही मानी जा सकती है। वस्तुतः काव्यवर्णित रामादि में भी रत्यादि की वास्तविक स्थिति नहीं है। अत एव महिमभट्ट ने 'असन्त एव रत्यादयः' इस उक्ति से रत्यादि की कविवर्णित रामादि में भी अविद्यमानता ही बतलाई है। यहां महिमभट्ट ने रत्यादि को प्रतिबिम्बकल्प बतलाया है। इसका तात्पर्य यही है कि कवि विभावादि द्वारा जिन रत्यादि की प्रतीति सहृदयों को कराता है वे वास्तविक अनुकार्यगत रत्यादि नहीं हैं किन्तु उनके अनुकरणरूप हैं। जिस प्रकार प्रतिबिम्ब बिम्ब का अनुकरण होता है उसी प्रकार काव्य में वर्णित विभावादि

१. डा० नगेन्द्र का रससिद्धान्त पृ० १०८
२. व्यक्ति विवेक पृ० ७१

द्वारा प्रत्यायित रत्यादि लौकिक रति के अनुकरणमात्र हैं। महिमभट्ट ने स्वयं इस बात का स्पष्ट सकेत किया है।[1]

उपर्युक्त आधार पर डा नगेन्द्र के कथन की समीक्षा की जाती है। डा नगेन्द्र के कथन मे दो बातें मुख्यतया प्रतीत होती है—(१) सहृदय मे रस की स्थिति है। (२) प्रमाता (सहृदय) मे रति की वास्तविक स्थिति का अभाव है। और वह रगमच पर प्रदर्शित या काव्य मे वर्णित स्थायिभावो का प्रतिबिम्बमात्र है।

इनमे सहृदय मे रस की स्थिति महिमभट्ट नही मानता क्योकि सहृदय मे रस की स्थिति तभी मानी जा सकती है जबकि उसमे रत्यादि की स्थिति हो। क्योकि रत्यादि भाव ही आस्वाद्यमान होकर रसरूपता को प्राप्त होते हैं और रत्यादि की स्थिति महिमभट्ट सहृदय मे नही स्वीकार करता। इस बात को डा नगेन्द्र ने भी 'रत्यादि की वास्तविक स्थिति प्रमाता मे नही होती' इस उक्ति के द्वारा स्वीकार किया है। महिमभट्ट ने स्पष्ट लिखा है कि कृत्रिम विभावादि द्वारा कवि अविद्यमान रत्यादि को सहृदयो के प्रतीतिपथ मे लाता है। अर्थात् सहृदयो को उन अविद्यमान रत्यादि भावो की प्रतीति कराता है न कि रत्यादि प्रमाता मे रहते हैं। रत्यादि भावो की प्रतीति कृत्रिम विभावादि द्वारा होती है। अत जो इन विभावादि का आश्रय होगा वही अविद्यमान रत्यादि का भी आश्रय होगा। जैसे धूम के द्वारा जब अग्नि की प्रतीति करते हैं तब जो पर्वत धूम का आश्रय होता है वही वह्नि का भी आश्रय होता है। कवि कृत्रिम विभावादि के आश्रयरूप मे काव्य-निबद्ध रामादि का ही वर्णन करता है न कि सहृदयो का। अत विभावादि का आश्रय होने से उनके द्वारा अनुमित अविद्यमान रत्यादि भावो की स्थिति भी कविनिबद्ध रामादि मे ही हो सकती है, न कि सहृदय मे। सहृदय केवल अनुमिति-रूप प्रतीति के द्वारा उन रत्यादि का ज्ञान प्राप्त करते हैं और उन्ही रत्यादि के ज्ञानरूप आस्वादन मे वे आनन्द की अनुभूति करते हैं। इस प्रकार अवास्तविक अर्थात् अविद्यमान रत्यादि की स्थिति भी काव्यवर्णित रामादि मे हैं न कि सहृदय मे। अत. काव्यनिबद्ध रामादि मे ही रस की स्थिति मानी जा सकती है न कि सहृदय मे। महिमभट्ट ने स्पष्ट लिखा है कि कृत्रिम विभावादि असत्य रत्यादि की प्रतीति सहृदय मे उत्पन्न करते हैं। इसलिए वे असत्य रत्यादि केवल प्रतीतिसिद्ध होने से प्रतीयमान तथा गम्य कहे जाते हैं। सहृदयो को उन रत्यादि भावो का जो प्रतीति-रूप परामर्श होता है वही रसास्वाद है।[2] इस प्रकार रसास्वाद की स्थिति सहृदय मे है न कि रस की।

---

१. स्थाय्यनुकरणात्मानो हि रसा इष्यन्ते। तथा बिम्बप्रतिबिम्बभावेनावस्थानात्।

—व्यक्तिविवेक, पृ ७१, ७२

२ यदा विभावादिभिर्भावेषु रत्यादिष्वसत्स्वेव प्रतीतिरुपजन्यते तदा तेषां तन्मात्रसारत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशो मुख्यवृत्त्यापद्यत एव। तत्प्रतीतिरागमनं एव रसास्वाद स्वाभाविक। —व्यक्तिविवेक प्रथमविमर्श पृ ७३

महिम भट्ट[1] ने रत्यादि को सहृदय की दृष्टि से नित्य परोक्ष बतलाया है और विभावादि द्वारा होने वाले उन के अनुमित्यात्मक परोक्ष ज्ञान से ही सहृदयो को चमत्कार का अनुभव होता है न कि सीतादि हेतुओ के द्वारा अनुमित रत्यादि मे यह कहा है। यदि सहृदयो मे किसी भी प्रकार रत्यादि की स्थिति होती तो उनका मानस साक्षात्कार होने से वे सहृदयो की दृष्टि से नित्य परोक्ष नही कहे जाते।

दूसरी बात यह है कि महिमभट्ट की रसविषयक मान्यता पूर्णतया शकुक के समान है। जिस प्रकार शकुक कृत्रिम विभावादि मे रत्यादि स्थायिभावो की प्रतीति बतलाते हैं उसी प्रकार महिमभट्ट भी। जिस प्रकार शकुक के मत में अनुकर्ता मे रत्यादि भाव वस्तुत विद्यमान नही है।[2] उसी प्रकार महिमभट्ट ने भी 'असन्त एव रत्यादय स्थायिभावव्यपदेशभाज' इत्यादि उक्ति के द्वारा उन्हें कविवर्णित रामादि मे भी अविद्यमान बतलाया है। जिस प्रकार शकुक के मत में कृत्रिम विभावादि द्वारा सहृदयो को रामत्वेन अभिमत नट मे रत्यादि की प्रतीति होती है उसी प्रकार महिमभट्ट के मत मे भी कवि द्वारा वर्णित कृत्रिम विभावादि से ही सहृदयो को रत्यादि की प्रतीति होती है। जिस प्रकार शकुक के मन में सहृदय प्रतीयमान रत्यादि भावो का वासना के द्वारा आस्वादन करते हैं उसी प्रकार महिमभट्ट के मत मे भी सहृदय प्रतीयमान रत्यादि का हृदयसवाद के कारण आस्वादन करते हैं। जिस प्रकार शकुक अनुक्रियमाण रति (रति के अनुकरण) को रस मानता है उसी प्रकार महिम भी रसो को रत्यादि स्थायिभावो का अनुकरणरूप ही मानता है।[3] जिस प्रकार शकुक नट मे अविद्यमान मिथ्या रति के ज्ञान से आस्वाद तथा सुखानुभूतिरूप अर्थक्रिया मानता है उसी प्रकार महिम-भट्ट भी काव्यवर्णित कृत्रिम (मिथ्या) विभावादि से प्रतीयमान अविद्यमान अतएव मिथ्याभूत रति से सुखास्वाद स्वीकार करता है। महिम भट्ट ने 'असन्त' तथा 'प्रतिबिम्बकल्पा' इन विशेषणो के द्वारा इस रहस्य का स्पष्टीकरण कर दिया है।[4]

इस प्रकार दोनो मतों में पूर्ण समानता होने पर शकुक के मत में अविद्यमान रत्यादि की स्थिति जब सहृदयभिन्न रामत्वेन अभिमत नट में मानी जाती है तब महिमभट्ट के मत मे ही विभावादि द्वारा प्रतीयमान अविद्यमान

---

१ साम्या वा रत्यादिर्नित्यपरोक्ष । सापि (नित्यपरोक्ष हेत्वादिभिरनुमितापि) च तथा न तथा स्वदते यथा तैरेवानुमयता नीत इति । तदुक्तम्—'नानुमितो हेत्वाद्यै. स्वदतेऽनुमितो यथा विभावाद्यै' इति । —व्य वि प्र वि पृ ७३, ७४

२. यतस्तैरेव कारणादिभि कृत्रिमैर्विभावादिभिरभिव्यक्त एव रत्यादय प्रतिबिम्बकल्पा स्थायिव्यपदेशभाज कविभि प्रतिपत्तृप्रतीतिपथमुपनीयमाना हृदयसवादादास्वादसमु-पयन्त सन्तो रसा इत्युच्यन्त । —व्यक्तिवि प्र विमर्श, पृ ७९ ।

३ स्थाय्यनुकरणात्मका हि रसा इष्यन्ते । —व्य वि प्र वि, पृ ७१ ।

४ कृत्रिमैरपि तादृशैर्विभावादिभिरभिव्यज्यमाना एव रत्यादय प्रतिबिम्बकल्पा सन्तो रसा इत्युच्यन्ते ।

—व्य वि प्र वि, पृ ७९ ।

रत्यादि की स्थिति काव्यवर्णित रामादि मे न मानकर सहृदय मे स्वीकार करने मे क्या विनिगमक है ?

दूसरी बात डा नगेन्द्र ने कही है कि रत्यादि की वास्तविक स्थिति प्रमाता मे नही होती। यह बात सिद्धान्तरूप से स्वीकृत है। किन्तु उनके उपर्युक्त कथन से ऐसी प्रतीति होती है कि प्रमाता मे रत्यादि की वास्तविक स्थिति तो नही परन्तु रत्यादि की अवास्तविक स्थिति प्रमाता मे है। क्योकि उन्होने रत्यादि की स्थिति मे वास्तविक विशेषण का उपादान किया है। इस बात को उन्होने 'वे केवल रङ्गमञ्च पर प्रदर्शित या काव्य मे वर्णित स्थायिभावो के प्रतिबिम्ब होते हैं' इस उक्ति के द्वारा स्पष्ट कह दिया है। किन्तु वस्तुत रत्यादि की वास्तविक स्थिति का ही प्रमाता मे अभाव नही है अपितु अवास्तविक स्थिति का भी अभाव है।

महिमभट्ट के अनुसार प्रमाता मे रत्यादि की न वास्तविक स्थिति है और न अवास्तविक। जैसा कि पूर्व मे बतला दिया गया है कि रत्यादि की वास्तविक स्थिति अनुकार्य रामादि मे है तथा अवास्तविक स्थिति कविवर्णित रामादि मे है न कि प्रमाता (सामाजिक) मे। सहृदयो को तो कवि अवास्तविक, असत्य अतएव प्रतिबिम्बकल्प रत्यादि की विभावादि द्वारा प्रतीति कराता है।

महिमभट्ट के उपर्युक्त रसस्वरूप के अध्ययन से यह स्पष्ट है कि वह पूर्णतया शङ्कुक का अनुयायी है। काव्य की दृष्टि से रसस्वरूप का प्रदर्शन करना ही शङ्कुक से भेद है। क्योकि शङ्कुक ने नाट्यनिष्ठ रसस्वरूप की व्याख्या की थी और उसका कारण यह था कि उसने भरत के नाट्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए नाट्य के अनुसार ही रसस्वरूप बतलाया था।

भोज

रस-विषयक मतो का विवेचन करते हुए राजा भोज के रस-विषयक मत का भी उल्लेख आवश्यक है। रस के विषय मे राजा भोज की धारणा अभिनव है। उन्होंने अपने इस अभिनवमत का अर्थात् रस-विषयक अभिनव दृष्टि का सकेत अपने प्रारम्भिक ग्रन्थ 'सरस्वती-कण्ठाभरण' मे किया है और फिर उसका उपबृहण 'शृगार-प्रकाश' मे किया है।

'सरस्वती-कण्ठाभरण' मे उन्होंने सकेत दिया है कि रस के कारण ही काव्य मे सौन्दर्य है। अर्थात् रस ही काव्य का सौन्दर्याधायक तत्त्व है और वह रस शृगार, अभिमान या अहङ्कार कहलाता है। प्राणियो की अन्तरात्मा मे रहने वाला यह शृगार अहङ्कारविशेष ही है जो अनेक-जन्मानुभवार्जित उत्कृष्ट अदृष्टविशेष से उत्पन्न होता है तथा आत्मा की अन्य सभी गुण-सम्पत्तियो की उद्भूति का कारण है। यह अहकाररूप शृगार रस यदि कवि मे है तो सारा ससार रसमय बन जाता है और यह अहकाररूप शृगार रस यदि कवि मे नही है तो समग्र ससार नीरस बन जाता है। ससार की रसमयता तथा नीरसता कवि में विद्यमान इस

अहङ्काररूप शृंगार रस पर ही निर्भर है।[1]

उपर्युक्त शृंगार रस का ही उपबृंहण व व्यवस्थित निरूपण 'शृंगार-प्रकाश' में भोजराज ने किया है। भोज गुण, अलङ्कार, रस आदि सभी काव्यतत्त्वों को 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' इस दण्डी की उक्ति के अनुसार अलङ्कार ही मानते हैं[2] किन्तु इन सभी अलङ्कारों को गुण, अलङ्कार, रस इन तत्त्वों के आधार पर 'स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति व रसोक्ति[3] इन तीन भागों में विभक्त कर उन तीनों में रस को प्राधान्य प्रदान करते हैं[4]। भोज के निम्नलिखित पद्य से इस तथ्य का स्पष्टीकरण हो जाता है—

> वक्रोक्तिश्च रसोक्तिश्च स्वभावोक्तिश्च वाङ्मयम्।
> सर्वासु ग्राहिणीं तासु रसोक्तिं प्रतिजानते॥ (स. क. आ. पृ. ५१८)

'चमत्कार-चन्द्रिका' के लेखक श्री विश्वेश्वर, जो कि प्रायः भोज का अनुकरण करते हैं, के निम्न पद्य में भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। जैसे—

> चिरं जीवतु वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिश्च तिष्ठताम्।
> रसोक्तिरेव काव्येषु ग्राहिणोति मतिर्मम॥ पृ. ६६-७

भोज ने अपने रस-सम्बन्धी विचारों का आधार दण्डी की निम्न उक्ति को बनाया है—

---

१. रसोऽभिमानोऽहङ्कारः शृङ्गार इति गीयते।
योऽर्थस्तस्यान्वयात् काव्यं कमनीयत्वमश्नुते॥
विशिष्टादृष्टजन्मायं जन्मिनामन्तरात्मसु।
आत्मसम्यग्गुणोद्भूतेरेको हेतुः प्रकाशते॥
शृङ्गारी चेत् कविः काव्ये जातं रसमयं जगत्।
स एव चेदशृङ्गारी नीरसं सर्वमेव तत्॥ —सरस्वतीकण्ठाभरण V. १-३

२. (क) तत्रालङ्कारस्य 'अलङ्कारसंसृष्टैः' इत्येव वक्तव्ये नानालङ्कारग्रहणं गुणरसादीनामुपसंग्रहार्थम्। तेषामपि हि काव्यशोभाकरत्वेनालङ्कारत्वात्। यदाह 'काव्यशोभाकरान् धर्मानलङ्कारान् प्रचक्षते' इति। —स. क. भा. पृ. ६२१
(ख) तत्र 'काव्यशोभाकरान्' इत्यनेन श्लेषोपमादिवत् गुणरसभावतदाभासप्रशमादीनप्यनुगृह्णाति। मार्गविभागकृद्गुणानामलङ्क्रियोद्देशेन श्लेषादीनां गुणत्वमिवालङ्कारत्वमपि ज्ञापयति। —स. क. भा, पृ. ६१२
(ग) एवमवस्थापिते गुणरसतदाभासभावानामलङ्कारत्वे षट्प्रकारः अलङ्कारसंकरः।
—शृ. प्र. भाग २, पृ. ३८८

३. त्रिविधः खल्वलङ्कारवर्गः—वक्रोक्तिः स्वभावोक्तिः रसोक्तिरिति। तत्र उपमाद्यलङ्कारप्राधान्ये वक्रोक्तिः, गुणप्राधान्ये स्वभावोक्तिः, विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात्तु रसनिष्पत्तौ रसोक्तिरिति। (शृ. प्र. भाग २, पृ. ३७२)

४. निर्दोषस्य गुणवतोऽलङ्कृतस्य च काव्यशरीरस्य कामिनीशरीरस्येव शोभातिशयनिष्पत्तौ रसावियोग एव प्रकृष्टतमो गीयते। —शृ. प्र. पृ. ३५२ भाग २

प्रेयः प्रियतराख्यान रसवद् रसपेशलम् ।
ऊर्जस्वि रूढाहङ्कार युक्तोत्कर्षं च तत्त्रयम् । काव्यादर्श २।२७५

वे 'ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारम्' मे रस की पूर्वकोटि का, 'रसवद् रसपेशलम्' मे रस की मध्यम अवस्था का तथा 'प्रेय प्रियतराख्यानम्' मे रस की उत्तरकोटि का दर्शन करते हैं। जैसा कि शृङ्गारप्रकाश मे भोज ने कहा है—

एतेन रूढाहङ्कारता रसस्य पूर्वा कोटि । रत्यादीनामेकपञ्चाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता रसस्यैव मध्यमावस्था। 'प्रेय प्रियतराख्यानम्' इति उपलक्षणेन यथा रते प्रेमरूपेण परिणति, तथा भावान्तराणामपि परमपरिपाके प्रेमरूपेण परिणतौ रसैकायनमिति रसस्य परमा काष्ठा इति प्रतिष्ठित भवति। —शृ प्र भाग २, पृ ३५१

'युक्तोत्कर्ष च तत्त्रयम्' इस उक्ति से वे यह अर्थ निकालते हैं कि प्रेयस, भाविकत्व व ऊर्जस्विन् ये तीनो जब युक्तोत्कर्ष (उत्कर्षयुक्त) होते हैं तब रस या रसवद् अलङ्कार कहलाते हैं और अयुक्तोत्कर्ष दशा मे प्रेयस्, भाविकत्व व औजित्य नामक गुण कहलाते हैं।[1]

भोज के अनुसार आत्मविशेष मे अर्थात् कतिपय रसिको मे स्थित, निर्दुष्ट सुकृतविशेष से उत्पन्न, अनेक जन्मो के अनुभव-जन्य सस्कारो से दृढता को प्राप्त, समग्र आत्मगुणसम्पत्तियो के उदय व अतिशय का जनक अभिमानरूप प्रकृतिविकार ही शृगार, अहङ्कार आदि नामो से व्यवहार्य होने वाले शृङ्गार रस की पूर्वावस्था है। इसी का भोज ने शृङ्गारप्रकाश के प्रारम्भ मे निम्न पद्यो मे वर्णन किया है.—

आत्मस्थितं गुणविशेषमहकृतस्य, शृगारमाहुरिह जीवितमात्मयोने ।
तस्यात्मशक्तिरसनीयतया रसत्व, युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः ॥[2]
सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मा, जन्मान्तरानुभवनिर्मितवासनोत्थ ।
सर्वात्मसम्पदुदयातिशयैकहेतु, जार्गात कोऽपि हृदि मानमयो विकार ॥[3]
शृगारवीरकरुणाद्भुतरौद्रहास्यबीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्न ।
आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो वय तु, शृगारमेव रसनाद्रसमामनाम ॥[4]

इस अहङ्काररूप शृङ्गाररस की पूर्व कोटि का निरूपण करने वाले आदि के दो पद्यो की व्याख्या भी स्वय भोज ने शृङ्गारप्रकाश के सप्तम अध्याय मे ध्वनि भाग के अन्त मे की है। वह निम्नलिखित है—

'आत्मस्थित गुणविशेषमहङ्कृतस्येत्यादि। अत्र 'आत्मस्थित गुणविशेषमहङ्कृतस्य शृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोने' इत्याप्तोपदेशरूप आगम। 'तस्या-

---

१ 'युक्तोत्कर्ष च तत् त्रयम्' इत्यनेन अयुक्तोत्कर्षाणां त्रयाणाम् ऊर्जस्विरसवत्प्रेयसां गुणत्वमेव नालङ्कारत्वमिति ज्ञापयति। तथा हि औजित्य भाविकत्व प्रेय इति पदै त्रयोऽप्येते गुणेषूपदिष्टा । —शृ प्र, भाग २, पृ ११

२ शृ प्र भाग १ ३ वही, भाग २ पृ ३६६ ४ शृ प्र प्रथम अध्याय

त्मशक्तिरसनीयतया रसत्वम्' इति संज्ञार्थानुगामिप्रत्यात्मवेदनीयं प्रत्यक्षम्। 'युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः' इत्यर्थापत्तिरूपमनुमानम्। तथा हि—योऽयं लोके रसोऽस्तीति रसिकोऽयं रसिकोऽयमिति विना मधुरादीन् केषुचिदेव पुरुषविशेषेषु निरपवादः प्रवादः, स नान्तरेण प्रत्यात्मवेदनीयं रसं हृदयवत्सुसम्बन्धमुपपद्यते।

'—स एव प्रमाणत्रयोपन्यासहेतु वक्तुरभिप्राय. प्रतीयमानः प्रमाणत्रयोपन्यासादिना च शास्त्रदर्शनाश्रयेण शृङ्गारः सन्नेव आविर्भवति। न त्वसन् उत्पद्यते।'

अर्थात् रस के प्रतिपादक आगम, प्रत्यक्ष व अर्थापत्तिरूप अनुमान—ये तीन प्रमाण हैं। इनमे 'आत्मस्थित गुणविशेषमहङ्कृतस्य शृङ्गारमाहुरिह जीवितमात्मयोने' अर्थात् काम के जीवनरूप, आत्मा मे स्थित अहङ्कारयुक्त पुरुष के गुणविशेष को ही आप्तपुरुष शृङ्गाररस कहते हैं। इस उक्ति के द्वारा शृङ्गार मे आगमप्रमाण का कथन किया है। 'तस्यात्मशक्तिरसनीयतया रसत्वम्' इस उक्तिद्वारा रसशब्द से अनुगत यह रस प्रत्येक सहृदय के द्वारा रसनीय अर्थात् वेदनीय है, इसके द्वारा प्रत्यक्ष प्रमाण का कथन किया है। तथा 'युक्तस्य येन रसिकोऽयमिति प्रवादः' इस उक्ति के द्वारा अर्थापत्तिरूप अनुमान प्रमाण का कथन किया है। क्योंकि लौकिक मधुरादि रसो के बिना लोक मे जो 'रसिकोऽयम्, रसिकोऽयम्' यह प्रवाद किन्हीं पुरुषविशेषों मे हो रहा है, वह प्रत्येक आत्मा मे वेदनीय अहङ्काररूप शृङ्गार रस के बिना अनुपपन्न है। अतः इस व्यवहार के उपपादक कारण अहङ्काररूप शृङ्गार रस को मानना पड़ता है। यही अर्थापत्तिरूप अनुमान प्रमाण रस को मानने में है।

यह अहङ्काररूप गुणविशेष पुरुष मे पूर्व ही विद्यमान है, केवल प्रमाणो द्वारा उसका आविर्भावमात्र होता है। न कि अविद्यमान की उत्पत्ति होती है।

'सत्त्वात्मनाम् इत्यादि। अथ आत्मनि प्रतिबिम्बद्वारेण अवस्थितस्य अहङ्कारगुणविशेषस्य धर्मार्थकामभूततृतीयपुरुषार्थजीवितस्य शृङ्गारस्याभिमानापरनाम्नो यान्याविर्भावकारणानि यानि च उत्कार्याणि तान्यनन्तरश्लोके निर्दिशति-सत्त्वात्मनाममलधर्मविशेषजन्मेत्यादि।'

तत्रायमात्मनोऽनुपहतेभ्यः सुकृतविशेषेभ्यः उत्पद्यते। उत्पन्नश्च सर्वस्या आत्मगुणसम्पदः वक्ष्यमाणलक्षणाया उदयहेतुर्भवति। अनेकजन्मानुभवजनितात्तु संस्कारादुत्कृष्यते, उत्कृष्टश्चायमात्मगुणसम्पद एव अतिशयहेतुर्भवति। स चायमेव एवंविधोऽभिमानात्मा प्रकृतिविकार आत्मविशेषाणां तमोनिर्मदस्थानेषु प्रतिबिम्बरूपेण सुप्त इव प्रतिबुध्यत इति वाक्यार्थोऽभिधीयमानः। एकहेतुरित्यनेन च हेत्वन्तराभावमात्मगुणसम्पदः प्रदर्शयन् अयमेव चतुर्वर्गकारणमिति ज्ञापयति। जागर्तीत्यनेन च सुप्तप्रबोधदृष्टान्तेन तस्यानाविर्भावावस्थायामपि स्थितिमित्त्वेन अवस्थानाद् अविद्यमानतां निराकरोति। कोऽपीत्यनेन अद्भुतप्रदर्शनद्वारेण तदुत्कर्षं सन्न् जन्मसहस्रे प्राप्यमानाल्पमेवेति स्थापयति। मानमय इत्यनेन चास्याभिमानात्मनोऽभिमान एव मूलम् इति अन्यावष्टम्भं निराचष्टे।　　(शृ० प्र० द्वितीय भाग पृ० ४३-४४)

'सत्त्वात्मनाम्' इत्यादि द्वितीय श्लोक की व्याख्या करते हुए भोज ने कहा है कि आत्मा में प्रतिबिम्ब द्वारा अवस्थित अहङ्काररूप गुणविशेष, जो कि धर्म और अर्थ के फलभूत तृतीयपुरुषार्थ काम का जीवन है तथा जिसका कि अभिमान दूसरा नाम है, के आविर्भाव के कारणों तथा उसके कार्यों का निर्देश 'सत्त्वात्मनाम्' इत्यादि पद्य के द्वारा किया जा रहा है।

अर्थात् यह अभिमान रूप मानमय विकार आत्मा के अनुपहत (निर्दोष, निर्मल) धर्मविशेष से उत्पन्न होता है और उत्पन्न होने पर वक्ष्यमाण समग्र आत्मगुणसम्पत्ति के उदय का कारण बनता है। अर्थात् इस अभिमानरूप मानमय विकार के उत्पन्न होने पर समग्र आत्मगुणसम्पत्तियों का उदय होता है। अनेकजन्मानुभवजन्य संस्कारों से इस अभिमानरूप विकार में उत्कर्ष आता है और उत्कर्ष आने पर यह उत्कृष्ट अभिमानरूप विकार आत्मगुणसम्पत्तियों में उत्कर्ष पैदा करता है। ऐसा यह विलक्षण अभिमानरूप प्रकृतिविकार है जो रसिकात्माओं के हृदय में उद्बुद्ध होता है। श्लोक में 'एकहेतु' पद से यह स्पष्ट किया गया है कि समग्र आत्मगुणसम्पद् का यह अभिमान ही एकमात्र कारण है अन्य नहीं। चतुर्वर्ग का भी यही कारण है अन्य नहीं। *'जागर्ति'* पद से अनाविर्भावावस्था में भी इसकी अविद्यमानता का निराकरण किया गया है। 'कोऽपि' पद से इसकी उत्कर्षसम्पत्ति का आख्यान अर्थात् कथन या निर्वचन नहीं किया जा सकता यह बतलाया गया है। 'मानमय' पद से यह व्यक्त किया गया है कि अभिमान ही इस विकार का मूल है अन्य कोई सहायक नहीं है।

इस प्रकार द्वितीय पद्य में अहङ्कार की विशेषताओं का भी दिग्दर्शन है। इसी तथ्य का निरूपण भोज ने सरस्वतीकण्ठाभरण में संक्षेप से किया है—

विशिष्टादृष्टजन्माऽयं जन्मिनामन्तरात्मसु।
आत्मसम्पद्गुणोद्भूतेरेको हेतु प्रकाशते॥

अहङ्कार, शृंगार आदि शब्दों से अभिधीयमान रस की इस अभिमानरूप पूर्वावस्था का ही 'ऊर्जस्वि रूढाहङ्कारम्' इस उक्ति से प्रतिपादन किया गया है।

रत्नेश्वर ने 'रूढाहङ्कारम्' की व्याख्या करते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि तात्कालिक निमित्तों के योग से वासना के विकास के कारण स्थायी रत्यादिभावों से असंसृष्ट प्रथम प्रादुर्भूत अभिमान ही अहङ्कार कहलाता है। और यह अहङ्कार रूढ अर्थात् सूक्ष्मावस्था से द्वितीय आविर्भावदशा में पहुँच गया है अतः इसे 'रूढ सूक्ष्मावस्थातो द्वितीयामाविर्भावदशामापन्नोऽहङ्कारो यस्य स' इस व्युत्पत्ति से रूढाहङ्कार कहा गया है।[1] यह प्रथम कोटि अर्थात् आन्तरिक अहङ्कार ही शृंगार

---

१ तात्कालिकनिमित्तोपनिपाते वासनाविकासवशात् तमोनिर्भेदस्थानम् सुप्तप्रबुद्ध इव स्थायिभिरसंसृष्टमात्र प्रथमप्रादुर्भूत अभिमान अहङ्कार इत्युच्यते। रूढ सूक्ष्मावस्थातो द्वितीयामाविर्भावदशामापन्नोऽहङ्कारो यस्य स रूढाहङ्कार। —स क भा टीका, पृ ६७-६८

रस की पूर्व कोटि है न कि चरमावस्था को प्राप्त रस। यह मूलभूत अहङ्कार रसिकों द्वारा रसनीय आस्वाद्य होने रस कहलाता है। और इसी के कारण रसिकों में रसिकोऽयम्' इत्याकारक रसिकत्वव्यवहार होता है। जैसा कि भोज ने कहा है—

> अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादेर्यः संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमानः।
> ज्ञेयो रसः स रसनीयतयाऽऽत्मशक्तेः रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः ॥[1]

यही अहङ्कार जब 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरत-वचन के अनुसार रत्यादिरूप से अनेक रूपों मे आविर्भूत होता है और पर-प्रकर्ष को तरफ बढ़ता है तब यही शृंगार की मध्यमावस्था कहलाती है। इसी का प्रतिपादन 'रसवद्रसपेशलम्' से किया गया है।[2]

विभाव, अनुभाव, व्यभिचारियों के द्वारा प्रकर्षप्राप्त रत्यादि भाव अभिमान-रूप रस की मध्यमावस्था है। रत्यादि भाव विभावादि से परिपुष्ट होने पर भी भोज के अनुसार रसपदवी को प्राप्त नहीं होते, अन्यथा ग्लान्यादि व्यभिचारिभाव भी श्रमादि से प्रकर्ष को प्राप्त कर रस कहलाने लगेंगे।

रत्यादि अधिककालस्थायी हैं तथा हर्ष, ग्लानि, चिन्ता आदि व्यभिचारि-भाव अधिककाल तक नहीं रहते, अतः स्थायी नहीं है। यह कथन उपयुक्त नहीं-क्योंकि भयानक रस का स्थायिभाव भय, हास्य का हास तथा करुण का शोक स्थायिभाव भी चिरकालस्थायी नहीं है। अतः चिरकालस्थितिरूप स्थायित्व भयहासशोकादि में व्यभिचरित है। उत्पन्नतीव्रसंस्कारत्वरूप स्थायित्व ग्लान्यादि व्यभिचारिभावों में भी है। विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी का संयोग भी हर्षादि व्यभिचारिभावों में विद्यमान है। क्योंकि तीव्र संस्कारों की उत्पत्ति विषय के आधिक्य तथा नायक की प्रकृति के कारण होती है। नायक की प्रकृति सात्त्विक, राजस व तामस भेद से तीन प्रकार की है। इन प्रकृतियों के कारण नायक की प्रकृति के अनुकूल ही उसमें भावजन्य अनुभाव होते हैं तथा उनकी भावना भी होती है। अतः ग्लानि चिन्ता आदि भी तामसप्रकृति वाले पुरुष में उत्पन्न होते हैं, तदनुकूल उन भावों के अनुभाव व चेष्टायें भी उस तामसप्रकृति वाले नायक में रहेंगे और उनकी भावना भी उसको होती रहेगी। अतः ग्लानि आदि भावों का भी तामस प्रकृति वाले नायक में स्थायित्व है। विषय के आधिक्य के कारण स्थायित्व माना जाय तो जिस प्रकार भय, शोक, हास आदि का आधिक्य लोक में दृष्टिगोचर होता है उसी प्रकार चिन्तादि व्यभिचारियों का आधिक्य भी दृष्टिगोचर है। अतः उन्हें भय, शोकादि की तरह स्थायी क्यों न माना जाय? अतः व्यभिचारियों में

---

१ शृङ्गारप्रकाश, पृ ३८१, भाग २

२ 'रसवद् रसपेशलम्' इत्यनेन विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिरिति रत्यादि-भावानामाविर्भवतः प्रतिवर्धमानस्य परप्रकर्षगामिनः शृङ्गारस्य मध्यमावस्थामवस्था-पयति। शृ. प्र भाग २, पृ ३८७

अस्थायित्व से तथा विभावानुभावव्यभिचारियों का संयोग न होने से रसरूपतापत्ति का निरास नहीं किया जा सकता,[1] भोज के निम्न पद्यों में इस अर्थ की स्पष्ट प्रतिपत्ति हो रही है—

> रत्यादयो यदि रसाः स्युरतिप्रकर्षं
> हर्षादिभिः किमपराद्धमतद्विभिन्नैः ।
> अस्थायिनस्त इति चेद् भयहासशोक—
> क्रोधादयो वद कियच्चिरमुल्लसन्ति ।।
> स्थायित्वमत्र विषयातिशयान्मतं चेत्
> चिन्तादयः कुत उत प्रकृतेर्वशेन ।
> तुल्यैव सात्मनि भवेत्, अथ वासनायाः
> सन्दीपनात्, तदुभयत्र समानमेव ।। शृ. प्र. प्रथम भाग, पृ ३

अतः जैसे ग्लानि, हर्ष आदि व्यभिचारी भाव भावनादशापन्न होने से भाव कहलाते हैं, उसी प्रकार प्रकर्षप्राप्त रत्यादि भी भावनादशापन्न होने से भाव ही कहलाते हैं रस नहीं।[2] रस भावनाविषयता से अतिक्रान्त तत्त्व है, अर्थात् भावना का विषय नहीं है।

विभावानुभावादि के द्वारा उत्पन्न होने वाले ८ रत्यादि भाव, ८ सात्त्विक भाव, ३३ निर्वेदादि व्यभिचारिभाव इस प्रकार ४९ भाव अहङ्काररूप शृङ्गार को परिवेष्टित करते हुए उस शृङ्गार का ही परिपोष या प्रकाशन करते हैं, जैसे ज्वाला, स्फुलिङ्गादि ज्योतियाँ अग्नि को परिवेष्टित करती हुई अग्नि की अभिवृद्धि करती हैं। वे ४९ भाव शृङ्गार के अङ्गतया उसके प्रकाशक हैं। जैसा कि निम्न पद्य से स्पष्ट है—

> रत्यादयोऽर्धशतमेकविवर्जिता हि,
> भावाः पृथग्विधविभावभुवो भवन्ति ।
> शृङ्गारतत्त्वमभितः परिवारयन्तः,
> सप्तार्चिषं द्युतिचया इव वर्धयन्ति ।। शृ. प्र. अध्याय १

---

१. यदप्युक्त परप्रकर्षगामी रत्यादिभावो रस इति तदप्यसारम् । ग्लान्यादिष्वपि तदुपपत्तेः । ग्लान्यादयोऽपि हि श्रमादिभिः परं प्रकर्षमारोप्यन्ते । न ते स्थायिन इति चेत् स्थायित्वमेवानुभवसंस्कारत्वम् । तीव्रसंस्कारोत्पत्तिश्च विषयातिशयवशात् नायकप्रकृतेश्च । प्रकृतिश्च त्रिधा सात्त्विकी राजसी तामसी । तद्वशाच्च तथाविधानुभावभावनोत्पत्तिः । तत्रवैषां स्थायित्वव्यपदेश इति । यच्चोक्तं विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् स्थायिनो रसत्वम् इति तदपि मन्दम्, हर्षादिष्वपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगस्य विद्यमानत्वात् । तस्माद् रत्यादयः सर्व एवैते भावाः, शृङ्गार एवैको रस इति । तैश्च सविभावानुभावैः प्रकाशमानः शृङ्गारः विशेषतः स्वदते । —शृ. प्र भाग १, पृ. ३५५

२ ते तु (रत्यादयस्तु) भाव्यमानत्वाद् भावा एव न रसाः । भावनया हि भाव्यमानो भाव एवोच्यते । भावनापथमतीतस्तु रसः इति । —शृ. प्र. भाग २, प्र. ११

प्राचीन आलङ्कारिकों ने शृङ्गार, वीर, करुण, रौद्र, हास्य, बीभत्स, भयानक, अद्‌भुत, वत्सल तथा शान्तनामक रसों का कथन किया है, किन्तु हम तो एकमात्र शृङ्गार को ही रस मानते हैं क्योंकि वही एकमात्र रसनीय है। यह शृङ्गार अहङ्काररूप गुणविशेष है न कि उत्कर्षप्राप्त रतिरूप है। वह तो रसिकों के द्वारा भाव्यमान होने से भावकोटि में प्रविष्ट है। इसी लिए भोज ने कहा है—

> शृङ्गारवीरकरुणाद्‌भुतरौद्रहास्य-
> बीभत्सवत्सलभयानकशान्तनाम्नः ।
> आम्नासिषुर्दश रसान् सुधियो, वयं तु
> शृङ्गारमेव रसनाद् रसमामनाम ॥
> वीराद्‌भुतादिषु च येह रसप्रसिद्धिः
> सिद्धा कुतोऽपि वटयक्षवदाविभाति ।
> लोके गतानुगतिकत्ववशादुपेता-
> मेतां निवर्तयितुमेष परिश्रमो नः ॥ शृ. प्र. भाग १

कदाचित् प्रकर्ष-प्राप्त रत्यादि में जो शृङ्गारादिरसशब्द का प्रयोग हुआ है, वह गौणी वृत्ति से है न कि मुख्य वृत्ति से।[1] अर्थात् अहङ्काररूप रस के अनुप्रवेश से वे रस कहलाया करते हैं न कि स्वतः रस्यमान होने से। मुख्यवृत्ति से अर्थात् रस्यमानता के कारण जो रसव्यवहार होता है वह तो समग्र आत्मगुणसम्पद् के उदयातिशयहेतु आत्मा के अहङ्कारविशेषरूप शृङ्गार में ही है। उसी का सहृदय आस्वादन करता है न कि रत्यादि का।

रत्यादि ४९ भाव—विभावों, अनुभावों व व्यभिचारियों के संयोग से प्रकर्ष को प्राप्त कर अभिमान के अनुप्रवेश से रसव्यपदेश को प्राप्त करते हैं। भोज के अनुसार यही रस की मध्यमावस्था है। अन्य आलङ्कारिकों के रस भोज की इसी मध्यमावस्था में आते हैं। इस मध्यमावस्था में भोज का रसविषय में अन्य आलङ्कारिकों से विरोध नहीं है। अन्तर इतना ही है कि अन्य आलङ्कारिक ९, १०, ११, १२ इत्यादिरूप से रसों की संख्या परिगणित मानते हैं क्योंकि भरत ने नाट्यशास्त्र में शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, बीभत्स, अद्‌भुत भेद से आठ रस माने हैं।[2]

भरत मुनि द्वारा नाट्य में मान्य इन आठ रसों से भिन्न शान्तरस की स्थापना भी अभिनवगुप्त ने महान् संरम्भ के साथ की है। अतः उसको मानने पर ९ रस होते हैं। इन से भिन्न दशम वत्सल को भी रस विश्वनाथ ने माना है। इसी

१. मनोऽनुकूलेषु दुःखादिषु सुखाभिमानो रसः। स तु पारम्पर्येण सुखहेतुत्वात् रत्यादिभूमसु उपचारेण व्यवह्रियते। अतो न रत्यादीनां रसत्वम् अपितु भावनाविषयत्वाद् भावत्वमेव।
—शृ. प्र. भाग १. पृ. ३५४-५५

२. शृङ्गारहास्यकरुणा रौद्रवीरभयानकाः।
बीभत्साद्‌भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥ —ना. शा. अ. ६ का. १५

प्रकार प्रेयस्, उद्धत व ऊर्जस्वी को भी कतिपय विद्वान् रस मानते हैं। जैसा कि भोज ने कहा—'न च अष्टावेवेति नियमः, यतः शान्तं प्रेयांसमुद्धतमूर्जस्विनं च केचित् रसमाचक्षते इति।'[1]

इस प्रकार प्राचीन आलङ्कारिकों ने रसों की संख्या परिमित मानी है, किन्तु भोज सभी भावों में विभावादिद्वारा प्रकर्ष को प्राप्त करने पर मध्यमावस्था-रूप रस का व्यवहार मानते हैं।[2] अहङ्काररूप शृङ्गाररस से उत्पन्न रत्यादि भाव ही उद्दीपन विभावों से उद्दीप्त होकर अहङ्काररूप शृङ्गार रस के अनुप्रवेश से रसशब्द से व्यवहृत होने वाले ये शृङ्गार, वीर, हास्य आदि उपचार रस भी तीन प्रकार के हैं—प्रकृष्ट, भावरूप और आभास। कथाशरीर में व्याप्त रहने वाले उत्तमनायक का उत्तमविषय में जो रत्यादिरूप रस उत्पन्न होता है वह प्रकृष्ट कहलाता है। मध्यमनायक में जो रत्यादिरूप रस उत्पन्न होता है, वह भावरूप कहलाता है। तथा तिर्यग्योनियों व प्रतिनायकादि में जो रत्यादि उत्पन्न होते हैं वे आभास (शृङ्गाराभास) कहलाते हैं।[3]

भोजमतानुसार अभिमानरूप शृङ्गार ही जब एक रस है वीरशान्तादि नहीं, तब एक शृङ्गार के द्वारा अनेकरससाध्य रससांकर्य व्यवहार कैसे उपपन्न होगा? इसका समाधान भी इसी से हो जाता है। अर्थात् रस की मध्यमावस्था में अहङ्काररूप शृङ्गार से उत्पन्न रत्यादि भाव उद्दीपन-विभावादिसंयोग से प्रकर्ष प्राप्त कर अभिमान के अनुप्रवेश से शृङ्गारादिरूप गौणरसव्यपदेश को प्राप्त होते हैं। अतः इस दशा में वीरादि रसों की सत्ता गौणरूप से स्वीकार्य होने से अनेकरससाध्य सांकर्य-व्यवहार उपपन्न हो जाता है।[4]

---

१. शृ. प्र. भाग २ अ. ११

२. रत्यादीनामेकपञ्चाशतोऽपि विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगात् परप्रकर्षाधिगमे रसव्यपदेशार्हता रसस्यैव मध्यमावस्था। —शृ. प्र. पृ. ३८१

३. तदुपाधिश्चायमुपजायमानो रसस्त्रिधा विख्यायते-प्रकृष्टो भावरूप आभासश्च। तत्र यः कथाशरीरव्यापिन उत्तमनायकस्य तथाविध एव विषये जायते स प्रकृष्टः। मध्यमस्य च उपजायते, न प्रकर्षमासादयति स भावरूपः। यश्च तिरश्चां प्रतिनायकादीनां च उपजायते स शृङ्गाराभासः। —शृ. प्र. अ. ११

४. अस्तु नाम गुणानां शब्दार्थदोषगुणभेदात् वैचित्र्ये निष्कल्मषतया सोल्लेखतया च सङ्कर-व्यवहारः, रसानां तु वीराद्भुतादीनां निरस्तत्वात् कथमिवैकः शृङ्गारः अनेकसाध्यं सङ्करव्यवहारं वर्तयति? उच्यते—

यद्यपि शृङ्गार एवैको रसः, तथापि तत्प्रभवा ये रत्यादयः तेऽप्युद्दीपनविभावैरुद्दीप्यमानाः तदनुप्रवेशादेव संचारिणामनुभावानां च निमित्तभावमुपयन्तो रसव्यपदेशं लभन्ते यथा ह्यभिमानो रत्यादीनां निमित्तं चेतसा रस्यमानो रसः, तथा रत्यादयोऽपि हर्षधृति-स्मितोत्साहादीनां मनोवाक्कायशरीरारम्भाणां च निमित्तम् अभिमानानुप्रवेशेनैव चेतसा रस्यमाना रसा इत्युच्यन्ते। युगपदभिधाने च सङ्करव्यवहारं वर्तयन्ति। ते तु उत्पत्तौ भावाः, प्रकर्षे रसाः, विपर्यये भावरसाभासाः, प्रविलये तत्प्रशमाः, इति अभिधीयमानाः सङ्कीर्यन्त' इति। —शृ. प्र. भाग २ पृ. ३९२

शृङ्गारप्रभव समस्तभावों में मूर्धाभिषिक्त रति जब चरमप्रकर्ष को प्राप्त कर भावनापथ से अतीत बन जाती है तब भावना का विषय न होने के कारण भावरूपता का परित्याग कर प्रेमरूप में परिणत हो जाती है। यही उस अहङ्कारात्मक शृङ्गाररस की पर या उत्तर कोटि है। इसी प्रकार हासादि अन्य भाव भी परमप्रकर्ष को प्राप्त कर भावनापथातीत होकर प्रेमरूप में परिणत हो जाते हैं। 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' यह दण्डी का वचन इसी प्रेमरस का संकेत दे रहा है।[1] यहाँ तात्कालिक निमित्तों के कारण वासना के विकास से सुप्तदशा में प्रादुर्भूत होने वाले मानमयविकाररूप अहङ्कारात्मक शृङ्गाररस की परिसमाप्ति है। अर्थात् प्रथमकोटि में प्रादुर्भूत आन्तरिक अहङ्काररूप शृङ्गाररस, उसी से उत्पन्न रत्यादि के उद्दीपनविभावों से उद्दीप्त प्रकर्षापन्न रत्यादि भावरूप मध्यमावस्था को प्राप्त होता हुआ अन्ततोगत्वा रत्यादि के परमप्रकर्ष को प्राप्त होने पर चरमप्रकर्षप्राप्त रत्यादि के भावनापथ से अतीत होने पर प्रेमरूप में परिणत हो जाता है। यही वास्तविक शृङ्गाररस है। भोज ने इसी प्रेमरूप शृङ्गार का निम्नपद्य में स्पष्टीकरण किया है—

> आभावनोदयमनन्यधिया जनेन
> यो भाव्यते मनसि भावनया स भावः।
> यो भावनापथमतीत्य विवर्तमानः
> साहङ्कृते हृदि नृणां स्वदते रसोऽसौ॥[2]

रत्यादि सभी ४९ भाव भावना द्वारा परमप्रकर्ष को प्राप्त कर प्रेमरूप में ही परिणत होते हैं। इसीलिए रतिप्रियः, रणप्रियः उत्साहप्रियः अमर्षप्रियः इस रूप से सभी भावों का प्रेम में ही पर्यवसान दृष्टिगोचर होता है, अतः अन्त में एक प्रेमाभिध रस ही रह जाता है। किन्तु रसास्वादानन्तर जिन भावों का परमप्रकर्ष प्रेमरसरूपता को प्राप्त हुआ है, उन भावों से विचित्रता प्राप्त कर वह प्रेम रतिप्रियः, उत्साहप्रियः इस रूप से कहा जाता है।

उपर्युक्त रीति से भोज ने स्वसम्मत शृङ्गार रस के परिपूर्णता पर पहुँचने तक उसकी तीन कोटियाँ मानी हैं। प्रथम कोटि में आत्मा में सूक्ष्मरूप में वासनारूप में विद्यमान अहंकार तात्कालिक निमित्त प्राप्त होने पर सुप्तप्रबुद्ध की तरह आविर्भावदशा को प्राप्त हो जाता है, किन्तु अभि तक स्थायिभावों से या अन्यभावों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। यह सुप्त अहंकारवासना का प्रबोधमात्र है।

द्वितीय कोटि में उस अहङ्कार से रत्यादि का आविर्भाव होता है और वे

---

1. 'प्रेयः प्रियतराख्यानम्' इत्यत्र समस्तभावमूर्धाभिषिक्ताया रतेः परप्रकर्षाधिगमात् भावनापथातिवर्ते भावरूपतामुन्मज्ज्य प्रेमरूपेण परिणताया उपादानात्, भावान्तराणामपि परप्रकर्षाधिगमे रसरूपेण परिणतिरिति ज्ञापयन् अहङ्कारस्य उत्तरां कोटिमुपसर्पति। —स. क. भा. पृ. ६१६
2. शृंगारप्रकाश, भाग २, पृ. ३३८

विभावादि मे प्रकर्ष को प्राप्त होते हैं। यह उसकी मध्यमावस्थारूप मध्यमकोटि है। इस कोटि में विभावादि से प्रकर्षप्राप्त रत्यादि भी रसिकों के द्वारा भाव्यमान होने से भाव कहलाते हैं न कि रस। उनमे रसव्यवहार तो रसिकों द्वारा रसनीय होने से अहङ्काररूप रस के अनुप्रवेश से होता है।

जब रत्यादि चरम प्रकर्ष को प्राप्त करते हैं उस समय वे भावनापथ से अतीत होकर प्रेमरस मे परिणत हो जाते हैं। यहीं पर अहङ्काररूप शृङ्गाररस की पूर्ण परिणति होती है।

भोज के अनुसार रसादि भावो से शृङ्गारादि रस का विकास नही होता, किन्तु आत्मा के गुणविशेष अहङ्काररूप शृङ्गार से रत्यादि भावो का आविर्भाव होता है। इसीलिए उन्होंने कहा है—

'तत्र केचिदाचक्षते—रतिप्रभवः शृङ्गार इति। वय तु मन्यामहे रत्यादीना-मयमेव प्रभव इति। शृङ्गारिणो हि रत्यादयो जायन्ते न अशृङ्गारिण.। शृङ्गारी हि रमते, रस्यते, उत्सहते, स्निह्यति, इति'। शृ प्र भाग २ ग ११

भोज 'रसेभ्यो भावा:, भावेभ्यो रसा', रसेभ्यो रसा',' आचार्य भरतोक्त इन तीनो ही पक्षो को स्वीकार नही करता। क्योकि चिरन्तन आचार्यों की तरह वह रत्यादिभावो से शृङ्गारादिरसोत्पत्ति नही मानता। 'रसेभ्यो रसा.' अर्थात् शृङ्गारादि रसो से हास्यादि रस उत्पन्न होते हैं—इस पक्ष को भी नही मानता। क्योकि उसके मत मे शृङ्गार ही एक रस है। अतः रसो से रसोत्पत्ति का प्रश्न ही नही उठता। 'रसेभ्यो भावा:' अर्थात् रसो से रत्यादिभाव उत्पन्न होते हैं—इस पक्ष को भी वह नहीं मानता। क्योकि जब शृङ्गार ही एक रस है अनेक है ही नही, तब रसो से भावोत्पत्ति मानना सभव नहीं। किन्तु वह 'रसाद् भावा:' अर्थात् एक ही अभिमानात्मक शृङ्गार से रत्यादि भावो की उत्पत्ति मानता है। इसीलिए उन्होंने कहा है—

'रसेभ्यो भावाः इत्यप्ययुक्तम्। न हि बहवो रसा', अपितु एक एव शृङ्गारो रसः।' —शृ. प्र. भाग २, पृ. ३७६

'रसः शृङ्गारः सोऽभिमानः स रस.। तत एव रत्यादयो जायन्ते।'

—शृ प्र भाग २, पृ. ३७६

'मतो यत्किञ्चिदेतत्—भावेभ्यो रसा, रसेभ्यो भावा रसेभ्यो रसा. इति। किं पुनरिह न्याय्यम्? यथा उपवर्णित पुरस्तात्—

अप्रातिकूलिकतया मनसो मुदादेः
यस्संविदोऽनुभवहेतुरिहाभिमानः।
ज्ञेयो रसस्स रसनीयतयात्मशक्तेः
रत्यादिभूमनि पुनर्वितथा रसोक्तिः॥ शृ. प्र पृ ३५१

आत्मस्थित महङ्कारस्प गुणविशेष को शृङ्गाररस मानने वाले भोज ने धर्म, अर्थ, काम, मोक्षरूप चतुर्वर्ग का भी अहङ्कार को ही कारण माना है तथा तत्तद्विषयक अभिमान को धर्मशृङ्गार, अर्थशृङ्गार, कामशृङ्गार व मोक्षशृङ्गार माना है। उनमे भोजराज ने श्रुतिस्मृतिविहित प्रवृत्तिनिवृत्तिनियमरूप आचार को धर्म बतलाते हुए श्रुतिस्मृतिविहितवाक्यों के अतिक्रमण न करने के अभिमान को धर्म-शृङ्गार माना है। धर्मशृङ्गार में मन, वाणी व काय के द्वारा निष्पन्न, धीरोदात्त-नायक की, चेष्टाओं का निरूपण होता है। इसमें भारती वृत्ति, पाञ्चाली प्रवृत्ति तथा प्राच्या रीति का प्रयोग होता है। नायिका स्वकीया होती है और नायक धीरोदात्त होता है। जैसा कि शृङ्गारप्रकाश के १८ वें अध्याय के अन्त में कहा है—

तदेतद् धर्मशृङ्गारे धीरोदात्तस्य चेष्टितम्
मनोवाक्कायचेष्टाभि स्पष्टमेवोपवर्णितम् ।
पाञ्चालीभारतीप्राच्याः रीतिवृत्तिप्रवृत्तय
स्वकीया नायिका चास्मिन् धीरोदात्तश्च नायकः ॥

शृ प्र पृ ७६३

अर्थशृङ्गार—अपने सुखसाधनभूत स्त्रीपुत्रमित्रादि का अर्जन ही अर्थ है। विद्यादि अर्थों के अर्जन तथा उनकी उपायभूत प्रवृत्तियों के अनतिक्रमण का अभिमान ही अर्थशृङ्गार है।

कामशृङ्गार—सामान्य व विशेष काम को चाहने वाले धीरललित नायक की तदनुकूल प्रवृत्ति में काम के उपायों के अनतिक्रमण का अभिमान, अर्थात् मैं कामोपायभूत उपायों का अतिक्रमण नहीं कर रहा हूँ—इत्याकारक अभिमान ही कामशृङ्गार है।

मोक्षशृङ्गार—तत्वज्ञान द्वारा निःश्रेयसप्राप्ति मोक्ष है। तत्वज्ञानादि शास्त्रीय उपायों से मोक्ष चाहने वाले पुरुष का, गृहस्थाश्रम में भी मोक्षप्राप्ति की योग्यता का, अभिमान ही मोक्षशृङ्गार है। अर्थात् मुझ में मोक्षप्राप्ति की योग्यता है। मैंने मोक्षशास्त्रों का अध्ययन किया है। मेरी चित्तवृत्तियां निर्मल हैं—इत्याकारक योग्यता का चित्त में अभिमान ही मोक्षशृङ्गार है। उपर्युक्त मोक्षप्राप्ति की योग्यतारूप अहङ्कार के निवृत्त हो जाने पर ही मोक्षप्राप्ति होती है, इससे पूर्व नहीं। जब तक अहङ्कार है तब तक मोक्षशृङ्गार है और उसकी निवृत्ति होने पर मोक्ष होता है। जैसा कि कहा है—

सति जीवत्यहङ्कारे पुरुषः पञ्चविंशकः।
तत्वज्ञानोपपन्नोऽपि न मोक्ष गन्तुमर्हति ॥

शृ प्र भाग ७, पृ ३३०

मोक्ष का यह स्वरूप सांख्यदर्शन पर आधारित है। निम्न तथ्यों से इसकी पुष्टि होती है—

१ आत्मस्थित अहङ्काररूप गुणविशेष पहिले से ही विद्यमान है। आगम, प्रत्यक्ष व अनुमान प्रमाणों से *उनका आविर्भावमात्र होता है।*[1] कारणसामग्री से या प्रमाणसामग्री से विद्यमान का आविर्भाव सत्कार्यवादी साङ्ख्यदर्शन ही मानता है।

२ दूसरी बात यह है कि अहङ्कार को प्रकृति का विकार बतलाया है। और साङ्ख्यदर्शन ही 'प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारस्तस्मात् गणश्च षोडशकः' इस साङ्ख्य-कारिका के अनुसार प्रकृति से तृतीय स्थान में अहङ्कार का विकास मानता है।

३ *तीसरी बात इसी अहङ्कार को 'जीवितमात्मयोने' इस उक्ति के द्वारा* काम या शृङ्गार का जीवित बतलाया है। और साङ्ख्यदर्शन में ही सात्त्विक अहङ्कार से सङ्कल्पात्मक मन का आविर्भाव बतलाया है। अत अहङ्कार से आविर्भूत होने के कारण अहङ्कार कामरूप सङ्कल्पात्मक मन का जीवन है।

४ चौथी बात यह है कि भोज ने अभिमानापरपर्याय अहङ्काररूप गुणविशेष की प्रतिबिम्ब द्वारा आत्मा स्थिति बतलाई है। और यह स्थिति साङ्ख्यदर्शनानुसारिणी ही है। क्योंकि साङ्ख्यदर्शन ही बुद्ध्यादि के गुणों का आत्मा में प्रतिबिम्ब द्वारा भान मानता है।

५ भोज आचार्य भरत के अनुसार रत्यादि भावों से रस-निष्पत्ति नहीं मानता अपितु अहङ्काररूप शृङ्गाररस से रत्यादिभावों का विकास मानता है। यह भी सांख्यदर्शनानुसारिणी मान्यता है। क्योंकि साङ्ख्यदर्शन प्रकृतिविकार अहङ्कार से मन का विकास मानता है और रत्यादि भाव मन के धर्म हैं अत अहङ्काररूप शृङ्गाररस से रत्यादि भावों का विकास साङ्ख्यदर्शनानुसार ही है।

६ *भोज ने पातञ्जल योगदर्शन पर भोजवृत्ति नामक व्याख्या लिखी है।* और योगदर्शन वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत, अस्मितानुगत-इन चार प्रकार की सम्प्रज्ञात (सबीज) समाधियों मे आनन्दानुगत समाधि का विषय अहङ्कार *को मानता है। अर्थात् इस समाधि मे अहङ्कार का साक्षात्कार होता है।* संभवत. भोज का आनन्दानुगत समाधि वाला अहङ्कार ही शृङ्गार रस है।

'सरस्वतीकण्ठाभरण' के व्याख्याकार भट्ट नृसिंह ने रसनिष्पत्तिपरक पञ्चम अध्याय मे 'रसोऽभिमानोऽहङ्कार.' इस श्लोक की व्याख्या म यह प्रतिपादन किया है कि भोज रस को रामादिपात्रगत मानता है न कि सामाजिकगत, क्योंकि सीतादिविभावों से रामादिपात्र में ही रति उत्पन्न होती है और वही अनुभाव, व्यभिचारी आदि से परिपुष्ट होकर रस कहलाती है।

दूसरी बात यह है कि रस को सामाजिकगत मानने पर उसके उत्पादक व ज्ञापक कारण कौन होंगे ? क्योंकि सीतादि विभाव तो रामादि-पात्रगतरस के ही कारण हैं।

---

१ प्रमाणत्रयोपायादिना च शृङ्गारः सन्नेवाविर्भवति। —शृ प्र भाग २, पृ ४४

क्योंकि आस्वादानुभवजनित प्रमोद (आनन्द) सामाजिकों को होता है और यह प्रमोद ही रस है जैसाकि 'रसो वै स' इत्यादि तैत्तिरीय श्रुति बतला रही है।

रस को रामादिपात्रगत मानने पर इतिहासप्रसिद्ध कथावस्तु वाले काव्य में तो पात्र की वास्तविक सत्ता होने से रस की स्थिति पात्र में बन सकती है। किन्तु कविकल्पित कथावस्तु वाले काव्यों में पात्र के कविकल्पित होने के कारण उसकी वास्तविकता सत्ता न होने से उसमें रसस्थिति कैसे बनेगी? इस शङ्का का समाधान करते हुए कहा है कि—कवि के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह वास्तविक सत्तावाले पात्र का ही निबन्धन करे। वह तो रस के आश्रयभूत पात्र का निबन्धन करता है वह चाहे इतिहासप्रसिद्ध वास्तविक हो या कविकल्पित होने से अवास्तविक हो। कवि का कार्य रस के आश्रयरूप से प्रतिपाद्यमान पात्र द्वारा सहृदयहृदय में प्रमोद उत्पन्न करना है। और वह कार्य अवास्तविक अर्थात् कवि-कल्पित से भी हो सकता है।[1]

निष्कर्ष—

भोज की मान्यता है कि—

(1) रस एक ही है जिसे अहङ्कार, अभिमान या शृङ्गार कहते हैं। यह प्रत्येक सस्कृत रसिकव्यक्ति में रहता है। रसिक वही है जो कि प्राक्तन सुकृतों के प्रभाव से रसानुभूतियोग्य हृदय से युक्त है तथा जिसमें यह अहङ्काररूप शृङ्गाररस विद्यमान है।

(2) शृङ्गाररूप रस मूलतत्त्व है। इसी का हम रत्यादि भावों के रूप में आस्वादन करते है क्योंकि प्रसिद्ध रत्यादिभाव इसी अभिमानरूप शृङ्गाररस से उत्पन्न होते हैं। इसीलिए भरत ने 'रसाद् भावा' अर्थात् रस से भावों की उत्पत्ति बतलायी है। समस्त भाव इसी एक शृङ्गाररूप रस के विवर्तरूप हैं।

(3) शृङ्गार ही एक स्थायी रस है। रत्यादि ४९ भाव इसी के रूपान्तर या इसी के प्रकाशनमात्र हैं और अहङ्काररूप शृङ्गार को अधिकमात्रा में प्रकाशित करते हैं।

(4) रत्यादि ४९ भाव जब अहङ्काररस से उत्पन्न होकर प्रकर्ष को प्राप्त करते हैं और अपने में भिन्न व्यभिचारिभावों से परिपुष्ट होते हैं उस प्रकर्षावस्था में भी उनमें भावत्व अक्षुण्ण रहता है। किन्तु चरमप्रकर्षावस्था में ये भावनापथ से अतीत होकर प्रेमरस में परिणत हो जाते हैं।

(5) केवल चिरन्तनसम्मत रत्यादि ८ स्थायिभाव ही विभावादि से परि-पुष्ट होकर अहङ्काररस की मध्यमावस्था कोटि को प्राप्त नहीं होते किन्तु चिरन्तन-

1. सरस्वतीकण्ठाभरण, भट्टनृसिंहरत्नव्याख्या, पृ. १४७

सम्मत स्थायी, सात्त्विक तथा व्यभिचारी सभी भाव स्वस्वविभावादि से परिपुष्ट होकर अहङ्काररूप शृङ्गाररस की मध्यमावस्थाम्य रसत्व को प्राप्त करते हैं। तथा चरमप्रकर्षावस्था मे भावनापथ का उल्लघन कर ये सभी एक प्रेमरस में परिणत हो जाते हैं।

समीक्षा—

भोज ने अहङ्काररूप शृङ्गार से रत्यादि भावो का विकास माना है वह उचित ही है, क्योकि सात्त्विक अहङ्कार से मन का प्रादुर्भाव पौराणिक साख्यदर्शन मानता है और रत्यादि भाव मन के ही धर्म हैं। किन्तु विभावादि के सयोग से प्रकर्षप्राप्त रत्यादि का भाव ही मानना, रस न मानना समुचित नहीं। क्योंकि सहृदयतासहकृत भावना के द्वारा रत्यादि के कारण, कार्य व सहकारिकारण का साधारणीकरण हो जाने पर उनकी चर्वणा से रसिक सामाजिको के हृदय मे सूक्ष्मरूप से विद्यमान रत्यादि की अभिव्यक्ति या आविर्भाव साधारणीभाव से ही अनुभव-सिद्ध है। उन साधारणीभूत रत्यादि स अवच्छिन्न आनन्दरूप आत्मचैतन्य का आस्वाद (अनुभव) लौकिक प्रत्यक्षादिप्रमाणो से भिन्न अलौकिक रसनाप्रतीति के द्वारा होता है। उस समय उस ज्ञान मे प्रधानता आनन्दरूप आत्मचैतन्य की है और रत्यादि गुणीभूत रहकर उस आनन्द मे वैचित्र्यमात्र उत्पन्न करते हैं। किन्तु सामाजिक के उस भाव में तन्मय हो जाने पर उस गुणीभूत रत्यादि की चित्रता भी प्रतीत नहीं होती और आनन्दमात्र की प्रतीति ही होने लगती है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने कहा है—'अस्मन्मते सवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते। तत्र का दुःखाशङ्का। तस्यैव चित्रताकरण रतिशोकादिवासनाव्यापार। तदुद्बोधने चाभिनयादिव्यापार.'।[1]

यहाँ पर 'सवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते' मे 'एव' पद के उपादान द्वारा यह बोधित किया है कि रसास्वाददशा मे उस आनन्द में चित्रता उत्पन्न करने वाली रत्यादिवासना की भी आनन्द से भिन्न प्रतीति नहीं होती। उनकी पृथक् प्रतीति उस समय नहीं के समान है। पश्चात् उत्तरकाल में आनन्द में वैचित्र्य के उत्पादक वासनामय रत्यादि की प्रतीति होती है। अत रसिक द्वारा रत्यादिभावों की भावना करने का प्रश्न ही नही उठता। ठीक यही स्थिति विभावादि के द्वारा रत्यादि के परप्रकर्ष में है। रत्यादि के परप्रकर्ष को प्राप्त करने पर रसिक का चित्त सत्त्वप्राधान्य के कारण अन्तर्मुख होकर रत्यादिवासना से मिश्रित आनन्दरूप आत्मा में निमग्न हो जाता है। उस समय रत्यादि की भावना नष्ट हो जाती है और वे भावनापथ का अतिक्रमण कर जाते हैं। अत. उनको रस मानने में क्या आपत्ति है? स्वय भोज ने भी तो रत्यादि के परप्रकर्ष में रत्यादि को भावनापथ से अतीत मानकर रत्यादि सभी भावो की प्रेमरूप मे परिणति मानी है। और उस प्रेम में रत्यादिवासनाजन्य चित्रता

---

१ अभिनवभारती, पृ २९२

भी स्वीकार की है। तभी तो रतिप्रिय, उत्साहप्रिय, अमर्षप्रिय इत्यादिरूप से प्रेम में भेद स्वीकार किया है।[1]

भोज ने रत्यादि के परमप्रकर्षप्राप्ति की प्रेमरसरूप में परिणति मानकर रत्यादि के परा कोटि पर आरोह को शृङ्गारादि रस मानने वाले दण्डी के मत का ही तो अवलम्बन लिया है। क्योंकि दण्डी ने—

रतिः शृङ्गारतां गता रूपबाहुल्ययोगेन' (काव्यादर्श २ २८१)

'अधिरुह्य परां कोटिं कोपो रौद्रात्मतां गतः' (काव्यादर्श २, २८३)

में रति के परम प्रकर्ष को शृङ्गार तथा कोपभाव के परा कोटि पर अधिरोहण को रौद्ररस बतलाया है। रत्यादि का परा कोटि पर आरूढ होना भोजसम्मत रत्यादि की परमप्रकर्षावस्थाप्राप्ति ही तो है। दोनों एक ही वस्तु हैं। ऐसी स्थिति में रत्यादिभावों की परमप्रकर्षप्राप्ति का प्रेमरस मानना तथा चिरन्तनसम्मत रत्यादि की परप्रकर्षप्राप्ति को शृङ्गारादिरस स्वीकार न करना साहसमात्र ही कहा जा सकता है।

(२) यदि यह कहा जाय कि भोज का केवल प्रेमरूप शृङ्गार को ही रस मानना चिरन्तन आचार्यों की अपेक्षा नवीनता है। क्योंकि चिरन्तन आचार्यों ने शृङ्गारादि आठ या नौ रस ही माने हैं। किन्तु यह नवीनता भी अकिञ्चित्कर है, क्योंकि अभिनवगुप्त ने भी—

'सवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते' इस उक्ति के द्वारा एक ही रस को स्वीकार किया है। अर्थात् जब सहृदय अपने साधारणीभूत रत्यादिभावों की चर्वणा करते हुए सत्त्वप्राधान्य के कारण अन्तःकरण के अन्तर्मुख होने पर आनन्दरूप आत्मा का आस्वादन (ज्ञान) करता है उस समय एक अखण्डानन्द की ही अनुभूति होती है। रत्यादिभावों की पृथक् प्रतीति उस समय नहीं होती। रसास्वादानन्तर उस आनन्द में वैचित्र्य का आधान करने वाले रत्यादि की प्रतीति होती है। यही बात भोज ने भी रत्यादिभावों की, परमप्रकर्षप्राप्ति होने पर प्रेमरूप में, परिणति मान कर तथा 'रतिप्रिय, अमर्षप्रिय, उत्साहप्रिय' इस रूप से प्रेमरस में आस्वादानन्तर वैचित्र्य मान कर कही है।

जैसा कि अभिनवगुप्त ने लोचन में कहा है कि रसाभासस्थल में भी सहृदय को आस्वादवेला में, तन्मयीभावदशा में रति का ही आस्वाद होता है। अतः उस समय शृङ्गार की चर्वणा है हास्य रस की नहीं। पश्चात् आस्वादानन्तर यह रति अनुचितविभावालम्बनता के कारण अनुचित है इत्याकारक अनौचित्यज्ञान रति में

---

1 रस रिवह प्रेमाणमेवामनन्ति। सर्वेषामिह रत्यादिप्रकर्षाणां रतिप्रियो रणप्रियोऽमर्षप्रिय परिहासप्रिय इत्येव प्रेम्णैव पर्यवसानात्। —शृ. प्र. भाग-२, पृ. ३३।

होता है तब उसे आभास कहा जाता है। और तभी हास्य की प्रतीति होती है।[1] उसी प्रकार प्रकृत में भी रसास्वादवेला में सभी सहृदयों को अखण्डैकरस आनन्द की ही प्रतीति होती है। रत्यादि की वासना उस समय आनन्दघन संवेदन से पृथक् प्रतीत नहीं होती। आस्वादानन्तर उस आनन्दघन संवेदन में वैचित्र्याधायक रत्यादिवासना का प्रतीति होती है। अत वस्तुत रस एक ही है। पश्चात् प्रतीयमान रत्यादि-वासना के भेद से शृङ्गारादि भेद होते हैं।

(२) भोज ने रत्यादि स्थायिभावों तथा निर्वेदादि व्यभिचारिभावों में स्थायिता व अस्थायिता का भेद न मानकर कहा है कि सभी ४९ भाव स्वम्-विभावादि से उत्कर्ष को प्राप्त कर रसपदवी को प्राप्त होते हैं। किन्तु भोज का यह कथन भी निराधार है।

अभिनवगुप्त ने रत्यादि भावों में स्थायिता का उपपादन करते हुए स्पष्ट कहा है कि प्राणी रत्यादिसंवित् से सदा युक्त रहता है। क्योंकि वह दु खसम्पर्क से विद्वेष करता है तथा सुखास्वादन में आदर रखता है। प्रत्येक प्राणी सदा यही चाहता है कि 'सुख मे भूयात, दु ख मे मा भूत्' अर्थात् मुझे सुख प्राप्त हो और दु ख कभी न हो। इस प्रकार वह रमण (आनन्द) की इच्छा रखता है। यह रमण ही रतिभाव है। प्राणी स्वयं को उत्कृष्ट मान कर दूसरे को निकृष्ट समझता हुआ उसका उपहास करता है। यही हास भाव है। वह अभीष्ट वस्तु के वियोग से सदा सन्तप्त होता है, यह भाव ही शोक है। अभीष्ट वस्तु के वियोग के कारणों पर वह क्रोध करता है, यही क्रोध भाव है। अभीष्ट वस्तु के वियोग के कारणों का प्रतीकार करने में असमर्थ होकर वह उनसे डरता है, यही भय भाव है। नवीन अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति की इच्छा भी करता है और उसकी प्राप्ति के लिए उसके मन में उत्साह होता है, यही उत्साह भाव है। किसी वस्तु को अनभिप्रेत मानता हुआ उस अनुचित वस्तु से विमुख रहता है, यही जुगुप्सा भाव है। आश्चर्यजनक कार्यों के देखने से उसे विस्मय भी होता है, यही विस्मय भाव है। तथा किसी वस्तु के परित्याग की इच्छा भी रखता है। यही त्याज्य वस्तु के प्रति उसका निर्वेद भाव है। इस तरह उपर्युक्त रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय, निर्वेद ये चित्त-वृत्तियाँ वासनारूप से प्राणी में सदा रहती हैं। इनका प्राणी में कभी अभाव नहीं होता। अत. इन्हें स्थायी चित्तवृत्ति माना गया है। इतना अवश्य है कि किसी न किसी चित्तवृत्ति की न्यूनता व किसी की अधिकता होती है।

ग्लानि, शङ्का, श्रम आदि चित्तवृत्तियाँ इन के समुचित विभावों के अभाव

1 रत्यादिचित्तवृत्तेरनौचित्येन प्रवृत्तौ तदाभासः रावणस्येव सीतायां रतः। यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव, 'शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यम्' इतिवचनात्। तथापि पाश्चात्येयं कल्पनाः। प्रथमं स्थिति। तन्मयीभवनदशायां तु रत्यास्वादतया शृङ्गारतैव भाति।

—ध्वन्यालोकलोचन, पृ ७८,७९

मे जीवनकाल में नही रहती। जैसे रसायन का उपयोग करने वाले मुनि मे, ग्लानि, आलस्य, श्रम आदि चित्तवृत्तियाँ उत्पन्न ही नही होती। जिस प्राणी मे उचित विभावो से उत्पन्न होती हैं उसमे भी विभावरूप कारण के नष्ट हो जाने पर नष्ट हो जाती हैं और संस्काररूप से भी शेष नही रहती। तथा उत्साहादि चित्तवृत्तियाँ विभावादि के नष्ट हो जाने पर लीन सी प्रतीन होती हुई भी संस्काररूप से विद्यमान रहती हैं। उत्साहजन्य एवं कार्य के समाप्त हो जाने पर तत्कार्यविषयक उत्साह के न रहने पर भी कर्मान्तरविषयक उत्साह की सत्ता रहती है।

अपि च यह पुरुष ग्लानि से युक्त है यह कहने पर ग्लानि किस कारण से है इत्याकारक हेतुविषयक प्रश्न उत्पन्न होता है। किन्तु राम उत्साह से युक्त है यह कहने पर उत्साह किस कारण से है इत्याकारक हेतुविषयक प्रश्न का उत्थान नही होता। इस प्रकार हेतुविषयक अनुत्थान व उत्थान रत्यादि भावो मे स्थायिता तथा ग्लानि आदि व्यभिचारिभावो मे अस्थायिता को सूचित कर रहा है। क्योंकि सदा रहने वाले भाव मे कारणजिज्ञासा नही होती। रत्यादि स्थायिभावों के वासनारूप से सदा रहने पर भी उनके कारण विभावादि के प्रदर्शन की आवश्यकता उनके औचित्य व अनौचित्य के प्रदर्शनार्थ है।

उपर्युक्त रीति से रत्यादि स्थायिभावो व ग्लान्यादि व्यभिचारिभावो मे मौलिक भेद होने से दोनों को ही स्थायी या व्यभिचारी (अस्थायी) नही माना जा सकता। और रत्यादि की तरह हर्षादि व्यभिचारिभावो का विभावादि से प्रकर्ष भी नही बन सकता। हर्षादि व्यभिचारियों के विभाव कुछ समय के लिए उनका प्रतिभास करा सकते हैं। प्रकर्ष तो चिरकालस्थायी भाव मे बन सकता है अस्थायी मे नहीं। अत:—

'रत्यादयो यदि रसा: स्युरतिप्रकर्षे हर्षादिभि: किमपराद्धमतद्विभिन्नै'। यह भोज का कथन समीचीन प्रतीत नही होता।

(४) आचार्य भरत आदि ने रसास्वाददशा मे साधारणीकृत अत एव सर्वविधविशेषता-सम्बन्धरहित, रत्यादिवासनाजनित सामान्य चित्तता को छोड कर विषयान्तरसम्पर्कशून्य आनन्दघन संवेदन में सहृदय के चित्त की विश्रान्ति मानी है। इसीलिए रसास्वाद को ब्रह्मास्वादसहोदर माना है। यदि उस समय भी किसी प्रकार के अभिमान की सत्ता है तो उसे रस कैसे माना जा सकता है। रसास्वाददशा तो मोक्षदशा के समान है। और मोक्ष मे अभिमान का सर्वथा अभाव होता है। भोज भी इस तथ्य को स्वीकार करते हैं। इसीलिए मोक्षशृङ्गार का वर्णन करते हुए उन्होंने कहा है कि—गृहस्थाश्रम मे भी मोक्षप्राप्ति की योग्यता का चित्त मे अभिमान ही मोक्षशृङ्गार है। इसके अनन्तर ही—

मयि जीवत्यहङ्कारे पुरुष: पञ्चविंशक:।
तत्त्वज्ञानोपपन्नोऽपि न मोक्षं गन्तुमर्हति॥

इस पदय के द्वारा अभिमान होने पर मोक्षप्राप्ति का अभाव बतलाया है। जिस प्रकार चित्त में अभिमान की सत्ता होने पर मोक्षप्राप्ति नहीं हो सकती, उसी प्रकार अभिमान की सत्ता चित्त में होने पर रसास्वाद भी नहीं बन सकता। अत अभिमान को रस नही माना जा सकता। जब अभिमान रस नहीं तब अभिमानरूप रस के धर्मशृङ्गारादि भेद भी अनुपपन्न हैं।

(५) भोज का रस को पात्रगत मानना तथा सामाजिकगत न मानना भी उचित प्रतीत नहीं होता, क्योंकि नाटयदर्शन तथा काव्यश्रवण के समय रामादि पात्र की स्थिति नहीं है। तथा कवि काव्य का निर्माण व नट नाटय का अभिनय सहृदय के रसास्वादन के लिए करता है न कि रामादिपात्र के रसास्वादन के लिए। इसी-लिए धनञ्जय ने—

रस स एव स्वाद्यत्वाद् रसिकस्यैव वर्तनात्।
नानुकार्यस्य वृत्तत्वात् काव्यस्यातत्परत्वत ॥[1]

इस पदय के द्वारा रस की अनुकार्य-रामादिगतता का निषेध कर सामाजिकगतता का प्रतिपादन किया है। भोज के अनुसार रस की पात्रगतता का प्रतिपादन करने वाले भट्ट नृसिंह ने भी—

'रसस्य पात्रगतत्वेऽपि कविस्तदुचितै शब्दै सामाजिकचेतसि साक्षादिव रस समर्पयति। तत्समर्पित रसमनुभवन्त सविदास्वादातिशयेन विस्मृतस्वपरभेदास्ते, तदनुभवजनितप्रमोदस्य तदुचितस्तम्भतनूरुहोद्भेदादिप्रापकस्य भाजन भवन्ति।'

इस उक्ति के द्वारा रसोचित शब्दो द्वारा कवि सामाजिकों के चित्त में साक्षात् की तरह रस का समर्पण करता है, यह बतलाते हुए सामाजिकों के चित्त में रसानुभूति व तज्जनित प्रमोद की स्थिति कही है। अत प्रकारान्तर से रस की स्थिति काव्यशब्दो द्वारा सामाजिक में होती है इस बात को सिद्ध कर दिया है। अत रस की स्थिति सामाजिकगत है यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है।

मम्मट

काव्यप्रकाशकार मम्मट का रस के विषय में कोई अभिनव योगदान नहीं है। उन्होंने आचार्य भरत के नाटयशास्त्र के व्याख्याकार भट्ट लोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक व अभिनवगुप्त ने जो जो रसस्वरूप बतलाया था उसी का सक्षिप्त, स्पष्ट व निर्भ्रान्त शब्दों में प्रतिपादन किया है। वे स्वय रस के विषय में अभिनवगुप्त के मत को स्वीकार करते हैं। इस तथ्य का उन्होंने 'इति श्रीमदाचार्याभिनवगुप्तपादा' इस रूप से आदरद्योतक बहुवचन का प्रयोग करके व्यक्त कर दिया है। जब कि रस-विषयक अन्य आचार्यों के मतों का प्रतिपादन करने के बाद वे 'इति श्रीशङ्कुक' 'इति भट्टनायक' इस रूप से एक वचन का प्रयोग करते हैं।

---

१. दशरूपक, चतुर्थप्रकाश, का ३८

यद्यपि भट्टलोल्लट के रसविषयक मत का निरूपण करने के बाद 'इति भट्टलोल्लटप्रभृतय:' इस रूप से बहुवचन का प्रयोग किया है। किन्तु वह मत एकाकी भट्टलोल्लट का नहीं है अपितु भट्टलोल्लट के समान उपचित स्थायिभाव को रस मानने वाले, दण्डी भामहादि चिरन्तन आचार्यों का भी उस मे समावेश है। इसीलिए प्रभृति शब्द का प्रयोग है। अर्थात् उस मत को स्वीकार करने वाले एक से अधिक आचार्य है। अत: वहाँ अनेकत्व के अभिप्राय से बहुवचन का प्रयोग हुआ है न कि आदरार्थक बहुवचन का।

अभिनवगुप्त ने रस का स्वतन्त्र विवेचन नहीं किया किन्तु नाटयशास्त्र की अभिनवभारतीनामक व्याख्या मे तथा ध्वन्यालोक की लोचनव्याख्या मे प्रसङ्गानुसार रस का विवेचन किया है। अत: उन ग्रन्थो की व्याख्या मे जहाँ जहाँ रसविषक तत्त्वों का प्रसङ्ग आया वहाँ वहाँ उन तत्त्वो का विवेचन किया। इसलिए व्यवस्थित-रूप से एकत्र रस का *विवेचन नहीं हुआ। वाग्देवतावतार मम्मट ने अभिनवप्रति-*पादित रस का ही एकत्र व्यवस्थित तथा संक्षिप्त निरूपण प्रस्तुत किया।

आगे के आलङ्कारिको ने प्राय: अभिनवसम्मत तथा मम्मट द्वारा सुव्यवस्थितरूप से प्रतिपादित रस को ही प्रामाणिक मान कर सामान्य से परिवर्तन के साथ उसे ही स्वीकार किया। इन आचार्यों मे प्रधान हेमचन्द्र, विश्वनाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ हैं।

शारदातनय

शारदातनय ने 'भावप्रकाशन' मे आचार्य भरत, भरत के पूर्ववर्ती नारद, *व्यास, पद्मभू, वासुकि आदि आचार्यों के तथा भरत के उत्तरवर्ती भरतकृत नाटय-*शास्त्र में उल्लिखित रससूत्र 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति:' की व्याख्या करने वाले भट्टलोल्लट, शङ्कुक, भट्टनायक, धनञ्जय, धनिक, भोज व अभिनवगुप्त के रसविषयक मतों का उल्लेख किया है। इन में कतिपय आचार्यों के *मतों का अति सामान्यरूप से तथा कतिपय आचार्यों के मतों का कुछ विस्तार से* निरूपण किया है।

भावप्रकाशन के तृतीय अधिकार मे शारदातनय ने भट्टलोल्लट के रसविषयक मत का निम्न कारिकाओं में प्रतिपादन किया है—

> तस्माद्विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभि:।
> वर्धिता: स्थायिनो भावा नायकादिसमाश्रया:॥
>
> अनुकारतया नाट्ये क्रियमाणा नटादिषु।
> रसतां प्रतिपद्यन्ते सामाजिकमनस्सु ते॥

यहाँ विभाव, अनुभाव, सात्त्विक तथा व्यभिचारिभावो से वर्धित (परिपोषित) स्थायिभावो को रस बतलाया है और यह रस नायकादि मे रहता है।

भट्टलोल्लट विभावादि से परिपोषित स्थायिभाव को रस मानता है। उसकी मुख्यरूप से स्थिति अनुकार्य रामादि नायक में मानता है। नायकस्थ रस का सामाजिक से सम्बन्ध नहीं हो सकता। तथा अभिनयकाल में नायक रामादि की सत्ता भी नहीं है। अतः नायकगत रस को देख कर भी सामाजिकमन में आनन्द की अनुभूति नहीं हो सकती। इस के लिए भट्टलोल्लट ने नाट्य में आङ्गिक, वाचिक, आहार्य आदि अभिनयों के द्वारा रामादि का अनुकरण करने वाले नट में भी, रामादि का अनुसन्धान या आरोप कर गौणरूप से रस की स्थिति मानी है और उसी आस्वाद्य रति के ज्ञान से सामाजिकों के चित्त में चमत्कार माना है। इसी तथ्य का 'अनुकार-तया नाट्ये' इत्यादि कारिका में प्रतिपादन किया है। अतः भट्टलोल्लट के मत का ही दिग्दर्शन यहाँ शारदातनय ने किया है, यह स्पष्ट सिद्ध है।

भावप्रकाशन के द्वितीय अधिकार में शारदातनय ने—

रामोऽयमयमेवेति येयं प्रेक्षकधीर्नटे।
अनुकार्येऽपि रामादौ सा सम्यगिति कथ्यते॥

इस कारिका से आरम्भ कर—

अत्रासन्नपि रत्यादि: स्वाद्यते तैं रसात्मना।

इस कारिका तक ९ कारिकाओं में शङ्कुक के रसविषयक मत का निरूपण किया। इन में आदि की तीन कारिकाओं में सम्यग्ज्ञान, मिथ्याज्ञान, संशयज्ञान व सादृश्यज्ञान का स्वरूप बतला कर इससे आगे की दो कारिकाओं में सामाजिकों द्वारा अभिनयकाल में नट में रामत्वप्रकारक ज्ञान को उपर्युक्त चारों प्रकार की प्रतीतियों से भिन्न बतला कर चित्रतुरगज्ञान के समान नट में रामत्वप्रकारक ज्ञान को सिद्ध किया है। इससे आगे की तीन कारिकाओं में बतलाया गया है कि नट द्वारा अभिनीयमान विभावादि कृत्रिम हैं फिर भी नट उनका अभिनय शिक्षा-भ्यास द्वारा प्राप्त कौशल से इस प्रकार करता है कि सामाजिक उन्हें कृत्रिम नहीं समझते और रति से अविनाभूत इन विभावादि से वे नट में रति का अनुमान कर लेते हैं। नट में अनुमीयमान व अविद्यमान वह रति वस्तुसौन्दर्यबल से सामाजिकों के ज्ञानरूप आस्वाद का विषय बन कर सामाजिकों में चमत्कार उत्पन्न करने के कारण रस कहलाती है।[1]

किन्तु इस मत का निरूपण करने के बाद शारदातनय ने—

एवं केचिद्वदन्त्येता नटे रामादिधीमुपोम्।
नैवमित्येव भरता नाट्यवेदार्थदर्शिनः॥

1. वस्तुसौन्दर्य सोऽपि रसनीयत्वमस्नुते।
अन्यानुमीयमानत्व स्वादित्वेन विभाविन।
अत्रासन्नपि रत्यादि स्वाद्यते तैं रसात्मना।
—भावप्रकाशन, अधिकार २, पृ ३१

इत्यादि सन्दर्भ से नट में रामत्वप्रकारक ज्ञान जिस प्रकार मिथ्याज्ञानादिरूप नहीं हो सकता। उसी प्रकार वह चित्रतुरगज्ञान से भी भिन्न है। क्योंकि नट चेतन है तथा चित्रतुरग, चित्रलिखित वस्तु के कृत्रिम होने से, कृत्रिम है। अतः उनमें साम्य न होने से उसे चित्रतुरगज्ञान के समान नहीं माना जा सकता।[1]

इसी प्रकार शारदातनय ने भावप्रकाशन के षष्ठ अधिकार में धनञ्जय के मत का निम्नकारिकाओं में विवेचन किया है—

> काव्योपात्तैर्विभावादिभावैः समुपबृंहितः।
> स्थायी रसात्मतां यातस्तत्र वाक्यार्थतामियात्॥
>
> वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा क्रिया यथा।
> वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता स्थायी भावस्तथेतरैः॥
>
> शब्दोपात्तक्रिया ज्ञाताऽथवा प्रकरणादिभिः।
> कारकादिविशिष्टैव यथा वाक्यार्थतामियात्॥
>
> तथा विभावानुभावसात्त्विकव्यभिचारिभिः।
> स्थायी विशिष्टः काव्यादिवाक्यार्थो भवति स्फुटम्॥
>
> तेन रत्यादिशब्दानामप्रयोगेऽपि कुत्रचित्।
> रसभावप्रतीतिस्तु तत्तद्वाक्येषु सेत्स्यति॥[2]

भोज के अहङ्काररूप शृङ्गाररस की धारणा का भी उल्लेख शारदातनय ने किया है। जैसे—

> तात्पर्यमेव वचसि ध्वनिरेव काव्ये,
> सौभाग्यमेव गुणसम्पदि वल्लभस्य।
> लावण्यमेव वपुषि स्वदतेऽङ्गनायाः,
> शृङ्गार एव हृदि मानवतो जनस्य॥[3]

नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत तथा भरतवृद्ध के रसविषयक मतका भी प्रदर्शन शारदातनय ने भावप्रकाशन के द्वितीय अधिकार में किया है:—

---

१. चित्रे लिखितवस्तूनां मन्यन्ते कृत्रिमात्मताम्।
सर्वेऽपि यत्ततश्चित्रतुरगाभा न धीर्भवेत्॥
नटादेश्चेतनत्वेन चित्रस्याचेतनत्वेन।
तस्मान्नसाम्यं क्वापि न चित्रादिमतिर्भवेत्॥
—भावप्रकाशन, द्वितीय अधिकार, पृ. ५१

२. भा. प्र. अधिकार षष्ठ, पृ. १४६

३ ,, ,, ,, पृ. १५०

विभावाद्यैर्यथास्थानप्रविष्टैः स्थायिनः स्मृताः।
चतुर्विधैश्चाभिनयैः प्रपद्यन्ते रसात्मताम् ॥

विभावैश्चानुभावैश्च सात्त्विकैर्व्यभिचारिभिः।
आनीयमानः स्वादुत्वं स्थायी भावो रसः स्मृतः ॥

व्यंजनौषधिसंयोगो यथाऽन्नं स्वादुतां नयेत्।
एवं नयन्ति रसतामितरे स्थायिनं श्रिताः ॥[1]

अर्थात—यथास्थानप्रविष्ट विभावादि तथा आङ्गिकादिरूप चारों प्रकार के अभिनयों द्वारा स्थायिभाव रसत्व को प्राप्त होते हैं। विभाव, अनुभाव, सात्त्विक व व्यभिचारी भावों से स्वादुत्व (आस्वाद्यत्व) को प्राप्त स्थायी भाव रस कहलाता है, इत्यादि सन्दर्भ से भरत के मत का निरूपण किया है।

इससे आगे निम्नलिखित गद्यभाग के द्वारा भरतवृद्ध के मत का भी उल्लेख किया है—

यथा नानाप्रकारैर्व्यञ्जनौषधैः पाकविशेषैश्च संस्कृतानि व्यञ्जनानि मधुरादिरसानामन्यतमेनात्मना परिणमन्ति तद्भोक्तॄणां मनोभिरास्वाद्यमानतया स्वाद्यन्ते, तथा नानाप्रकारैर्विभावादिभावैरभिनयैः सह यथार्हमभिव्यंजिताः स्थायिनो भावाः सामाजिकानां मनसि रसात्मना परिणमन्तस्तेषां तादात्विकमनोवृत्तिभेदभिन्नास्तत्तद्रूपेण रस्यन्ते।[2]

अर्थात्—जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जन व औषधियों से पाकविशेषों के द्वारा संस्कृत अन्न मधुरादिरसों में से किसी एक रस के रूप में परिणत होते हैं, और भोक्ता पुरुषों के चित्त के द्वारा आस्वादित होते हैं। उसी प्रकार नानाप्रकार के विभावादि भावों से अभिनय के साथ वृद्धिप्राप्त स्थायिभाव सामाजिकों के मन में रसरूप से परिणत होते हैं तथा तात्कालिक मनोवृत्ति के भेद से भिन्नता को प्राप्त होकर सामाजिकों के आस्वाद के विषय बनते हैं।

रस की सामाजिक वृत्तिता—

शारदातनय रस को अनुकार्यनिष्ठ या पात्रगत न मानकर सामाजिकाश्रित मानता है। भावप्रकाशन के षष्ठ अधिकार में उन्होंने इस तथ्य का प्रतिपादन किया है। निम्न कारिकाओं में इस अर्थ की स्पष्ट अभिव्यक्ति हो रही है—

सामाजिकादिरेवास्य रसस्याश्रय उच्यते।
रसस्य वर्तमानत्वादानुकार्यस्य सम्भवः ॥

---

१. भावप्रकाशन द्वितीय अधिकार पृ. ३६
२. „ „ „ पृ. ३६

> अनुकार्यस्य रामादेः कालातिक्रमदर्शनात् ।
> नातिक्रान्तानुकार्यस्य रसभावनया कविः ॥
>
> करोति काव्यं रसिकान् रञ्जयेयमितीच्छया ।
> बध्नाति काव्यं यत्तस्माद् रसः सामाजिकाश्रयः ॥[1]

अर्थात् अनुकार्य रामादि के अतीतकालिक होने से वह काव्य या नाट्य द्वारा प्रतिपादित वर्तमानकालिक रस का आश्रय नहीं हो सकता। अपितु कवि द्वारा काव्य का निर्माण सहृदयों के हृदयरञ्जन के लिए है न कि अतीतकालिक रामादि अनुकार्य के रञ्जन के लिए। अतः काव्यप्रतिपादित विभावादि द्वारा प्रतिपाद्य रस सामाजिक में रहता है न कि अनुकार्य रामादि में।

यद्यपि जिस प्रकार अतीत रामादि वर्तमानकालिक रस के आश्रय नहीं हो सकते उसी प्रकार अतीत रामादि सामाजिकगत रस के विभावादि भी कैसे बन सकेंगे ? इस प्रश्न का समाधान शारदातनय ने धनंजय की तरह रामादि को धीरोदात्तादि अवस्थाओं का प्रतिपादक मानकर दिया है।[2] तथा अतीतकालिक अविद्यमान रामादि जब कविकौशल से काव्यशब्दों द्वारा प्रत्यक्ष की तरह उपस्थापित किये जाते हैं तब वे वर्तमानकालिक सामाजिकरस के कारण बन जाते हैं और काव्यव्यापार के अनुसन्धान में एकाग्रचित्त वाले श्रोताओं द्वारा स्वपरभेद के नाश से ज्ञात होकर रस बन जाते हैं।[3] यह समाधान भी किया है।

शारदातनय ने काव्य तथा रस में भाव्यभावकसम्बन्ध का भी, धनञ्जय की तरह प्रतिपादन किया है।[4]

शारदातनय ने धनंजय की तरह नाट्य में आठ रसों की सत्ता मानी है शान्तरस की नहीं। क्योंकि उसके स्थायिभाव निर्वेद का परिपोष नाट्य में सम्भव नहीं।[5]

---

१ भावप्रकाशन, अधिकार ६, पृ १५३

२ रामादिर्यो न भवेद्विभावोऽस्य रसस्य तु ।
अविद्यमानत्वादेव रामादेर्न रसोद्भव ॥
धीरोदात्ताद्यवस्थानां प्रतिपादनकर्मणा ।
रामादिशब्दो रत्यादेर्विभावो भवति स्फुटम् ॥ —भा प्र अधिकार ६, पृ १५३

३. एवमुक्तं भवति-स्वतोऽविद्यमानैरपि रामादिभि कविपन्दप्रकौशलेन प्रत्यक्षवद्दर्शितैः तद्व्यापारानुसन्धानैकचित्ततया स्वपरविकल्पविधूननेन प्रतिपन्नो रसो जायते ।
—भा प्र अधिकार ६, पृ १५४

४. अत सामाजिकस्यापि काव्यस्य च रसस्य च ।
भाव्यभावकरूपोऽपि सम्बन्धोऽस्तीति दर्शितः ॥ —भा प्र अधिकार ६ पृ १५४

५ निर्वेदादेरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम् ।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मता ॥ —भा प्र अ ६, पृ १५४

इसी प्रकार रस की व्यङ्ग्यता, वाच्यता, प्रत्याय्यता व गम्यता का भी कथन मतभेद से किया है।[1]

भट्टनायक के मत का भी शारदातनय ने भावप्रकाशन में निम्नकारिकाओं में उल्लेख किया है—

> न तटस्थतया नात्मगतत्वेन प्रतीयते ।
> न चाभिधीयते क्वापि नोत्पद्येत कदाचन ॥
> तादात्विकेन प्रमदाद्यनुभावेन वासितः ।
> स्वादः सहृदयानां यो ह्लादात्मा हृदयङ्गमः ॥
> स भावाभिनयात् साधारणीकरणरूपया ।
> भावकत्वव्यापारया भाव्यमानः स्वनाथवत् ॥
> भोगेन संविदानन्दमयेनैवोपभुज्यते ।[2]

उपर्युक्त कारिकाओं में प्रतिपादित रसस्वरूप काव्यप्रकाश में मम्मट द्वारा निरूपित भट्टनायक मत से सर्वथा मेल खाता है।[3]

शारदातनय ने रस के आश्रय अनुकार्य रामादि हैं अथवा सामाजिक हैं, इस विवाद का उत्थापन कर भरतादि आचार्यों के मत के द्वारा ही समाधान प्रस्तुत किया है[4] कि रस का आश्रय सामाजिक है न कि अनुकार्य रामादि।

इसका उपपादन करते हुए शारदातनय ने कहा है कि जिस समय काव्य का पठन या श्रवण और नाट्य का अभिनय किया जा रहा है उस समय अनुकार्य रामादि की सत्ता नहीं है, किन्तु सामाजिक की है। तथा कवि श्रव्य या दृश्य काव्य का निर्माण करता है वह अतिक्रान्त रामादि के रञ्जन के लिए नहीं कर रहा है अपितु सामाजिकों के रञ्जन के लिए कर रहा है।[5]

विभिन्न आचार्यों के रसविषयक विभिन्न मतों का उल्लेख भावप्रकाशन में होने से तथा स्वयं की सम्मति किसमें है इस का उल्लेख न होने से भावप्रकाशन एक संग्रह ग्रन्थ है, ऐसा प्रतीत होता है।

---

१. एके रसानां व्यङ्ग्यत्वं वाच्यत्वं केचिदूचिरे ।
प्रत्याय्यत्वं वदन्त्यन्ये गम्यत्वमपि केचन ॥ —भा. प्र. अ. ६, पृ. ४०

२. भावप्रकाशन, २ अधिकार, पृ. ५२

३. न ताटस्थ्येन नात्मगतत्वेन रसः प्रतीयते नोत्पद्यते......भोगेन भुज्यते ।
—का. प्र. पृ. ९०

४. रसाश्रयं विवदन्ति केचित्तेषां निराक्रिया ।
भरतादिमतेनैव क्रियते सोपपत्तिका ॥ —भा. प्र. ६ अधि. पृ. १५२

५ रसस्य वर्तमानत्वान्नानुकार्यस्य सम्भवः ।
अनुकार्यस्य रामादेः कालातिक्रमदर्शनात् ॥
नाऽपि स्यान्नानुकार्यस्य रसभावनया कविः ।
करोति काव्यं रसिकान् रञ्जयेदमितीप्सया ॥
बध्नाति काव्यं यस्माद् रसः सामाजिकाश्रयः ॥ —भा. प्र. ६ अधि. पृ. १५३

आचार्य हेमचन्द्र

जैन आचार्य हेमचन्द्र ने भी काव्यनुशासननामक ग्रन्थ में रसस्वरूप का विस्तार से प्रतिपादन किया है। उन्होंने 'विभावानुभावव्यभिचारिभिरभिव्यक्तः स्थायी भावो रसः' यह रस का लक्षण बतलाया है तथा आचार्य श्री अभिनवगुप्त के अनुसार ही उसका पूर्णतया निरूपण किया है। उन्होंने भट्टलोल्लट, श्री शङ्कुक, श्रीभट्टनायक तथा सांख्यवादी आचार्य तथा अभिनवगुप्त के मतों का भी विवेचन किया है। तथापि अभिनव भारती के आधार पर उनका यह विवेचन है। उन्होंने रस का विवेचन करते समय अभिनव भारती को ही काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ व्याख्या में उद्धृत कर दिया है। और सब के मत का अभिनव भारती के आधार पर ही विवेचन कर अन्त में 'एतन्मतमेव (आचार्याभिनवगुप्तपादानामेव मतम्) अस्माभिरुपजीवित वेदितव्यम्' कह कर उसी पर अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। अतः कोई भी नवीनता न होने से उनके मत का विवेचन पिष्टपेषण समझकर उसे यहाँ उद्धृत नहीं किया जा रहा है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र के अनुसार सहृदयों के हृदय में विद्यमान रत्यादि स्थायिभाव काव्य में वर्णित अथवा नाट्य में अभिनय द्वारा प्रदर्शित सीतादि आलम्बन विभावों तथा उद्यानादि उद्दीपनविभावों से आविर्भूत होता है और रसिक के चित्त में वर्तमान ग्लानि, चिन्ता आदि व्यभिचारिभावों से वह परिपुष्ट होता है। इस प्रकार परिपोष द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त होकर सहृदयहृदयवर्ती स्थायिभाव रस्यमान अर्थात् आस्वाद्यमान होने से 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति से रस कहलाता है।[1] रसिकचित्तवर्ती इस रस की प्रतीति दूसरों को रसिक की स्तम्भ-स्वेदादि चेष्टारूप अनुभावों के द्वारा होती है। स्तम्भ-स्वेदादि अनुभाव रस के अविनाभूत कार्य हैं, अतः इस अविनाभूत लिङ्गों के द्वारा दूसरे को रसिक में रस की अनुमिति होना अनिवार्य है।

यद्यपि 'स्थायिभावः श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभिः' इस कारिका के द्वारा विभाव व व्यभिचारिभाव दोनों से ही स्थायिभाव का परिपोष बतलाया गया है किन्तु विभावों से सहृदयहृदय में विद्यमान स्थायिभाव का आविर्भाव होता है और तदनन्तर ग्लान्यादि व्यभिचारिभावों से ही उसका परिपोष होता है। बिना आविर्भाव के परिपोष सम्भव नहीं है। जैसे भट्टलोल्लट के मत में *विभावादि से* स्थायिभाव का उपचय अर्थात् परिपोष बतलाया गया है किन्तु बिना उत्पत्ति के परिपोष नहीं होता। अतः सीतादि विभावों से अनुकार्य रामादि में रत्यादि स्थायिभाव की उत्पत्ति, सीतादिविभावजन्य रामगत रति के कार्य कटाक्षादि से उस स्थायिभाव

---

१. स्थायिभाव. श्रितोत्कर्षो विभावव्यभिचारिभि. ।
स्पष्टानुभावनिश्चेयः सुखदुःखात्मको रस. ॥ —नाट्यदर्पण, तृ विवेक का ७

की प्रतीति व चिन्तादि व्यभिचारियों से उनका परिपोष होता है। उसी प्रकार यहाँ भी विभाव से रत्यादि स्थायिभाव का आविर्भाव तथा व्यभिचारियों से परिपोष होता है। जिस प्रकार भट्टलोल्लट ने 'विभावादि से स्थायिभाव की उत्पत्ति होती है' इस प्रकार स्पष्टरूप से व्याख्या में विभावों के साथ रत्यादि के जन्यजनकभाव का स्पष्टीकरण कर दिया है उसी प्रकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने भी श्लोक की व्याख्या में ललनादि विभावों से रसिकचित्तवृत्ति स्थायिभाव का आविर्भाव होता है, इसका स्पष्टीकरण कर दिया है।[1]

नाट्यदर्पणकार रस की स्थिति केवल सहृदय में ही नहीं मानते अपितु नायक-नायिका, प्रेक्षक, श्रोता, अनुसन्धाता तथा नट में भी मानते हैं।[2] लौकिक ललनादि विभाव नायकगत रस (स्थायिभाव) के कारण होते हैं। लौकिक स्त्री-पुरुषगत, काव्यनिबद्ध व नाट्य में अभिनय द्वारा प्रदर्शित रोमाञ्चादि अनुभाव व ग्लानि, चिन्ता आदि व्यभिचारी प्रेक्षकगत, श्रोतृगत व अनुसन्धायकगत रत्यादि स्थायिभाव के कारण होते हैं। क्योंकि वे प्रेक्षकादिगत रसोन्मुख स्थायिभाव के आविर्भावक हैं, अत वे विभाव ही कहलाते हैं न कि अनुभाव व व्यभिचारि-भाव। वहाँ प्रेक्षकादिगत चेष्टायें तथा तद्गत ग्लानि-चिन्तादि ही प्रेक्षकादिगत रस के क्रमश अनुभाव व व्यभिचारी भाव होते हैं।[3] किन्तु विभाव होने पर भी उनका अनुभाव व व्यभिचारी शब्द से व्यपदेश वर्णनीय अनुकार्य रामादि की अपेक्षा से किया जाता है। अर्थात् नायकनायिकागत रस के प्रति वे अनुभाव व व्यभि-चारी ही हैं। उन्ही की अपेक्षा से उन्हे वहाँ अनुभाव व्यभिचारी शब्द से व्यपदिष्ट किया जाता है न कि प्रेक्षकादिगत रस के अभिप्राय से।[4] इसी अभिप्राय से 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्ति.' इस भरतसूत्र में भी उन्हें अनुभाव तथा व्यभिचारी शब्द से व्यपदिष्ट किया गया है।

काव्यनाट्योपनिबद्ध ललनादि भावों द्वारा जब प्रेक्षकादि में रस (स्थायि-भाव) की प्रादुर्भूति होती है उस समय उनमे चिन्तादि व्यभिचारी भी प्रादुर्भूत

---

१ विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनरूपैर्बाह्यैर्हेतुभि सत एवाविर्भावात्।
—ना द पृ २९०

२ (क) रसश्च मुख्यतोऽनुकार्य प्रेक्षकगत, काव्यस्य श्रोत्रनुसन्धायकगतो वेति।
—ना द. पृ २९३

(ख) नटोऽपि च रस समस्त्येव यदा स्वकार्यं भवन्ति, न च नटस्य रसो न भवतीत्यै-कान्त। —ना द पृ. २९६

३ ये पुन स्थायिगता काव्याभिनयोपदर्शिताश्च व्यभिचारिणोऽनुभावा वा ते परस्मिन् रसा मुख्यस्तेन स्थायिनमुन्मीलयन्ति' इति ते विभावा एव जनकत्वात्। —ना द पृ, ३०१

४ व्यभिचार्यनुभावव्यपदेशस्तु पुनरनयो स्थायिगतया वर्णनीयानुकार्यापेक्षया च। यदप्युच्यते 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्ति' इति तत्राप्यनुभावा व्यभिचारिणश्च रत्यादि-वर्णनीयानुकार्यनिष्ठा एवेति द्रष्टव्यम्। —ना द पृ ३०१

होते हैं जो कि प्रेक्षकादिगत रस के व्यभिचारी कहलाते हैं। क्योंकि चिन्तादि व्यभिचारियो के बिना रस (रत्यादि) की प्रादुर्भूति सम्भव नही है।[1]

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है नाट्यदर्पणकार नायक, नायिका प्रेक्षक, काव्य का श्रोता, अनुसन्धाता व नट सभो मे रस की स्थिति मानते हैं। किन्तु उनमे स्थित रस का ज्ञान दूसरो को भी होता है। अर्थात् परस्थ रस की प्रतिपत्ति दूसरे को होती है यह अनुभवसिद्ध है। परस्थ रस का ज्ञान प्रत्यक्ष प्रमाण से तो हो नही सकता क्योकि विभावादि से परिपुष्ट रत्यादिरूप रस चित्त का धर्म है और चित्तधर्मों का बाह्येन्द्रियो से प्रत्यक्ष सम्भव नही। चित्तधर्मों के अतीन्द्रिय होने से चित्तधर्म रस का चित्त से प्रत्यक्ष सम्भव नही। तथा मन से यदि प्रत्यक्ष माना भी जाय तो मन का सयोग अपने रस से हो सकता है परस्थ रस से नही। इस कारण भी परस्थ रस का ज्ञान चित्त से दूसरे व्यक्ति को नही हो सकता। परिशेषात् उसका अनुमितिरूप परोक्षज्ञान ही मानना होगा। और अनुमान रस से अविनाभूत लिङ्ग के ज्ञान से ही हो सकता है। रस के अविनाभूत लिङ्ग स्तम्भस्वेदादिरूप चेष्टायें ही है जो कि रसानुभव करने वाले पुरुष मे रहती हैं। इसी कि अभिव्यक्ति के लिए 'स्पष्टानुभावनिश्चेय' कहा गया है।[2] इनमे भी लौकिक स्त्रीपुरुष मे रस के कारण ललनादि विभाव पारमार्थिक (वास्तविक) होते हैं। अत उनमे स्पष्टरूप से रस की स्थिति है। इसीलिए उनमे रसजन्य कटाक्षादि अनुभाव व चिन्तादि व्यभिचारी भी स्पष्ट हैं। किन्तु प्रेक्षकादि मे जो रस है वह अस्पष्ट रूप मे है। क्योकि उनके रस के विभाव पारमार्थिक नही हैं अपितु काव्यद्वारा उपनिबद्ध तथा अभिनय द्वारा प्रदर्शित होने से अपारमार्थिक हैं। काव्यादि द्वारा वस्तुत. अविद्यमान ललनादि विभावो का ही उपनिबन्धन किया जाता है। अत: प्रेक्षकादि मे अपारमार्थिक विभावो से आविर्भूत रस के अस्पष्ट होने से उनमे रसजन्य विभाव व व्यभिचारी भी अस्पष्ट ही होते हैं।[3] क्योकि लौकिक स्त्रीपुरुष मे स्पष्ट रस स्थिति है अर्थात् लौकिक रस

---

१ अत्र च रत्यादेर्विभावैराविर्भूतस्य पोषकारिणो व्यभिचारिणो रसिकगता एव ग्राह्या.। यदा हि विभावै स्त्र्यादिभि, च व्यसनाद्युपगतैर्वा अन्यस्य रत्यादयो रसोन्मुखतयोन्मील्यन्ते तदा यथायोग व्यभिचारिणोऽपि तत्र प्रादुर्भवन्ति। न हि स्त्र्यादिचिन्ता शृङ्गारो, धृति हास्यो, विषादं करुणो, अमर्षं रौद्रो, हर्षं वीर, त्रासं भयानक, शङ्का बीभत्स, मोहगुणमद्भुतो, निर्वेद शान्त सहचारिण विना प्रादुर्भवन्ति। —ना द पृ ३००

२. इह तावत् सर्वलोकप्रसिद्धा परस्थस्य रसस्य प्रतिपत्ति सा च न प्रत्यक्षा चेतोधर्माणामतीन्द्रियत्वात्। तस्मात् परोक्षैव। परोक्षा च प्रतिपत्तिरविनाभूताद् वस्त्वन्तरात्। अत्र च रसेऽन्यस्य वस्त्वन्तरस्याभावात् कायमेवाविनाकृतम्। —ना. द पृ. २९४

३. केवल मुख्यस्त्रीपुसयो स्पष्टेनैव रूपेण रसो विभावानां परमार्थसत्त्वात्। अतएव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसजन्यास्तत्र स्पष्टरूपा। अन्यत्र तु प्रेक्षकादौ व्यामलेनैव रूपेण, विभावानामपरमार्थसतामेव काव्यादिना दर्शनात्। अतएव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसानुसारेणास्पष्टा एव। —ना. द. पृ ३०१, ३०२

स्पष्ट होता है। इसके विपरीत प्रेक्षकगत रस के लोकवत् स्पष्ट न होने से प्रेक्षकादिगत रस को लोकोत्तर (लोकविलक्षण) कहा जाता है।[1]

मुख्य स्त्री-पुरुष में जहाँ कि विभाव वास्तविक हैं वहाँ प्रतिनियतविषयक (विशेषव्यक्तिविषयक) रस की निष्पत्ति होती है। अर्थात् यदि राम में सीताविषयक रति है तो सीता से राम में सीताविषयक रस की निष्पत्ति होगी न कि अन्यस्त्रीविषयक रस की।

इसीलिए किसी युवक में यदि किसी युवतिविशेष में रति का प्रादुर्भाव है तो वह युवक उस युवतिविषयक रति का ही रसरूप में आस्वादन करेगा अन्ययुवतिविषयक रति का रसरूप से आस्वाद नहीं कर सकेगा।[2] किन्तु जहाँ प्रेक्षकादिगत रस के कारण काव्यादि द्वारा प्रदर्शित अपारमार्थिक ललनादि विभाव हैं वहाँ सामान्यस्त्रीविषयक रति का ही शृङ्गाररसरूप से आस्वाद होता है न कि विशेषस्त्रीविषयक रति का। क्योंकि वहाँ काव्यादि द्वारा वर्णित ललनादि विभाव सामान्यस्त्रीविषयक रति का ही आविर्भाव कराते हैं न कि विशेषस्त्रीविषयक रति का। इसका कारण यही है कि जब अभिनयद्वारा नट सीताविषयक रामरति का अनुकरण कर रहा है उस समय सामाजिक में जिस रति का आविर्भाव होता है वह सीताविषयक रति नहीं होती अपितु सामान्यस्त्रीविषयक रति होती है। क्योंकि काव्य में वर्णित सीतादि भट्टनायक व अभिनवगुप्त के अनुसार साधारणीकरण द्वारा ललनामात्र के बोधक हैं। अन्यथा सीतादि विभावों में परकीयात्वज्ञान होने से उनसे प्रेक्षक में रति का आविर्भाव सम्भव नहीं।[3]

लौकिक स्त्री पुरुष में भी जब परानुरक्त वनितारूप विभाव से रति का आविर्भाव होता है वहाँ सामान्यविषयक रति ही आविर्भूत होती है न कि नियतस्त्रीविषयक। क्योंकि उसमें भी परकीयात्वज्ञान होने से उस विशेष स्त्री से उसमें रति का आविर्भाव नहीं बन सकता, किन्तु उसे सामान्यस्त्री समझकर उससे रति का आविर्भाव हो सकता है। अतः ऐसे स्थल में स्त्रीपुरुष में भी सामान्यविषयक

---

१ अतएव प्रेक्षकादिगतो रसो लोकोत्तर उच्यते। —ना द पृ. ३०२

२ यत्र विभावा परमार्थेन सन्तः प्रतिनियतविषयत्वेनैव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। तत्र नियतविषयोन्मेषी रसास्वादप्रत्ययः। युवा हि रागवती युवतिमवलम्ब्य तद्विषयामेव रतिं शृङ्गारतयास्वादयति। —ना. द. पृ. २९६

३ ये पुनरपरमार्थसन्तोऽपि काव्याभिनयाभ्यां सन्त इवोपनीता विभावास्ते स्त्रीत्वपुंस्त्व-प्रेक्षकाणां सामान्यविषयत्वेनैव स्थायिनं रसत्वमापादयन्ति। तत्र च विषयविभागानवमर्शी रसास्वादप्रत्ययः। न हि रामस्य सीताया शृङ्गारेऽनुक्रियमाणे सामाजिकस्य सीताविषयः शृङ्गार समुल्लसति। अपितु सामान्यस्त्रीविषयः। —ना. द. पृ २९८

रनि ही आविर्भूत होकर परिपुष्ट होती है। अतः वह रस सामान्यविषयक ही कहलायेगा न कि प्रतिनियतविषयक ।[1]

नाट्यदर्पणकार नट में भी रस की स्थिति मानते हैं। उनका कथन है कि जिस प्रकार वेश्या परानुरंजनार्थ ही संभोग में प्रवृत्त होती है तथापि कभी वह स्वयं भी संभोग-जन्य आनन्द का अनुभव करने लगती है। जिस प्रकार गायक परानुरंजनार्थ गायन में प्रवृत्त होता हुआ भी कदाचित् स्वयं भी तन्मय होकर गीतिजन्य आनन्द का अनुभव करता है उसी प्रकार नट यद्यपि प्रेक्षकादि को रसास्वादन कराने के लिए ही अभिनयादिक्रिया में प्रवृत्त हुआ है तथापि कदाचित् अभिनय करता करता स्वयं भी तन्मय होकर रस का आस्वादन करने लगता है अतः उस दशा में उसमे भी रस की स्थिति माननी चाहिए।[2] उस समय नटगत रोमाञ्चादि अनुभाव नटगत रस का प्रतीति कराते ही हैं।

सामाजिकों के मनोरञ्जन के लिए प्रवृत्त नट में रामादि अनुकार्य के अनुकरणरूप में अनुक्रियमाण स्तम्भस्वेदादि अनुभावों से नटगत रस का निश्चय नहीं होता क्योंकि नट में रस नहीं है। अत स्तम्भस्वेदादि अनुभावों को रस का नान्तरीयक कैसे माना जा सकता है ? इस शङ्का का समाधान नाट्यदर्पणकार ने यह किया है कि पररंजनार्थ प्रवृत्त नट के स्तम्भस्वेदादि रस के कार्य (अनुभाव) ही नहीं हैं किन्तु वे प्रेक्षकगत रस के जनक होने से कारण हैं। अतः उन के द्वारा रस की प्रतीति न होने में कोई दोष नहीं है।[3]

नट में यद्यपि रस की सत्ता पहिले बतलायी जा चुकी है। अतः नट में रस की असत्ता बतलाना स्ववचनविरुद्ध है, तथापि कदाचित् ही नट में रस की सत्ता होती है जबकि वह रामादि का अनुकरण करते हुये तन्मय होकर उसका आस्वादन करता है। उस समय नट भी स्वचित्तगत रस का ही आस्वादन करता है न कि वहिःस्थ का। प्रायः प्रेक्षकों के या सामाजिकों के रसास्वादनार्थ अभिनय में

---

१. यत्र तु परानुरक्तां वनितामवलम्ब्य सामान्यविषया रतिरुपचयमुपैति, तत्र न नियतविषय शृङ्गाररसास्वाद । विभावानां सामान्यविषये स्थाय्याविर्भावकत्वात् ।

—ना द पृ. २९७

२ न च नटस्य रसो न भवतीत्येकान्त । पण्यस्त्रियो हि धनलाभेन पररञ्जनं रतादि विडम्बयन्त्य कदाचित् स्वयमपि परां रतिमनुभवन्ति, गायकाश्च परं रञ्जयन्त कदाचित् स्वयमपि रज्यन्ते। एव नटोऽपि रामादिगत विप्रलम्भाद्यनुकुर्वाण कदाचित् स्वयमपि तन्मयीभावमुपयात्येवेति ।

—ना द पृ २९६

३. परगतविभावाद्यनुक्रियायां च पररञ्जनार्थं प्रवृत्तस्य नटस्य रसाभावेऽपि स्तम्भस्वेदादय भवन्तीति नैषां रसनान्तरीयकत्वमाशङ्कनीयम्। तेषां पररञ्जनव्यग्रतया कार्यत्वात्। नटगता हि स्तम्भादय प्रेक्षकगतरसानां कारणम्। प्रेक्षकगतास्तु कार्याणि।

—ना द पृ २९५

प्रवृत्त नट में रस की स्थिति नहीं होती। अन्यथा उसकी अभिनयादि क्रियायें ही समाप्त हो जातीं। इसी अभिप्राय से यहाँ नट में रस की असत्ता कही गई है।

नाट्यदर्पणकार भी भरत व अभिनवगुप्त आदि की तरह स्थायिभावों, रसों व भावों (ऋषि-मुनि-देवतादिविषयक रति आदि) के लोकप्रसिद्ध कार्य, कारण व सहकारियों को दृश्य व श्रव्य काव्य में क्रमशः अनुभाव, विभाव, व व्यभिचारी शब्द से व्यपदेश्य मानता है।[1] स्तम्भस्वेदादि कार्यों को वह अनुभावशब्द से इसलिए कहता है कि स्तम्भस्वेदादि में लिङ्गनानिश्चय के बाद वे लिङ्गी रस का बोधन कराते हैं। अतः 'अनु-लिङ्गनिश्चय के बाद भावयन्ति लिङ्गिन रस गमयन्ति' इस व्युत्पत्ति से ये अनुभाव कहलाते हैं। रत्यादि के आलम्बनकारण सीतादि ललना तथा उद्दीपनकारण ऋतु चन्द्र, उपवन आदि, वासनारूप से रामादि में विद्यमान व रस-रूपता को प्राप्त होने वाले स्थायी भाव का विशेषरूप से आविर्भाव करते हैं। अतः 'विभावयन्ति विशेषरूपेण आविर्भावयन्ति वासनात्मतया स्थित रत्यादिकम्' इस व्युत्पत्ति से विभाव कहलाते हैं। लोक में रसोन्मुख रत्यादि स्थायिभाव के प्रति विशेषरूप से आभिमुख्येनचरण करने के कारण चिन्ता, औत्सुक्य आदि भाव 'विशेषेण आभिमुख्येन रसोन्मुखं स्थायिनं प्रति चरन्ति' इस व्युत्पत्ति से व्यभिचारी कहलाते हैं। यहाँ आभिमुख्य का पोषकत्व अर्थ है। इसलिए रसोन्मुख स्थायी के विशेषरूप से ये पोषक हैं—यह सिद्ध होता है। अथवा स्थायिभाव के होने पर भी ये चिन्तादिभाव कदाचित् नहीं रहते हैं। जैसे रसायन का उपयोग करने वाले मुनि आदि में स्थायी भाव रति के होने पर भी ग्लान्यादि के न होने से स्थायिभाव से व्यभिचरित होने के कारण 'व्यभिचरन्ति-स्थायिनि सत्यपि केऽपि कदापि न भवन्ति' इस व्युत्पत्ति से व्यभिचारी कहलाते हैं।[2]

इनमें स्थायिभाव चेतनरूप होने से अजड हैं तथा धैर्यादि व स्वेदादि अनुभाव क्रमशः ज्ञानरूप व जडरूप हैं। इसी प्रकार वनितादि व पर्वतादि विभाव क्रमशः चेतनरूप व अचेतनरूप होने से उभयात्मक हैं। इसी प्रकार निर्वेदादि व व्याध्यादि व्यभिचारी भी क्रमशः ज्ञानरूप व जडरूप होने से उभयात्मक हैं।[3]

इनमें अनुभाव, विभाव व व्यभिचारी रत्यादि के क्रमशः कार्य, कारण, सहकारिरूप होने से अप्रधान हैं तथा रत्यादि स्थायी भाव प्रकर्ष को प्राप्त होकर

---

१. कार्यं हेतुः सहचारी स्थाय्यादेः काव्यवर्त्मनि।
अनुभावो विभावश्च व्यभिचारी च कथ्यते॥ —नाट्यदर्पण, तृतीयविवेक, का. ८

२. नाट्यदर्पण, तृतीयविवेक, पृ. ३०४

३. तत्र स्थायिनो रत्यादयः संविदात्मकत्वादजडा एव। धैर्यादीनां स्वेदादीनां चानुभावानां वनितादीनां पर्वतादीनां च विभावानां, निर्वेदादीनां व्याध्यादीनां च व्यभिचारिणां यथाक्रमं संविन्मयत्वशरीरधर्मत्वादिना जडाजडत्वम्।
—नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, पृ. ३०४

अनुभावादि के प्रच्छादक होने से प्रधान है।[1]

प्रेक्षकादि आत्मस्थ सुख की तरह आत्मस्थ रस का आस्वादन करते हैं। मोदक की तरह बहिःस्थ रस का ग्रहण नहीं करते हैं। अन्यथा मोदक की तरह बहिःस्थ रस का केवल ज्ञान मानने पर चर्वणारूप रसास्वाद संभव नहीं होगा। भयानक तथा करुणरस के काव्यप्रतिपादित विभाव से सामाजिक के चित्त में स्थित भय व शोक ही भयानक व करुणरसत्व को प्राप्त होते हैं।

यदि सामाजिकगत स्थायिभावों को रस न माना जायगा तो काव्य व नाट्य में तथा अन्यत्र कहीं भी बाहर रस के न होने से उसकी प्रतीति ही नहीं होगी। और असत् की यदि प्रतीति मानी जायगी तो अहृदयों को भी रसप्रतीति होनी चाहिए। अतः काव्यादि द्वारा विभावादिप्रतीति के बाद बोद्धा सामाजिक का स्थायी भाव ही रस बनता है। और उस रस का प्रतिपादक कारण होने से काव्य रसवान् कहलाता है।[2]

निष्कर्ष—

१. नाट्यदर्पणकार भट्टलोल्लट की तरह उपचित स्थायी भाव को रस मानते हैं।

२. रस की स्थिति वे मुख्य नायक-नायिका, प्रेक्षक, श्रोता, अनुसन्धाता तथा कदाचित् नट में भी मानते हैं।

३ मुख्य स्त्री, पुरुष में नियतविषयक तथा सामान्यस्त्रीविषयक उभय प्रकार का रस रहता है। अतः उनमें नियतविषयोल्लेखी व सामान्यविषयोल्लेखी उभय प्रकार का रसास्वाद होता है। और प्रेक्षकादि में सामान्यस्त्रीविषयक अर्थात् सामान्यविषयोल्लेखी रसास्वाद ही होता है।

४ मुख्य स्त्री, पुरुष में रसास्वाद स्पष्ट होता है और प्रेक्षकादि में अस्पष्ट, क्योंकि पहिले में विभावादि पारमार्थिक हैं और प्रेक्षकादि में काव्यादि द्वारा असत् विभावादि का ही वर्णनात्मक प्रदर्शन होने से अपारमार्थिक हैं।

---

१ एते चानुभावादयः स्थायिनं प्रति कार्य-कारण-सहकारित्वादेवाप्रधानम्। स्थायी तु प्रकर्षप्राप्त्या एषां प्रच्छादकत्वात् प्रधानम्। —नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, पृ ३०४

२ प्रतिपत्तारश्चात्मस्थं सुखमिव रसमास्वादयन्ति। न पुनर्बहिःस्थं रसं मोदकमिव प्रतियन्ति। अन्यो हि मोदकस्यास्वादोऽन्यश्च प्रत्ययो रसस्य। न हि बहिःस्थस्य रसस्य प्रत्ययमात्रेण रसास्वादश्चर्वणात्मकः सम्पद्यते। भयानक-करुणविभावादि काव्यार्थान् प्रतिपत्तुश्चेतो-धर्मतया स्थितौ भय-शोकौ भयानक-करुणतया परिणमतः। यदि च प्रतिपत्तुः स्थायी एव न रसतया भवति तदा बहिःस्थस्य रसस्य प्रत्ययोऽपि न प्राप्नोति। काव्ये नटेऽन्यत्र वा रसस्याभावात्। असतश्चापि प्रत्यये अहृदयस्यापि प्रतीतिः स्यात्।

—नाट्यदर्पण, तृतीय विवेक, पृ ३०३

५ परस्थ रस का परोक्ष ज्ञान ही होता है न कि प्रत्यक्षात्मक।

६ रसास्वादयिता स्वात्मस्थ रस का ही आस्वादन करते हैं न कि वहिःस्थ रस का।

७ रस चित्तवृत्तिविशेष होने से चेतन सामाजिक में ही रहता है, अचेतन काव्यादि में नहीं। काव्यार्थप्रतिपत्तिद्वारा विभावादि का प्रतिपादक होने से काव्य को सरस कहा जाता है न कि काव्य में रस की स्थिति होने से।

भट्ट लोल्लट तथा नाट्यदर्पणकार में साम्य—

१ दोनों ही विभावादि से उपचित स्थायी भाव को रस मानते हैं।

२ दोनो ही स्थायी की स्थिति रस से पूर्व मानते हैं।

३ दोनो ही अनुकार्य तथा अनुकर्त्ता में रसस्थिति मानते हैं।

वैधर्म्य—

१ भट्ट लोल्लट प्रेक्षकादि में रसस्थिति नहीं मानता किन्तु नट में आरोपित रति का ज्ञान प्रेक्षक को होता है और उस ज्ञान से ही वह आनन्दानुभूति प्रेक्षक में मानता है। जबकि नाट्यदर्पणकार प्रेक्षकादि में भी रस की स्थिति मानते हैं।

२ भट्ट लोल्लट वहिःस्थ (नटस्थ) रति का ज्ञान द्वारा आस्वाद मानता है जबकि नाट्यदर्पणकार वहिःस्थ रस के ज्ञान का निषेध कर आत्मस्थ रस का आस्वादन बतलाते हैं।

३ भट्ट लोल्लट अनुकार्य में मुख्यतया रस की स्थिति और अनुकर्त्ता नट में अनुकार्य रामादिरूपता के अनुसन्धान से गौणरूप में रस की स्थिति मानता है। जबकि नाट्यदर्पणकार अनुकार्य व अनुकर्त्ता तथा प्रेक्षकादि में मुख्यरूप से ही रस की स्थिति मानते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि मुख्य स्त्री-पुरुष में स्पष्ट रस की स्थिति तथा अनुकर्त्ता व प्रेक्षकादि में अस्पष्ट रस की स्थिति वे मानते हैं।

इसका कारण यह है कि भट्ट लोल्लट रस की स्थिति अनुकार्य रामादि में मानता है न कि सामाजिक में। सामाजिक को तो अनुकर्त्ता नट में अनुकार्य रामादिरूपता के आरोप या अनुसन्धान द्वारा गौणरूप से प्रतीयमान रति के ज्ञान से केवल आनन्दानुभूति होती है। अनुकर्त्ता नट में ज्ञात रति सामाजिक के आनन्द का कारण होती है। अतः वह रति आनन्दरूप रस की जनक होने से रस कहलाती है। इस तरह रस के वस्तुतः अनुकार्यगत होने से अनुकार्य राम के स्तम्भस्वेदादि अनुभावों से उस रस का प्रत्यायन तथा अनुकार्य के ही चिन्ता औत्सुक्यादि व्यभिचारियों से उसकी परिपुष्टि सम्भव है। किन्तु नाट्यदर्पणकार जो कि प्रेक्षक में वास्तविक रस की स्थिति मानता है, उसके मत में लौकिक स्त्रीपुरुष तथा काव्यादि में उपनिबद्ध ललनादि विभावों से प्रेक्षक में विद्यमान रति स्थायिभाव का आविर्भाव हो जाने पर भी उसकी प्रतीति लौकिक स्त्रीपुरुषगत अर्थात् अनुकार्यगत कटाक्षादि अनुभावों से, तथा उसकी परिपुष्टि अनुकार्यगत चिन्ता, धृति आदि व्यभिचारियों

से नही बन सकती। अत नाट्यदर्पणकार ने प्रेक्षकगत रस की प्रतीति व परिपुष्टि (उत्कर्ष) सामाजिकगत अनुभावो तथा तद्गत ही व्यभिचारियो से मानी है।[1]

समीक्षा—

नाट्यदर्पणकार ने लौकिक स्त्रीपुरुष तथा काव्यादि में उपनिबद्ध सीतादि-विभावो से, रामादिगत स्तम्भस्वेदादि अनुभावो से, रामादिगत चिन्ता-ग्लानि आदि व्यभिचारिभावो से सामाजिक रति का आविर्भाव माना है। किन्तु सीतादि रामादिव्यक्तिविशेष के प्रति ही विभाव हैं। ऐसी स्थिति मे इन सीतादि विभावो से सामाजिक मे रति का आविर्भाव कैसे हो सकता है? सीतादि मे सामाजिक को परकीयात्वज्ञान होने से उस स उसम रति का आविर्भाव तो दूर रहा, व्रीडा आदि भावो का ही उदय होगा। स्त्री-पुरुषगत प्रम को देख कर सज्जन सहृदय मे लज्जा भाव ही उत्पन्न होगा न कि रति का आविर्भाव। इसी प्रकार रामादिगत जिन स्तम्भ-स्वेदादि को तथा चिन्ताग्लानि आदि व्यभिचारिभावो को नाट्यदर्पणकार ने विभाव-श्रेणि मे प्रविष्ट कर सामाजिकनिष्ठ रति के आविर्भाव मे कारण माना है वह भी सभव नही क्योंकि सामाजिक से भिन्न व्यक्ति मे रहने वाले अनुभावो व व्यभिचारि-भावो से सामाजिक की रति का आविर्भाव न होने से उनको सामाजिक रति का विभाव कैसे माना जा सकता है? इसीलिए तो अभिनवगुप्त आदि ने सीतादि विभावो, रामादिगत स्तम्भस्वेदादि अनुभावो तथा रामादिगत चिन्ता ग्लानि आदि व्यभिचारिभावो का साधारणीकरण मानकर उनमें व्यक्तिविशेषसम्बद्धता का परिहार कर साधारणीकृत रूप से उनकी प्रतीति मानी है तथा उन साधारणीकृत विभावादि से आविर्भूत सामाजिक रति की भी व्यक्तिविशेषनिष्ठरूप से अभिव्यक्ति न मानकर रतित्वरूप साधारण धर्म रूप से ही अभिव्यक्ति मानी है। किन्तु नाट्य-दर्पणकार तो व्यक्तिविशेषसम्बद्ध विभावो अनुभावों व व्यभिचारिभावो से प्रेक्षक-निष्ठ रति का आविर्भाव मानता है[2] और आविर्भूत रति को व्यक्तिविशेषनिष्ठ मानता है और उत्कर्षप्राप्त उसी रति को रस मानता है।

भट्टलोल्लटादि यद्यपि व्यभिचारी भावो से उपचित लौकिक स्थायिभाव को ही रस मानते हैं। किन्तु वे अनुकार्यगत लौकिक स्थायिभाव को रस मानते हैं न कि प्रेक्षकगत स्थायिभाव को। अत. अनुकार्य रामादिगत स्थायिभाव की सीतादि विभावों से उत्पत्ति या आविर्भाव मानने मे, रामादिगत स्तम्भस्वेदादि से उसकी प्रतीति मानने में तथा चिन्ता, औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभावो मे उसकी उपचिति मानने मे किसी प्रकार की बाधा नही है। क्योंकि वे विभावादि रामादिरति के के प्रति वस्तुत. कारण कार्य व सहकारी हैं।

---

१ विभावादिभिर्ललनोद्दीपनरूपैर्बाह्यैर्हेतुभि सत एवाविर्भावात्, व्यभिचारिभिर्ग्लान्यादिभी रतिरमनःशरीरस्थानिभि परिपोषणाच्च प्रितोत्कर्षं। —ना द पृ २९०

२ ये तु स्तम्भादिना भाव्याभिनयोपदर्शितास्च व्यभिचारिणोऽनुभावा वा ते परस्मिन् रसो मुख्येन स्थायिनमुन्मीलयन्ति ते विभावा एव नतरस्यात्। —ना द पृ ३०१

दूसरी बात यह है कि नाटयदर्पणकार रत्यादि की रसरूपता में परिणति के लिए स्पष्टानुभावनिश्चेयता को कारण मानते हैं। किन्तु प्रेक्षकगत रस में स्पष्टानुभावनिश्चेयता नहीं है अर्थात् स्पष्ट अनुभावों के द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि काव्य व नाटय में निबद्ध ललनादिविभाव अपारमार्थिक हैं। अतः उन अपारमार्थिक विभावों से रस की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती। रस की स्पष्ट प्रतीति न होने से रसजन्य स्तम्भ स्वेदादि अनुभाव तथा चिन्ता औत्सुक्य आदि व्यभिचारिभाव भी अस्पष्ट हैं। किन्तु लौकिक स्त्रीपुरुषों में विभावादि के पारमार्थिक होने से उनमें रस स्पष्ट है और रसजन्य अनुभाव व व्यभिचारिभाव भी स्पष्ट हैं। अत वहाँ स्पष्टानुभावनिश्चेयता है। इसीलिए लौकिकस्त्रीपुरुषगत रस की अपेक्षा प्रेक्षकगत रस में अस्पष्टता होने के कारण उसे लोकोत्तर अर्थात् लोकविलक्षण कहा गया है।[1] अत प्रेक्षकगत रस में उनके अनुसार ही स्पष्टानुभावनिश्चेयता न होने से उसे पूर्णरूप से रसत्वप्राप्ति ही नहीं है।

तीसरी बात यह है कि प्रेक्षक में रसकी अस्पष्ट प्रतीति मानना भी सगत नहीं है। क्योंकि काव्य में गुणालङ्कारसंस्कृत शब्दों से उपनिबध्यमान व नाट्य में नट द्वारा शिक्षाभ्यास से निष्पादित अभिनयकौशलपूर्वक प्रदर्श्यमान विभावादि को प्रेक्षक प्रत्यक्ष के समान वास्तविक मानते हैं। इसीलिए कहा है.—

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते ॥

जैसा कि शकुक ने भी कहा है कि नाट्य में नट शिक्षा व अभ्यास के द्वारा निष्पादित कौशल से इस प्रकार विभावादि का अभिनय करता है कि जिससे प्रेक्षक नट में कृत्रिम व वस्तुत अविद्यमान विभावादि को भी कृत्रिम नहीं समझते। अतः काव्योपनिबद्ध तथा अभिनय द्वारा प्रदर्शित विभावादि की अस्पष्टता का प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

विश्वनाथ—

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने लोचनकार अभिनवगुप्त के आधार पर मम्मट द्वारा प्रतिपादित रसस्वरूप का ही निरूपण किया है। उन्होंने साधारणीकरण द्वारा क्रमश अलौकिक विभावन, अनुभावन व शरीर में सर्वत्र. सञ्चारण व्यापार द्वारा अलौकिक विभाव, अनुभाव व व्यभिचारिसंज्ञाओं से व्यपदेश्य कार्य, कारण व सहकारिकारणों से सामाजिक हृदय में वासनारूप से पूर्व में ही विद्यमान रत्यादि

१. केवल मुख्यस्त्रीपुंसयो स्पष्टेनैव रूपेण रस । विभावाना परमार्थसत्त्वात्। अत एव तत्र व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसजन्या स्पष्टरूपा। अन्यत्र तु प्रेक्षकादौ अस्पष्टेनैव रूपेण। विभावानामपरमार्थसतामेव काव्याभिनयाभ्यां दर्शनात्। अत एव व्यभिचारिणोऽनुभावाश्च रसानुसारिणोऽस्पष्टा एव। अतएव प्रेक्षकादिगतो रसो लोकोत्तर उच्यते।

—ना. द पृ २०१-२०२

था रतित्वादि सामान्यरूप से उद्बोध माना है तथा प्रत्यक्षादिविलक्षण रसनरूप-आस्वाद को प्राप्त साधारणीकृत रत्यादि को या उनके अलौकिक ज्ञानरूप आस्वादन को ही रस माना है। उनके अनुसार जिन सहृदयों में, लोक मे सीतादि कारणों, रामादिगत कटाक्षभुजाक्षेपादि कार्यों व लज्जा औत्सुक्यादि सहकारिकारणों से अनुमान द्वारा रति का ज्ञान होकर उसके सस्कार बन चुके हैं तथा जन्मान्तर के भी रत्यादिसस्कार विद्यमान हैं, उन्ही को रसास्वादन होता है अन्य जरन्नैयायिको या मीमासकदुरूढो को नही। इस रीति से उन्होंने रसास्वाद मे इस जन्म की तथा प्राग्जन्म की वासना की कारणता स्पष्ट बतलाई है। जैसे—

'न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्। वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतु'। तत्र यद्याद्या न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमासकादीनामपि सा स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषाचिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्। उक्त च धर्मदत्तेन—

'सवासनाना सभ्याना रसस्यास्वादन भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः॥'

विभावादि व रत्यादि के साधारणीकरण के कारण प्रमाता सहृदय का भी आत्मानुप्रवेश रत्यादिरूप काव्यार्थवस्तु मे हो जाता है। इसको उन्होंने—

'प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते' (सा द ३, परि. का. १०)

इन शब्दों से बतलाया है।

विश्वनाथ अभिनवगुप्त की तरह इस तथ्य का भी स्पष्ट उल्लेख करता है कि लौकिक रति, शोक आदि स्थायिभाव लोकसम्बद्ध दशा में चाहे स्वस्वभावानुसार सुख व दु:ख के कारण हों, किंतु काव्यसश्रय प्राप्त कर अलौकिक विभावादि की चर्वणा से उद्बुद्ध होने पर देशकालव्यक्तिविशेषसम्बद्ध लौकिक दशा से हटकर अलौकिक बनने पर एकान्ततः सुख के ही जनक हैं।[1]

यदि काव्य मे शोकादि भाव भी अलौकिक होने से सुख के जनक हैं तो हरिश्चन्द्रादिचरित के प्रतिपादक काव्य के अध्ययन व तत्सम्बन्धी नाट्य के देखने से सहृदयों को अश्रुपातादि क्यों होते हैं? इसका समाधान करते हुए विश्वनाथ कहता है कि अश्रुपातादि का दु:ख से ही कोई सम्बन्ध नही है। वे तो चित्त के द्रवीभाव से होते हैं।[2] और चित्त के द्रवीभाव का एकान्तत: दु:ख से सम्बन्ध नहीं है, अपितु हर्ष से भी अश्रुपातादि कार्य लोक में दृष्टिगोचर होते हैं।

---

१. हेतुत्व शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसश्रयात्॥
शोकहर्षादयो लोके जायन्ता नाम लौकिका.।
अलौकिकविभावत्व प्राप्तेभ्य काव्यसश्रयात्॥
सुख सजायते तेभ्य सर्वेभ्योऽपीति का क्षति।

२. अश्रुपातादयस्तद्वद्द्रुतत्वाच्चेतसो मता।—सा. द., तृ प. का. ६, ७, ८

विश्वनाथ रस का आश्रय अनुकार्य रामादि को नहीं मानता, क्योंकि सीता आदि के दर्शन से उद्बुद्ध रामरति राम में ही रहती है अन्य किसी व्यक्ति में नहीं। और रस की प्रतीति एक काल में अनेकों सहृदयों में होती है। सीतादर्शन से उद्बुद्ध रामरति लौकिक है जब कि रस अलौकिक है। तथा सीता के दर्शन से राम में उद्बुद्ध होने वाली रति नाट्यदर्शन व काव्यश्रवण से अन्तराययुक्त भी हो गई है। क्योंकि सीता के दर्शन तथा राम में उद्बुद्ध रति में नाट्यदर्शन व काव्यश्रवण से व्यवधान भी हो गया है। वहाँ कारण कार्य का साक्षात् सम्बन्ध नहीं रहा है। अतः नाट्यदर्शन तथा काव्यश्रवण से उद्बुद्ध होने वाले रस का आश्रय अनुकार्य राम नहीं है।[1]

विश्वनाथ अनुकर्ता नट में भी रस की स्थिति नहीं मानता। क्योंकि वह शिक्षा अभ्यास आदि के बल से वाचिक, आङ्गिक, आहार्य तथा सात्त्विक रूप चारों प्रकार के अभिनयों द्वारा अनुकार्य रामादि की सरूपता का प्रदर्शन करता है। यदि उसको रसास्वादन होगा तो वह उसमें तन्मयीभाव प्राप्त कर लेगा और रामादि की सरूपता का प्रदर्शन नहीं कर सकेगा जो कि उसका वास्तविक कार्य है। दूसरी बात यह है कि अनुकर्त्ता पात्र है, पात्र का कभी रसास्वादन नहीं होता।[2]

किन्तु नट में सर्वथा रसास्वादकता का अभाव विश्वनाथ नहीं मानता। नट भी शिक्षा व अभ्यास के बल से रामादिसरूपता का प्रदर्शन न कर काव्यार्थ की भावना से रामादि की सरूपता का प्रदर्शन करता है तो वह सहृदयश्रेणि में प्रविष्ट होने से रसास्वादन का भाजन हो जाता है।[3]

रस न कार्य है न ज्ञाप्य है अपितु दोनों से विलक्षण है। न निर्विकल्पकज्ञानग्राह्य है तथा न सविकल्पकज्ञानग्राह्य, अपितु स्वानुभूतिसंवेद्य है, इत्यादि बातें मम्मटप्रतिपादित रस के समान ही हैं, उनमें कोई अन्तर नहीं है।

उपर्युक्त रीति से साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी मम्मटप्रतिपादित अभिनवगुप्त के मत के अनुसार ही रस का विवेचन किया है किन्तु उसमें कुछ अन्तर भी माना है। उस अन्तरमात्र का यहाँ दिग्दर्शन किया जा रहा है।

---

१ पारिमित्याल्लौकिकत्वात् सान्तरायतया तथा।
अनुकार्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत्॥ —सा द तृ परि. का. १८

२ शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः सरूपताम्।
दर्शयन्नर्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत्॥ —वही का १९

३ काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम्। —वही का २०
यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थभावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत्तदा सोऽपि सभ्यमध्य एव गण्यते। —सा द वृ ५८

विश्वनाथ ने *'व्यक्तः स तैर्विभावाद्यैः स्थायिभावो रसः स्मृतः'* इस कारिका का अर्थ विभावादि द्वारा रूपान्तर मे परिणतिरूप से व्यक्तीकृत स्थायिभाव रस होता है, ऐसा माना है। इसीलिए उन्होंने इस कारिका का व्याख्यान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि[1] व्यक्त अर्थात् दध्यादिन्याय से रूपान्तर को प्राप्त हुआ व्यक्तीकृत स्थायिभाव ही रस है। दीपक से पूर्वसिद्ध घटकी अभिव्यक्ति की तरह पूर्वसिद्ध रस की विभावादि से अभिव्यक्ति नही होती है। अर्थात् रस पूर्वसिद्ध वस्तु नही है किन्तु जिस प्रकार दूध दहीरूप मे परिणत होता हुआ ही दधि कहलाता है उसी प्रकार स्थायिभाव ही रूपान्तरता को प्राप्त होता हुआ रससंज्ञा को प्राप्त होता है। जिस प्रकार दीपक के द्वारा पूर्वसिद्ध घट की अभिव्यक्ति होती है उस प्रकार पूर्वसिद्ध रस की विभावादि द्वारा व्यक्ति नही होती। विभावादि के सयोग से रत्यादि स्थायिभाव *चिदानन्दचमत्काररूपता मे परिणत होता हुआ रस कहलाता है। साहित्यदर्पण* के टीकाकार श्री रामचन्द्र ने इसकी व्याख्या करते हुए निम्न रीति से इसका स्पष्टीकरण किया है—[2] 'जिस प्रकार खटाई के सयोग से दूध दधिरूप मे परिवर्तित हो जाता है, जिस प्रकार आमिक्षा (तप्त दुग्ध मे दधि के सयोग से फटे हुए दूध का स्थूल भाग) कपूर, खाड, मरिच आदि के योग से रूपान्तर मे परिवर्तित होकर प्रपाणक रस कहलाता है उसी प्रकार रत्यादि स्थायिभाव काव्य मे शब्दों द्वारा उपस्थापित विभावादि के सम्बन्ध से चिदानन्दरूप रूपान्तरता को प्राप्त होकर रस कहलाता है। अर्थात् रत्यादि स्थायिभाव ज्ञानरूपतापत्ति के कारण रस कहलाते हैं। इसीलिए रस मे स्वप्रकाशता और अखण्डता की सिद्धि हो जाती है क्योंकि[3] वेदान्तमत में ज्ञान स्वप्रकाश और अखण्ड है। अत· तद्रूपापन्न रत्यादि *मे भी स्वप्रकाशता और अखण्डता मानने मे भी कोई बाधा नहीं है। यदि रत्यादि स्थायिभाव ज्ञान से भिन्न होते तो उनमे स्वप्रकाशता की सिद्धि नही होती।* इसी प्रकार प्राचीनों का उद्धरण देते हुए एक स्थान पर उन्होंने कहा है कि[4] रस ज्ञान से अभिन्न है।

---

१. व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रस ।
न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते। —सा. द तृ. प. पृ ७६

२. पयो यथाम्लयोगेन रूपान्तरपरिणत सद् दध्युच्यते। यथा वामिक्षा कर्पूरखण्डमरिचादियोगेन रूपान्तरपरिणता प्रपाणकमुच्यते। तथा रत्यादि स्थायी भाव काव्योपस्थापितविभावादियोगेन रूपान्तरपरिणतश्चिदानन्दचमत्काररूप प्राप्त रस ।
—सा. द विवृति, पृ ६६

३. रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद् रसो भवेत्।
ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्व च सिध्यति ॥
यदि रत्यादिक प्रकाशशरीरादतिरिक्त स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्व न सिध्येत्। न च तथा। तादात्म्याभ्युपगमात्। —सा द. तृ प., पृ. ९४–९५

४. 'रस्यमानतामात्रसारत्वात्प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः।'
—सा द, तृ प., पृ. ७९

'यद्यपि चिरकाल से विनष्ट रामादिरति का रूपान्तर में परिणाम नहीं बन सकता तथापि यहां रत्यादिपद से रामादिरति का ग्रहण नहीं है अपितु रत्यादितादात्म्यापन्न सामाजिकगत रत्यादिवासना का ग्रहण है। इसीलिए काव्य-प्रकाशकार ने कहा है कि सामाजिकों में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि भाव यहां रत्यादिपद से गृहीत हैं न कि चिरविनष्ट रामादिरति। जो वासना को नहीं मानते हैं उनके मत से 'व्यक्तीकृत एव' ऐसा कहा है। अर्थात् ज्ञान के विषय बने हुए रत्यादि ही रस हैं न कि वस्तुभूत रत्यादि। तात्पर्य यह है कि ज्ञान के विषय रत्यादि रस हैं और ज्ञान के विषय अतीत अनागत पदार्थ भी होते हैं जिनकी ज्ञानकाल में सत्ता नहीं होती। अत रति के नष्ट हो जाने पर भी रत्यादि ज्ञान के विषय बन सकते हैं और उनका रसरूप में परिणाम सम्भव है। इस प्रकार मूल में मूलकार ने दो मतों का उल्लेख किया है। प्रथम मत के अनुसार ज्ञानरूपता को प्राप्त रत्यादि रस है और दूसरे मत के अनुसार ज्ञानविषयभूत अर्थात् प्रतीयमान रत्यादि रस हैं। ज्ञानविषयता और प्रतीयमानता अतीत रत्यादि में भी बन सकती है अत ज्ञानकाल में उनकी सत्ता की अपेक्षा नहीं।

रूपान्तरता को प्राप्त रत्यादि ही रस हैं इसके समर्थन में सूत्रकार ने दृष्टान्त दिया है कि जैसे 'ओदन पचति'[2] इस वाक्य में पाकसम्बन्ध से रूपान्तरता को प्राप्त तण्डुल ओदन कहलाता है उसी प्रकार प्रतीतिसम्बन्ध से चिदानन्दरूपता को प्राप्त रत्यादितादात्म्याध्यवसित सामाजिकवासना रस कहलाती है। इसीलिए आचार्य अभिनवगुप्त ने लोचन में 'रसा प्रतीयन्त इति त्वोदन पचतीतिवद् व्यवहार' यह कहा है।[3] जैसे तण्डुलों में पाक से पूर्व ओदनता नहीं है किन्तु पाकसम्बन्ध से प्राप्त तण्डुलों की ओदनता को सिद्ध की तरह मानकर उनमें कर्म-विभक्ति का निर्देश किया है उसी प्रकार प्रतीतिसमकालिक रत्यादि के रसत्व को सिद्ध मानकर 'रसा. प्रतीयन्ते' यह उक्ति है।

काव्य से उपस्थापित विभावादि के योग से चिदानन्दरूपता को प्राप्त रत्यादि ही विश्वनाथ के मत में रस हैं इसीलिए उन्होंने आगे स्पष्ट कहा है—

---

१ ननु चिरविनष्टस्य रत्यादे कथं रूपान्तरापत्तिरिति चेन् न। रत्यादिपदेन रत्यादि-तादात्म्याध्यवसिताया सामाजिकवासनाया ग्रहणात्। तदुक्तं प्रकाशकृता—सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितो स्थायिभाव, इति।
—सा द वि, पृ. ७६

२ यथा पाकसम्बन्धेन ओदनत्वं प्राप्तस्तण्डुल ओदनत्वेन व्यवह्रियते तथा प्रतीतिसम्बन्धेन रसत्वं प्राप्ता सामाजिकवासना रसत्वेन व्यवह्रियत इति भाव।
—सा द वि, पृ ७६

३ यथा तण्डुलानां पाकात्पूर्वमोदनत्वं नास्ति तथा रत्यादीनामपि प्रतीतेः पूर्वं रसत्व नास्तीत्यर्थः।
—सा. द, वि, पृ ७६

रत्यादिर्ज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद् रसो भवेत् ।
ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्व च सिध्यति ॥
—सा द परि ३

इसीसे रस मे स्वप्रकाशता व अखण्डता की सिद्धि हो जाती है क्योंकि ज्ञान वेदान्तमत मे स्वप्रकाश और अखण्ड है। अत तदभिन्न रत्यादिरूप रस भी स्वप्रकाश व अखण्ड है। अत वह ज्ञान से भिन्न नही है क्योंकि रसस्थल म ज्ञान ही रस का आस्वाद है। रस के ज्ञानरूप होने से ही विश्वनाथ ने यह प्रश्न उपस्थित किया है कि रस भी ज्ञानरूप है और व्यजना भी प्रतीतिविशेषरूप होने से ज्ञानरूप है अत दोनो के एक होने से इनमे व्यग्यव्यजकभाव की उपपत्ति कैसे होगी? उपर्युक्त उद्धरणो से स्पष्ट सिद्ध होता है कि रस चिदानन्दचमत्काररूप है और रत्यादि स्थायिभाव चिदानन्दरूपता को प्राप्त होते हुए ही रस कहलाते हैं।

समीक्षा

किन्तु आचार्य विश्वनाथ का यह कथन कि रत्यादि स्थायिभाव ज्ञानविषयता को प्राप्त होकर ज्ञानरूप बन जाता है, यह कथन युक्त प्रतीत नही होता। क्योंकि लोक व शास्त्र म कहीं भी ज्ञानविषय घटादि का ज्ञानरूप नहीं माना जाता। विषय तथा विषयी म भेद लोकप्रसिद्ध है। वासनामय रत्यादि भी ज्ञान के विषय हैं न कि ज्ञानरूप। इसीलिए भगवान् शङ्कराचार्य ने सकल जगत् को ज्ञानाकार मानने वाले विज्ञानवादी योगाचार बौद्ध के मत का प्रत्याख्यान करते हुए घटादि विषयो का पृथक् अस्तित्व सिद्ध करते हुए घटादि की विज्ञानाकारता का निराकरण किया है।[1] पण्डितराज जगन्नाथ ने भी रत्यादि को साक्षिभास्य बतलाया है न कि साक्षिरूप।

अपि च वासनामय रत्यादि के ज्ञानरूपता को प्राप्त होकर ज्ञानरूप बन जाने पर योगी द्वारा समाधि मे अनुभूयमान आत्मानन्द मे तथा रसिक द्वारा रसास्वादनसमकाल अनुभूयमान रसानन्द म किसी प्रकार का भेद न होने से रसानन्द को *ब्रह्मास्वादसहोदर (ब्रह्मास्वादसदृश)* कहना असगत होगा। जैसे दूध का दधिरूप परिणाम मानने पर दूध का पृथक् अस्तित्व नही रहता किन्तु केवल दधि ही रहता है। उसी प्रकार रत्यादि का ज्ञानाकार परिणाम मानने पर ज्ञान की ही सत्ता रहेगी न कि रत्यादि की। रसगगाधर मे इसीलिए रत्याद्यवच्छिन्न या रत्यादिविशिष्ट चित् को रस माना है न कि शुद्ध ज्ञानरूप चित् को।[2] अर्थात् केवल

---

१ न हि कश्चिदुपलब्धिमेव स्तम्भ कुड्य चेत्युपलभते। उपलब्धिविषयत्वेनैव तु स्तम्भकुड्यादीन् सर्वे लौकिका उपलभन्ते। —ब्र सू शा भा अ २, पा २ सू २८

२ वस्तुतस्तु वक्ष्यमाणश्रुतिस्वारस्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणा चिदेव रस।
—र ग पृ २३

चित् रस नहीं, अपितु रति और चित् दोनो मिलकर रस कहलाते हैं। रसास्वादन-दशा मे केवल आत्माकारा चित्तवृत्ति रस नहीं होती। अपितु रत्याद्युपहितस्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्ति रस होती है।[1] अत रत्यादि को प्रकाशशरीर मे भिन्न मानना ही होगा।

स्वय विश्वनाथ ने भी—

'प्रतीयमान प्रथम प्रत्येक हेतुरुच्यते।
तत सम्मिलित सर्वो विभावादि सचेतसाम्।
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्॥
—सा द तृ प का १६

के द्वारा चर्वणाविषयीभूत विभावादिसमष्टि को रस बतलाते हुए रस की एकान्तत ज्ञानरूपता का निषेध ही प्रकारान्तर से किया है।

यद्यपि रत्यादि का रत्यादिज्ञान के साथ तादात्म्य मानकर रस को ज्ञानस्वरूप विश्वनाथ ने सिद्ध किया है तथापि तादात्म्य मानने पर भी रस मे शुद्ध ज्ञानरूपता की उपपत्ति नही हो सकती। जैसे 'मुख चन्द्र' इस उदाहरण मे उपमेय मुख का उपमान चन्द्र के साथ तादात्म्य मानने पर भी मुख में सर्वथा चन्द्ररूपता नहीं बन जाती है। अपि तु मुख मे चन्द्ररूपता की प्रतीति होने पर भी मुख चन्द्रस्वरूप से अतिरिक्त ही रहता है उसी प्रकार रत्यादि मे ज्ञानतादात्म्य मानने पर भी रत्यादिक ज्ञानरूप प्रकाशशरीर से अतिरिक्त ही रहते हैं। 'अत रत्यादिक यदि प्रकाशशरीरादतिरिक्त स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्व न सिध्येत्। न च तथा।' यह कथन उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। अपि च यदि रत्यादि को रसस्वरूप न मान कर रत्यादिज्ञान को ही रसस्वरूप माना जाय तो भी रत्यादिज्ञान का अन्य ज्ञानो से भेद कराने वाले रत्यादि का विशेषणरूप से भान मानना ही पड़ेगा। अन्यथा ज्ञानत्वेन सभी घटपटादिज्ञानो मे रसत्वप्रसक्ति होने लग जायगी। क्योंकि जैसे रत्यादि का रत्यादिज्ञान के साथ तादात्म्य माना जा सकता है वैसे घटपटादि का भी घटपटादिज्ञान के साथ तादात्म्य है? अत वे भी रत्यादि की तरह ज्ञानरूप ही हैं।

यदि रत्यादि को ज्ञानरूप मानकर शुद्धज्ञान को ही रसरूप माना जायगा तो रसास्वाद और ब्रह्मास्वाद मे किसी प्रकार का भेद न होने से रसास्वाद को ब्रह्मास्वादसहोदर कहना भी अनुपपन्न हो जायगा। क्योंकि ब्रह्मास्वाद में आत्म व्यतिरिक्त किसी वस्तु का सम्पर्क नहीं होता और रसास्वाद मे आत्मव्यतिरिक्त रत्यादि की भी चर्वणा है। यही रसास्वाद की ब्रह्मास्वाद से विशेषता है और इसीलिए रसास्वाद को ब्रह्मास्वादसहोदर कहा गया है। किन्तु रसास्वाद मे आत्मव्यतिरिक्त रत्यादि की चर्वणा न मानी जायगी तो यह भेद नहीं बन सकेगा।

---

१ यदा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयतावशोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहितस्वस्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्तिरुपजायते। —र ग पृ २७

श्रीमधुसूदन सरस्वती

अद्वैतसिद्धि, अद्वैतरक्षण, सिद्धान्तबिन्दु आदि अद्वैतविषयक ग्रन्थों के निर्माता प्रसिद्ध अद्वैतवादी आचार्य श्री मधुसूदन सरस्वती भगवान् कृष्ण के गुणों से इतने आकृष्ट हुए कि वे जीवन के अन्तिम दिनों में कृष्ण के परम भक्त बन गए। कृष्णभक्ति से ओत प्रोत होने पर उन्होंने भक्तिरस के प्रतिपादक 'भक्तिरसायन' ग्रन्थ का निर्माण किया। इस ग्रन्थ में उन्होंने भक्ति को ही उत्कृष्ट रस सिद्ध किया है। साथ ही रसविषयक 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इस सूत्र का समन्वय भी भक्तिरस में किया है। उसी का यहाँ संक्षेप में निरूपण किया जा रहा है।

सर्वप्रथम भक्तिसामान्य का लक्षण प्रस्तुत किया है जो कि भक्ति विभावादि से अभिव्यक्त होकर रसरूपता को प्राप्त करती है—

'द्रुतस्य भगवद्धर्माद् धारावाहिकतां गता।
सर्वेशे मनसो वृत्तिर्भक्तिरित्यभिधीयते॥'

भगवद्गुणश्रवण से उत्पन्न भगवद्विषयक कामक्रोधादि उद्दीपन विभावों से द्रवावस्था को प्राप्त चित्त की सर्वेश (भगवत्) विषयक (भगवदाकार वाली) धारावाहिनी वृत्ति भक्ति कहलाती है। सरस्वतीजी का भक्तिसामान्यविषयक यह लक्षण श्रीमद्भागवत के तृतीय स्कन्ध के निम्न पद्य पर आधारित है—

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।
लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्॥'[1]

भगवद्गुणश्रवण से किसी में काम का उदय होता है-जैसे गोपियों में, किसी में क्रोध का उदय होता है जैसे शिशुपालादि में, किसी में भय उत्पन्न होता है जैसे कंस में, किसी में स्नेह पैदा होता है जैसे यादवों में। ये कामादि ही वे तापक द्रव्य हैं जिनके योग से लाक्षा की तरह स्वभावतः कठोर चित्त द्रवता को प्राप्त हो जाता है। कामादि द्वारा द्रवता को प्राप्त चित्त में वस्तु के द्वारा स्थापित वस्तु का आकार ही वासना, संस्कार, भाव या भावना कहलाता है।[2] इस प्रकार कामादि तापकों द्वारा द्रुत चित्त में समर्पित भगवान् का आकार ही भक्तिरस का स्थायिभाव है। भगवदाकाररूप यह स्थायिभाव भक्तरूप सामाजिकों के हृदय में

---

१ श्रीमद्भा०, ३ स्कन्ध, २९ अध्याय, श्लोक ११-१२

२ द्रुते चित्ते विनिक्षिप्तस्वाकारो यस्तु वस्तुना।
संस्कार-वासना-भाव-भावनाशब्दभाक्स तु॥ —भ० र० ३ का० ६

विद्यमान है। यही स्थायिभाव जब विभावादि से अभिव्यक्त होता है तब परानन्दता को प्राप्त होकर रस कहलाता है।[1]

भगवान् परमानन्दस्वरूप हैं। वही भगवद्गुणश्रवणजन्य कामक्रोधादि तापकों से द्रुत चित्त में जब प्रतिबिम्बित होता है तभी वह स्थायिभाव तथा विभावादि से परानन्दरूप में अभिव्यक्त होकर रस कहलाता है।[2]

यद्यपि द्रुत चित्त में प्रतिबिम्बित भगवदाकार को स्थायिभाव मानने पर विभाव तथा स्थायिभाव में ऐक्यापत्ति दोष है। क्योंकि भगवान् ही तो भगवदाकारतारूप स्थायिभाव का आलम्बन है। और वही द्रुतचित्तनिष्ठ भगवदाकारता सरस्वतीजी के मत में स्थायिभाव है। और अन्यत्र सभी रसों में विभाव और स्थायिभाव का भेद अनुभवगोचर है। जैसे शृङ्गार रस में सीता रामरति का आलम्बन है तथा उससे भिन्न रति स्थायिभाव है। तथापि एक ही भगवदाकार बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भेद से भिन्न है। बिम्बरूप भगवदाकार या भगवान् आलम्बन-विभाव है तथा द्रुतचित्तरूप उपाधि में प्रतिबिम्बित भगवदाकार स्थायिभाव है। जैसे बिम्बरूप ईश्वर ही अन्तःकरण या व्यष्टि अविद्या में प्रतिबिम्बित होने पर जीव कहलाता है। किन्तु बिम्ब प्रतिबिम्ब के भिन्न होने से जीव और ईश्वर में जैसे ऐक्यापत्ति दोष नहीं है। उसी प्रकार यहाँ भी एक ही भगवदाकार का बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव में व्यावहारिक भेद होने से दोनों (आलम्बन विभाव व स्थायिभाव) में ऐक्यापत्ति दोष नहीं है।[3]

यहाँ यह प्रश्न उपस्थित होता है कि द्रुतचित्त में निहित भगवदाकार ही स्थायिभाव है तब विभावादि से उसकी क्या अभिव्यक्ति होगी और क्या अभिव्यक्त भगवदाकाररूप स्थायिभाव को रसत्वप्राप्ति होगी? क्योंकि यहाँ भगवदाकार स्थायिभाव से भिन्न कोई रस नाम की वस्तु ही नहीं है, चित्तनिविष्ट भगवदाकार ही स्थायिभाव है और वही रस है।

इस प्रश्न का समाधान यही है कि कामक्रोधादि तापक द्रव्यों के योग से द्रुतचित्त में प्रविष्ट भगवदाकार ही स्थायिभाव है। किन्तु उन तापक द्रव्यों के योग

१ स्थायिभावगिरासोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते।
व्यक्तश्च रसतामेति परानन्दतया पुनः॥ —म. र., प्र. उ., का. ९

२. (क) भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्॥ —म. र., प्र. उ., का. १०

(ख) बिम्बस्यैव उपाधिनिष्ठत्वेन प्रतीयमानं प्रतिबिम्बमित्युच्यते। परमानन्दश्च भगवान् मनसि प्रतिबिम्बितः स्थायिभावतामासाद्य रसतामासादयतीति भक्तिरसस्य परमानन्दरूपत्वं निर्विवादम्। —म. र., प्र. उ., पृ. ४४

३ नाप्यालम्बनविभावस्थायिभावयोरैक्यम्, बिम्बप्रतिबिम्बभावेन भेदस्य व्यवहारसिद्धत्वादीश्वरजीवयोरिव। —म. र., प्र. उ., पृ. ४५

के अभाव में अन्य सांसारिक द्रव्यों के योग से मन में काठिन्य आ जाता है अतः उस समय भगवदाकार की प्रतीति नहीं होती। किन्तु भगवद्गुणश्रवणादि का अनुष्ठान करने पर पुनः कामक्रोधादि तापक द्रव्यों के योग से द्रवीभाव होने पर उस भगवदाकार की प्रतीति हो जाती है यही उसकी अभिव्यक्ति है। तथा मनरूप उपाधि अभी तक कामक्रोधादि विकारों में कलुषित थी। अतः स्पष्ट भगवदाकार की उसमें प्रतीति नहीं हो रही थी। किन्तु भगवान् रूप आलम्बन-विभाव, भगवद्विषयक कामक्रोधादि उद्दीपनविभावों, रोमाञ्च अश्रुपातादि अनुभावों, हर्षादि व्यभिचारिभावों से जब भगवदाकाररूप स्थायिभाव अभिव्यक्त होता है उस समय चित्तरूप उपाधि के कामक्रोधादि विकारों के नष्ट हो जाने से उसमें परमानन्दता की स्पष्ट प्रतीति हो जाती है जो कि चित्त के विकारों से युक्त होने पर नहीं हो रही थी। यही वासनारूप से विद्यमान भगवदाकाररूप स्थायिभाव तथा रस रूप में परिणत स्थायिभाव में अन्तर है। इसी तथ्य को सरस्वतीजी ने निम्न पद्य में स्पष्ट किया है—

'स्थायिभावगिराऽतोऽसौ वस्त्वाकारोऽभिधीयते।
व्यक्तश्च रसतामेति परानन्दतया पुनः॥'[1]

एक प्रश्न और बच जाता है कि जब द्रवीभूत चित्त में भगवद्विषयक कामक्रोधादि तापक द्रव्यों का योग नष्ट हो जाता है और सांसारिक कामादि भावों का योग होता है तब चित्तद्रुति के अभाव से उसमें प्रविष्ट भगवदाकार का भी विलोप हो जायगा, तब भगवदाकाररूप स्थायिभाव की वासनारूप से स्थिति कैसे संभव है। और वासनारूप से उसकी स्थिति न होने पर विभावादि से उसकी अभिव्यक्ति कैसे हो सकती है?

इसका समाधान यह है कि तापकद्रव्यों के योग से द्रुतचित्त में जब एक बार भगवदाकार प्रविष्ट हो गया है तब उन तापक द्रव्यों का योग नष्ट हो जाने पर भी भगवदाकार का विलोप नहीं होता, चाहे उसकी स्पष्ट प्रतीति नहीं हो। जैसे तापक वह्नि आदि के योग से लाक्षा के द्रुत हो जाने पर उसमें मिश्रित रंग, वह्नि के योग के नष्ट हो जाने पर तथा लाक्षा के काठिन्य को प्राप्त होने पर भी लाक्षाप्रविष्ट रंग का विलोप नहीं होता। इसी तरह चित्त के कठिन हो जाने पर भगवदाकाररूप स्थायिभाव की स्पष्ट प्रतीति न होने पर भी वासनारूप से उस कठिन चित्त में भगवदाकारता विद्यमान रहती है। वही भगवदाकारता विभावादि के योग से अभिव्यक्त हो जाती है। उसका ज्ञान व ध्यानरूप आस्वाद करने पर वह परानन्दरूप से अनुभूत होती है। यह परानन्दानुभूति ही तो रस है।

यद्यपि भगवान् सर्वदा ही परानन्दरूप है तथापि कठिन चित्त में स्थित विकारों के कारण उसकी परानन्दरूपता तिरोहित रहती है जो कि विभावादि के द्वारा व्यक्त होने से सकल विकारों का नाश होने पर अभिव्यक्त हो जाती है।

---

१. भ. र, प्र. उ. का. ९

भक्तिरस की परमानन्दरूपता निर्विवाद है। उसकी परमानन्दरूपता सिद्ध करने के लिए किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं है। क्योंकि भगवान 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियों के द्वारा परमानन्दरूप है और वही परमानन्दरूप भगवान् सहृदयमनोगत होकर रसरूपता को प्राप्त होता है। तभी तो 'रसो वै स, रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति, एष एवानन्दयाति' यह तैत्तिरीय श्रुति रस को आनन्दरूप चैतन्य बतला रही है।

मधुसूदन सरस्वती ने कहा है कि द्रुतचित्त में प्रतिबिम्बित भगवदाकार स्थायिभाव वाला भक्तिरस तो भगवद्रूप होने से आनन्दरूप है किन्तु शृङ्गारादि रसों में परमानन्दरूप भगवदाकार के स्थायिभव न होने से उन रसों की आनन्दरूपता कैसे सिद्ध होगी ? इसका उन्होंने उत्तर दिया है कि सभी रस आनन्दरूप हैं। क्योंकि 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्द प्रयन्त्यभिसंविशन्ति' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'आत्मैवेद सर्वम्' इत्यादि श्रुतियाँ तथा 'जन्माद्यस्य यत.' यह व्याससूत्र आनन्दरूप ब्रह्म को ही सकल जगत् का उपादान कारण बतला रहे हैं। तथा कार्य उपादान कारण से अभिन्न होता है अतः आनन्दरूप ब्रह्म उपादानवाला यह सकल जगत् भी आनन्दरूप ही है। इसलिए रति, शोक, हास, उत्साह, भय, जुगुप्सा, तीव्र आदि स्थायिभाव भी आनन्दरूप हैं। अत सभी रसों की आनन्दरूपता स्वतः सिद्ध है। इसीलिए सरस्वतीजी ने कहा है—

'कान्तादिविषयेऽप्यस्ति कारणं सुखचिद्घनम्' भ र १ उ, का ११

यदि सकल संसार अपने उपादान परमानन्दरूप ब्रह्म से अभिन्न है तो जगत् में आनन्दरूपता की प्रतीति क्यों नहीं होती ? इसका समाधान करते हुए उन्होंने कहा है—जगत् यद्यपि आनन्दरूप है किन्तु माया के द्वारा परमानन्दरूपता के आवृत होने से उसकी प्रतीति नहीं हो रही है। इसीलिए भक्तिरसायन में कहा है—

कार्याकारतयाऽस्तित्येऽप्यावृतं मायया स्वतः। भ र प्रथम उल्लास का. ११

यही बात गीता में भी कही है—

'नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृत ।' (गीता ७।२५)

अतः शृङ्गारादि रसों में कान्तादि आलम्बन भी चैतन्यरूप हैं। कान्तादि के बोधक प्रत्यक्षादि प्रमाणों में प्रमाणता तभी आ सकती है जब कि वे कान्तादि से अवच्छिन्न चैतन्य का बोधन करें। क्योंकि अज्ञातज्ञापकत्व ही प्रमाणों में प्रमाणत्व है। और अज्ञान की आवरणशक्ति से आच्छादित अज्ञानवस्तु चैतन्य ही होता है न कि जड विषय। विषय तो स्वयं जड है उसका अज्ञान द्वारा आवरण मानना निरर्थक है। अतः विषयावच्छिन्न चैतन्य ही अज्ञान से आवृत होता है और उसी अज्ञान की निवृत्ति प्रत्यक्षादि प्रमाणों से होती है।[1] इसलिए शृङ्गारादि रसों में कान्ताद्य-

1. अज्ञातस्य स्वप्रकाशैता भासमानचैतन्यस्य न जडम्, तस्य मानाप्रमेयता तदावरणकृत्याभावात्। अत कान्तादिविषयावच्छिन्नाज्ञानावरकत्वेन प्रामाण्यात् तत्तदवच्छिन्नचैतन्यमेव विषयो वाच्य अन्यथा जडयोगात्। —भ. र., प्र. उ., पृ ४८

वच्छिन्न चैतन्य ही द्रुतचित्तवृत्ति पर आरूढ होकर रत्यादि स्थायिभाव बनता है तथा विभावादि से अभिव्यक्त होकर वही स्थायिभाव रसरूपता को प्राप्त होता है। इसलिये लौकिक शृङ्गारादि रसों की भी परमानन्दरूपता सिद्ध है।

इतना भेद अवश्य है कि भक्तिरस में निरवच्छिन्न अतएव शुद्ध चिदानन्दरूप भगवान् का चित्तवृत्ति में स्फुरण होता है। अत वहाँ आनन्द का आधिक्य है। तथा शृङ्गारादि लौकिक रसों में विषयावच्छिन्न चिदानन्द का द्रुत चित्तवृत्ति में स्फुरण होता है। अत. जड विषय का सम्मिश्रण होने से उनमें भक्तिरस की अपेक्षा आनन्द की न्यूनता है।[1]

भक्तिरसायन के तृतीय उल्लास में रस के आश्रय का निरूपण करते हुए सरस्वतीजी ने सामाजिकहृदय को रस का आश्रय बतलाया है। किन्तु रस विभावों, अनुभावों व व्यभिचारिभावों से सुखरूप में अभिव्यक्त स्थायिभाव है। इस प्रकार रस के सुखाभिन्न आत्मरूप होने से, चूंकि आत्मा का कोई आधार नहीं है अन आत्मरूप रस का कोई आधार सम्भव नहीं। किन्तु आत्मरूप सुख की व्यञ्जिका पुरुष की सात्विक मनोवृत्ति का आश्रय सामाजिकमन है। अत इस वृत्ति का आश्रय होने से सामाजिक-मन को रस का आश्रय कहा है।[2]

श्री मधुसूदन सरस्वती ने काव्यार्थ अर्थात् अनुकार्य रामादि में रहने वाले रत्यादि स्थायिभावों को लौकिक तथा बोद्धा अर्थात् सामाजिक में रहने वाले लौकिक स्थायिभावसदृश रत्यादि को अलौकिक माना है।[3]

बोध्य (अनुकार्य) में रहने वाले लौकिक रत्यादि लोक की तरह सुख व दु ख के कारण हैं किन्तु बोद्धा में रहने वाले रत्यादि केवल सुखजनक हैं न कि लोक की तरह सुख व दु ख के जनक हैं।[4]

तात्पर्य यह है कि लोक में रत्यादि जैसे सुखजनक हैं तथा शोकादि दु ख-जनक हैं वैसे सामाजिकनिष्ठ रति, शोक, जुगुप्सा आदि भाव सुख व दु ख के जनक नहीं हैं, किन्तु सामाजिकनिष्ठ ये भाव एकान्तत. सुख के जनक हैं न कि दु खजनक।

---

१ अत एवानवच्छिन्नचिदानन्दघनस्य भगवत स्फुरणाद्भक्तिरसस्यान्याधिक्यमानन्दस्य। लौकिकरसे तु विषयावच्छिन्नस्यैव चिदानन्दांशस्य स्फुरणात्तत्रानन्दस्य न्यूनतैव।

—भ र, प्र उ, पृ ४९

२. सुखस्यात्मस्वरूपत्वात्तदाधारो न विद्यते।
तद्व्यञ्जिकाया वृत्तेस्तु सामाजिकमन प्रति॥ —भ र, तृ, उ, का ३

३ काव्यार्थनिष्ठा रत्याद्या स्थायिन सन्ति लौकिका।
तद्बोद्धृनिष्ठास्त्वपरे तत्समा अप्यलौकिका॥ —भ र., तृ उ, का. ४

४. बोध्यनिष्ठा यथास्व ते सुखदु खादिहेतव।
बोद्धृनिष्ठास्तु सर्वेऽपि सुखमात्रैकहेतव॥ —भ र, तृ उ, का. ५

क्योकि लौकिक रत्यादि देशकालव्यक्तिविशेषसम्बद्ध हैं किन्तु सामाजिकनिष्ठ साधारणीकृत अतएव स्वपरसम्बन्धरहित रत्यादि लोकसम्बन्धातीत होने से अलौकिक हैं। इसीलिए लोक की तरह सुख व दुःख के जनक न होकर एकान्ततः सुखजनक हैं।

मधुसूदन सरस्वती ने विभावानुभावव्यभिचारिसंसृष्टस्थायिभावविषयिणी समूहालम्बनात्मिका सात्त्विकी बुद्धि को रस न मानकर उस समूहालम्बनात्मक बुद्धि के अनन्तरक्षण मे व्यक्त होने वाले उत्तम सुख को रस माना है। और उस समूहालम्बनात्मिका सात्त्विकी मति को रस मानने वाले अभिनवगुप्तादि के मत मे 'केचित्' पद के द्वारा अरुचि प्रदर्शित की है।

अभिनवगुप्त ने साधारणीकृत विभावादि से साधारणीकृतरूप से अभिव्यक्त चर्वणाविषयीभूत विभावादिसंसृष्ट रत्यादि को रस माना है। और वह रस ब्रह्मास्वादसदृश आनन्द का अनुभावक है, यह कहकर रसास्वाद मे आनन्द की प्रतीति मानी है न कि उस आनन्द को रस माना है।[1] किन्तु रस 'रसो वै सः' इस श्रुति के अनुसार आनन्दरूप हैं और समूहालम्बनात्मिका सात्त्विकी बुद्धि आनन्दरूप नहीं है। इसी तथ्य की अभिव्यक्ति उनकी निम्नलिखित कारिकाओं मे हुई है—

'भावत्रितयसंसृष्टस्थायिभावावगाहिनी।
समूहालम्बनात्मैका सात्त्विकी जायते मतिः॥

साऽनन्तरक्षणेऽवश्यं व्यनक्ति सुखमुत्तमम्।
तद्रसः केचिदाचार्यास्तामेव तु रसं विदुः॥'[2]

रूपगोस्वामिविरचित भक्तिरसामृतसिन्धु की भूमिका मे पृ ४५ के अन्तिम अनुच्छेद मे मधुसूदन सरस्वती के मतानुसार रसस्वरूप का प्रतिपादन करते हुए विद्वान् श्री रामसागर त्रिपाठी मधुसूदनसरस्वतीसम्मत रस तथा अभिनवगुप्त सम्मत रसस्वरूप का भेद स्पष्ट नहीं कर पाये हैं। उन्होंने 'भावत्रितय' इत्यादि कारिकाओं का शब्दार्थमात्र कर दिया है।

'तीनो भावो से संसृष्ट स्थायी भाव का अवगाहन करने वाली एक समूहालम्बनात्मिका बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। वह शीघ्र ही उत्तम सुख को अभिव्यक्त करती है, वही रस है।' यह कहा है। उनकी उपर्युक्त पंक्ति से यह सिद्ध होता है कि उत्तम सुख को अभिव्यक्त करने वाली समूहालम्बनात्मिका बुद्धि रस है ऐसा मधुसूदन सरस्वती का मत है। इसीलिये उन्होंने भूमिका के ४५ वें पृष्ठ मे प्रथम

---

१ साधारण्येन प्रतीतैः (विभावादिभिः) अभिव्यक्तः सामाजिकानां वासनात्मतया स्थितः स्थायी रत्यादिकः ... अपरिमितभावेन प्रमाता... गोचरीकृतश्चर्व्यमाणतैकप्राण ... ब्रह्मास्वादमिवानुभावयन् अलौकिकचमत्कारकारी शृङ्गारादिको रसः।

—का. प्र., पृ ९२, ९१

२ भ. र, तृ उ, का १०, ११

अनुच्छेद में कहा है कि—मधुसूदन सरस्वती ने निम्नलिखित शब्दों में रसनिष्पत्ति का विश्लेषण किया है—

'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगेनाभिव्यक्त. स्थायिभाव एव सभ्याभिनेययोर्भेदतिरोधानेन सभ्यगत एव सन् परमानन्दसाक्षात्काररूपेण रसतामाप्नोतीति रसविदा मर्यादा।'

इस उद्धरण से त्रिपाठी जी ने यह सिद्ध किया है कि सामाजिकगत स्थायिभाव ही विभावादि से अभिव्यक्त होकर रसत्व को प्राप्त होता है। इसी बात को उन्होंने आगे 'स्थायिभाव सामाजिकगत ही होता है। और सामाजिक की चित्तवृत्ति ही रसरूपता धारण करती है।' इस प्रकार विभावादिसंसृष्टस्थायिभावावगाहिनी सामाजिक की सात्विकी चित्तवृत्ति ही मधुसूदनसरस्वती के अनुसार रसस्वरूप है, ऐसी त्रिपाठी जी की मान्यता है। किन्तु यह मान्यता, जैसा कि पूर्व में बतलाया जा चुका है मधुसूदनसरस्वतीसम्मत रसस्वरूप के अनुकूल नहीं है। वे तो स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि इस सामाजिकचित्तवृत्ति से अभिव्यक्त आत्मरूप आनन्द रस है।[1] उन्होंने कहा है—सामाजिकचित्तवृत्ति उत्तम सुख को व्यक्त करती है। वह सुख रस है। इसीलिये 'तद् रसः' में नपुंसकलिङ्ग 'तद्' के द्वारा सुख का बोधन किया है। यदि चित्तवृत्ति को रस मानना उन्हें अभीष्ट होता तो 'सा रस' ऐसा कहते। तथा आगे सामाजिक-चित्तवृत्ति को रस मानने वाले अभिनवगुप्त आदि के मत को 'केचिदाचार्यास्तामेव तु रस विदुः' के द्वारा बतलाया है।

ऊपर सामाजिकचित्तवृत्ति को अर्थात् विभावादि से अभिव्यक्त स्थायिभाव को रस बतलाने वाला जो उद्धरण दिया है। वहा सरस्वतीजी ने यह बतलाया है कि भरतादि रसवादी आचार्य विभावादि से अभिव्यक्त स्थायिभाव को परमानन्दसाक्षात्काररूप से रस मानते हैं ऐसी उनकी मर्यादा है। यहाँ 'रसविदा मर्यादा' यह उक्ति ही इस बात को संकेतित कर रही है। और यह इसलिए कहा है कि भक्तिरसवादी यदि भक्ति को रस मानते हैं तो उनको भक्तिरस के स्थायिभाव का निरूपण करना चाहिए। अत: रसवेत्ताओं की मर्यादा के अनुसार भक्तिरस के स्थायिभाव का निरूपण किया जा रहा है।[2] मधुसूदन सरस्वती के अनुसार परमानन्दस्वरूप भगवान् ही भक्त के मन में

1. भावत्रिनयसंसृष्टस्थायिभावावगाहिनी।
समूहालम्बनात्मैका जायते सात्विकी मति।
सात्वन्तरशणेऽस्य व्यनक्ति सुखमुत्तमम्।
तद् रस।—भ. र. सू. उ का.

2. तदुक्तमाचार्यभरतेन—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिरिति'। अतो भक्तेरपि रसतां वक्तु स्थायिभावो निरूप्यत इति भाव। —भ र पृ ४४

प्रतिबिम्बरूप से अवस्थित होकर स्थायिभाव कहलाता है[1] और वही रस बनता है। भगवान् परमानन्दस्वरूप है। अतः भक्तिरस में परमानन्दरूपता निर्विवादरूप से सिद्ध है। सरस्वतीजी के अनुसार भक्तिरस का स्थायिभाव मनोगत परमानन्दस्वरूप भगवान् है और वह शाश्वत है। अतः उसमें स्थायिता भी निर्विवाद है।[2] इस प्रकार मन में प्रतिबिम्बित परमानन्दरूप भगवान् यहाँ स्थायिभाव है न कि सामाजिकचित्तवृत्ति। विभावादित्रितयसंसृष्टस्थायिभावावगाहिनी सामाजिकचित्तवृत्ति तो उसकी अभिव्यञ्जकमात्र है। इसीलिए सरस्वतीजी ने—

नित्य सुखमभिव्यक्त रसो वै स इति श्रुतेः। —भ. र. तृ. उ. का. २२

परमानन्द आत्मैव रस इत्याहुरागमा.। —भ. र. तृ. उ. का. २४

इन वचनों से इसका स्पष्टीकरण कर दिया है।

अभिनवगुप्तादि विभावादिसंसृष्टस्थायिभावविषयिणी समूहालम्बनात्मिका प्रतीति को रस मानते हैं तो सूत्रकार ने विभावादिसंयोग से रसनिष्पत्ति मानकर विभावादिसंयोग को जो रस के प्रति कारणता बतलाई है उसका विरोध होगा। इस विरोध का परिहार मधुसूदन सरस्वती ने अभिनवगुप्तादि के मतानुसार यह किया है कि विभावादि में प्रत्येक का पृथक् ज्ञान रस का कारण तथा विभावादिसंसृष्टस्थायिभावविषयिका समूहालम्बनात्मिका बुद्धि रस है। भक्तिरसायन की निम्नाङ्कित कारिका इसी रहस्य को व्यक्त कर रही है—

'तेषां प्रत्येकविज्ञानं कारणत्वेन संमतम्।'[3]

इस तथ्य का साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी प्रतिपादन किया है—

'प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते।
ततः संमिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम्।
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत्॥'

—सा. द. तृ. परि. का. १५, १६

यदि विभावादिसंसृष्ट स्थायिचर्वणा को रस न मानकर उसके अनन्तरक्षण में अभिव्यक्त अनुभूयमान आनन्द को रस माना जायगा तो 'स्थायिभावान् रसत्वमुपनेष्यामः' इत्यादि वचनों से प्रतीयमान 'स्थायिभावो रसः' इस भरतसिद्धान्त का विरोध होगा। इस विरोध का परिहार सरस्वतीजो ने 'स्थायिभावो रसः' इस

---

१. भगवान् परमानन्दस्वरूपः स्वयमेव हि।
मनोगतस्तदाकारो रसतामेति पुष्कलम्॥ —भ. र. प्रथम उल्लास का. १०

२. परमानन्दश्च भगवान् मनसि प्रतिबिम्बित स्थायिभावतामासादयतीति भक्तिरसस्य परमानन्दस्वरूपत्व निर्विवादम्। —भ. र. पृ. ४५

३. भ. र., तृ. उ., का. १४

प्रयोग को सारोपालक्षणामूलक मानकर किया है। अर्थात् जैसे 'आयुर्घृतम्' में घृत के आयु का जनक होने पर भी घृत को आयु बतलाने वाला 'आयुर्घृतम्' प्रयोग लाक्षणिक है उसी प्रकार विभावादिससृष्टस्थायिभाव रसपदवोध्य आनन्द का व्यजक है न कि आनन्दरूप। फिर भी सारोपा शुद्धा लक्षणा के द्वारा आनन्द-रूप रस के व्यजक स्थायिभाव को आनन्दरूप रस बतला दिया है। इसी रहस्य का प्रकाशन सरस्वतीजी ने 'स्थायी भावो रस इति प्रयोगस्तूपचारत'[1] इस कारिका के द्वारा किया है।

अभिनवगुप्त आदि आचार्य रस का प्रत्यायक काव्य को मानते हैं। काव्य रस के कारण विभावादि का बोधन कर व्यञ्जनावृत्ति द्वारा रसरूप म परिणत होने वाले रत्यादि स्थायिभाव का व्यञ्जक है। उनके मत मे रस का प्रत्यक्ष स्वानुभूतिरूप है। वह निर्विकल्पक व सविकल्पक दोना से विलक्षण है अतएव अलौकिक है। किन्तु सरस्वतीजी का आत्मरूप रस निर्विकल्पक प्रत्यक्ष का विषय है। क्योकि तत्समत भक्तिरस आत्मरूप आनन्द ही है। और आत्मा का ज्ञान ससर्गानवगाही होने से निर्विकल्पक ही है। अभिनवगुप्तादिसमत रसस्वरूप मे विभावादि का तथा स्थायिभाव का परामर्श होता है किन्तु शुद्ध आत्मसुख म विभावादि किसी भी वस्तु का परामर्श नही है। इसीलिए उन्होंने कहा है—

'नित्य सुखमभिव्यक्त रसो वै स इति श्रुते।
प्रतीतिः स्वप्रकाशस्य निर्विकल्पसुखात्मिका॥
—भ र, तृ उ का २२

निष्कर्ष

१ श्री मधुसूदनसरस्वती ने भक्तिरस मे भगवद्विषयक रति को स्थायिभाव न मान कर भगवद्विषयक रति से चित्त की द्रुति हो जाने पर द्रुत-चित्त मे प्रविष्ट भगवदाकार को स्थायिभाव माना है और वह वस्तुत स्थायी है। क्योकि रत्यादि के द्वारा द्रुतचित्त मे प्रविष्ट भगवदाकार तापक रत्यादि के अभाव मे चित्तद्रुति का विलोप हो जाने पर और चित्त के काठिन्य दशा को प्राप्त हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता। अर्थात् चित्त की भगवदाकारता का लोप नही होता।

२ बिम्बरूप भगवदाकार ही जो कि भक्ति का आलम्बन है द्रुतचित्त-रूप उपाधि मे प्रतीयमान होने पर स्थायिभाव कहलाता है। इसलिए एक ही भगवदाकार बिम्बप्रतिबिम्बभाव से भिन्न होने के कारण भिन्न हो गया है। अत आलम्बनविभाव तथा स्थायिभाव में ऐक्यापत्ति दोष नही है।

३ द्रुतचित्त में वासनारूप से विद्यमान भगवदाकार ही विभावादि के

[1] भ र, तृ उ, का १४

मयोग से अभिव्यक्त होकर परमानन्दरूपता के कारण रस कहलाता है। क्योंकि 'रसो वै स । रस ह्येवाय लब्ध्वाऽऽनन्दीभवति' इस तैत्तिरीयश्रुति के अनुसार आनन्द ही रसपदवाच्य है।

४ शृङ्गारादि रसो मे कान्तादि विषयो के ससर्ग से रस मे निरवच्छिन्न आनन्दरूपता नही है किन्तु कान्तादि के विषयावच्छिन्न चैतन्यरूप होने से विषयावच्छिन्न आनन्दरूपता है। अत वहाँ पूर्ण परमानन्दरूपता प्राप्त नहीं होती है, जैसी कि भक्तिरस मे प्राप्त होती है। अत भक्तिरस सर्वश्रेष्ठ है।

५ मधुसूदनसरस्वती के अनुसार विभावादि से योग मे विभावानुभाव-व्यभिचारिसमृष्टस्थायिभावविषयिणी समूहालम्बनरूप सात्विकी बुद्धि बनती है। उस बुद्धि के अनन्तरक्षण मे उत्तम सुख की अभिव्यक्ति होती है। वह व्यज्यमान उत्तम सुख ही रस है न कि विभावादिसमूहालम्बनात्मिका सात्विकी मति। क्योंकि 'रसो वै स' यह श्रुति रस को आनन्दरूप बतला रही है और विभावादिसमूहालम्बनात्मिका सात्विकी मति आनन्दरूप नही है।

६ इन के मत में उत्तम सुख को रस मानने पर स्थायिभाव को रस बतलाने वाले 'स्थायिभावो रस' इत्यादि वाक्यों की उपपत्ति 'आयुर्घृतम्' की तरह सारोपा लक्षणा द्वारा होती है।

७ उत्तम सुख की व्यजिका सुखगर्भित विभावादिसमृष्टस्थायिभाव-विषयिणी वृत्ति काव्यरूपशब्द से जन्य होने पर भी, 'दशमस्त्वमसि' इस वाक्य से जन्य दशमपुरुषाकार बुद्धि जैसे दशमपुरुष के प्रत्यक्ष होने से जिस प्रकार प्रत्यक्ष कहलाती है, उसी प्रकार सुख के प्रत्यक्षरूप होने से प्रत्यक्ष कहलाती है।

८. सरस्वतीजी के मत मे उत्तम सुखरूप आत्मचैतन्य का ज्ञान निर्विकल्पक प्रत्यक्षरूप है क्योंकि वह ज्ञान शुद्ध सुखरूप होने से किसी प्रकार के ससर्ग को विषय न करने के कारण ससर्गानवगाही ज्ञान है और ससर्गानवगाही निर्विकल्प प्रत्यक्ष होता है।

पडितराज जगन्नाथ

रसस्वरूप के विवेचन में पडितराज जगन्नाथ ने यह महत्त्वपूर्ण योगदान किया है कि उन्होंने कुछ ऐसे मतों का उल्लेख किया है जो रस के विषय में यद्यपि कोई मौलिकता प्रदर्शित नहीं करते, किन्तु रसविषयक भरत सूत्र की व्याख्या मे दार्शनिक दृष्टि से नवीन विचार प्रस्तुत करते हैं। उन मतों का विवेचन आगे प्रस्तुत किया जायगा। उससे पूर्व पडितराज ने अभिनव के मत को ही जो विशिष्ट व्याख्या के साथ प्रस्तुत किया है उसी का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है।

पण्डितराज ने अभिनव के मत को वेदान्तीय भाषा मे प्रस्तुत किया है। इनसे पूर्व व्यक्तिवादी अभिनव की व्याख्या को इसी रूप मे उपस्थित किया गया था कि 'सहृदयों के हृदय मे वासनारूप से विद्यमान, अनभिव्यक्त (प्रसुप्त) स्थायिभाव रसानुकूल विभावादिसामग्री द्वारा साधारणीकृतरूप मे अभिव्यक्त होता है और सहृदयो द्वारा अलौकिक ज्ञान (स्वानुभूति) से आस्वाद्यमान होने पर रस-सज्ञा से व्यवहृत होता है।' जैसा कि अभियुक्तो ने कहा है—"व्यक्तः स तैर्विभावाद्यै स्थायिभावो रस स्मृत." इति।' किन्तु व्यजना से रस का प्रत्यक्षकल्प ज्ञान किस प्रकार होता है ? इस प्रक्रिया को पडितराज ने वेदान्तसम्मत प्रत्यक्षज्ञान के स्वरूप के आधार पर नवीन रीति से प्रस्तुत किया है।

वेदान्त-सिद्धान्त मे सभी वस्तुओ का सर्वदा चित् से सम्बन्ध है क्योंकि चित् (चेतना या आत्मा) व्यापक व नित्य है और चित् से वस्तु का सम्बन्ध ही उसके प्रत्यक्ष का कारण है। फिर भी सर्वदा वस्तुओ का प्रत्यक्ष नही होता क्योंकि विषयावच्छिन्न चैतन्य अविद्या से आवृत रहता है। जब किसी कारण से अर्थात् विषयाकारवृत्ति के द्वारा विषयावच्छिन्न चैतन्य का आवरणभग हो जाता है उस समय निरावरण चित् के साथ सम्बन्ध होने से वस्तु का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है। विषयावच्छिन्न चैतन्य का आवरणभग तब होता है जब अन्त करण इन्द्रियो द्वारा अथवा अन्य किसी प्रमाण से विषय-प्रदेश पर पहुँचकर विषयाकार बन जाता है। अन्तःकरण इन्द्रियादि द्वारा बाहर निकल कर दण्डाकार मे परिणत होता हुआ विषय पर पहुँचने पर विषयाकार बन जाता है। अन्त.करण का यह विषयाकार परिणाम ही अन्त करणवृत्ति कहलाता है।[1] यह वृत्ति जब विषयावच्छिन्न चैतन्य पर पहुँचती है तब वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य व विषयावच्छिन्न चैतन्य का एकदेशस्थनारूप अभेद हो जाने पर उस वृत्ति द्वारा विषयावच्छिन्न चैतन्य का आवरणभग होकर उस पदार्थ का प्रत्यक्षज्ञान हो जाता है। यदि विषयाकार वृत्ति भी बन जाय और उस अन्त करणवृत्ति का विषयावच्छिन्न चैतन्य से सम्बन्ध न हो तो उस वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान नही होता, किन्तु परोक्ष ज्ञान ही होता है। जैसे अनुमित्यादि स्थल मे अन्त.करण का वह्न्याकाररूप मे परिणाम होने पर भी उसका वह्नि-

---

१ (क) यथा तडागोदक छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकार भवति तथा तैजसमन्त करणमपि चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेश गत्वा *घटादिविषयाकारेण परिणमति स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते।*

—वे प प्रत्यक्ष परिच्छेद पृ ४१।

(ख) गृह्णाति विषयाकारं मनो विषययोगत ।
इति वेदान्तिभिस्माङ्ख्यैरपि सम्यङ् निरूपितम् ॥

—भक्तिरसायन, प्रथम उल्लास, २० कारिका

मूषानिषिक्त यथा ताम्र तन्निभ दृश्यते तथा। घटादि व्याप्नुवच्चित्त तन्निभ जायते ध्रुवम् ॥

—भ. र, प्र उ, का २१

प्रदेशम्य चैतन्य के साथ सम्बन्ध न होने से वह्नि का परोक्ष ज्ञान ही होता है, प्रत्यक्ष-ज्ञान नही । इस प्रकार "व्यक्त. स तैर्विभावाद्यैः" "इस कारिका मे व्यक्त का अर्थ "व्यजना का विषयभूत अर्थ" है और व्यजना का तात्पर्य भग्नावरणा चित् है।[1] इस आवरण-भग-सहित चित् के साथ जब रत्यादि विषयो का सम्बन्ध होता है तब ये रत्यादि भग्नावरणा चित् के विषय कहलाते हैं और इन्ही की रस-सज्ञा है ।

यहां यह बात विचारणीय है कि भग्नावरणा चित् केवल रत्यादि को ही अपना विषय नही बनाती किन्तु स्वय अर्थात् चित् को भी अपना विषय बनाती है। क्योकि स्वप्रकाश पदार्थ प्रकाश्य वस्तु का ही प्रकाश नही करते किन्तु स्वरूप को भी प्रकाशित करते हैं। जैसे दीप आदि स्वप्रकाश पदार्थ अप्रकाशित जड़ घटादि पदार्थों का तो प्रकाश करते ही हैं किन्तु स्वय दीपादि का भी ।[2] अत. व्यक्त अर्थात् भग्नावरणा चित् के विषय रत्यादि भी हैं और स्वयं चित् भी । इस प्रकार रत्याद्युपाधियुक्त चित् रस कहलाती है, न केवल रत्यादि और न केवल चित् । यदि केवल चित् ही रस होती तो उसका ब्रह्मास्वाद से भेद नहीं रहता और उसे ब्रह्मास्वाद-सहोदर नहीं कहते । यदि केवल रत्यादि ही रस होते तो उनमें आनन्दरूपता और स्वप्रकाशता की सिद्धि नही होती क्योकि वेदान्त-सिद्धान्त के अनुसार सभी आनन्द आत्मानन्दरूप ही है । विषयो मे लेशत. भी आनन्द नहीं है। विषय नाम-रूपात्मक अविद्या के रूप हैं अतः उनमे आनन्द की सत्ता नहीं हो सकती । यदि विषयो मे आनन्द होता तो उन विषयो से सभी कालो, देशो और सभी परिस्थितियो मे सभी को आनन्द का भान होना चाहिये । परन्तु वस्तु-स्थिति ऐसी नही है । एक वस्तु एक काल मे आनन्दप्रद प्रतीत होती है और दूसरे समय मे वही दु.खप्रद प्रतीत होती है । जैसे चन्दनलेप ग्रीष्म में आनन्दप्रद किन्तु शरद् मे दुःखप्रद होता है । इसी प्रकार जो वस्तु एक के लिए सुखप्रद होती है वही दूसरे के लिए दु.खजनक है । जैसे कटक उष्ट्र के लिए सुखप्रद और अन्य प्राणियों के लिए दुःखप्रद है। वेदान्त-सिद्धान्तानुसार सच्चिदानन्दरूप आत्मा ही है अतः आनन्द आत्मा का स्वरूप है। विषयो में जो आनन्द की प्रतीति होती है वह आत्मानन्द के कारण ही होती है। किन्तु आत्मानन्द की अनुभूति तभी होती है जब कि मन या अन्त.करण अन्तर्मुख होकर शान्त बन जाता है। उस शान्त मनोवृत्ति मे आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है और अन्त.करण आत्माकार बन जाता है। उस समय आत्मानन्द का भान प्राणी को होता है । रुचिकर विषय बहिर्मुख चचल अन्त करणवृत्ति को निश्चल व अन्तर्मुखी करने मे कारण होते हैं जिसमें कि आत्मानन्द का भान होता है। इस प्रकार वह आत्मानन्द प्राणियों को विषय के माध्यम से प्राप्त होता है। इसीलिए उसे विषयानन्द कहा जाता है। पचदशीकार ने बतलाया है कि विषयानन्द मे अभीष्ट

---

१. व्यक्तो व्यक्तिविषयीकृत । व्यक्तिश्च भग्नावरणा चित् । —रसगंगाधर पृ. २२

२ यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते । एवमात्मचैतन्यं विभावादिसंवलितान् रत्यादीन् । —रसगंगाधर, पृ. २२

विषय के लाभ से कुछ देर के लिए निश्चित तथा शान्त बनी हुई मनोवृत्ति में आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ता है और उस समय प्राणी को आत्मानन्द की प्रतीति होती है। तैत्तिरीयोपनिषद् में सभी विषयों में आत्मानन्द का प्रतिबिम्ब ही बतलाया गया है, अतः रसास्वाददशा में भी जिस आनन्द का भान होता है वह आत्मानन्द ही है। उपर्युक्त रीति से भग्नावरण चित् का विषय 'रत्याद्यवच्छिन्न चित' ही रस है।

पण्डितराज ने विभावादि के साधारणीकरण में सहृदयतासहकृत पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावनाविशेष को कारण बताया है। यद्यपि यह पण्डितराज की मौलिक उद्भावना नहीं है। आचार्य अभिनवगुप्त ने अभिनव-भारती में अभिधावृत्ति द्वारा विशेषरूप से उपस्थापित पदार्थों की पश्चात् मानस साक्षात्कार के द्वारा साधारणीकृतरूप में उपस्थिति बतलाकर इस तथ्य का स्पष्ट संकेत कर दिया है। तथापि मानससाक्षात्कार होने पर विभावादि की साधारणीकृत रूप से उपस्थिति क्यों होती है, विशेष रूप से ही क्यों नहीं ? इस रहस्य का स्पष्टीकरण पण्डितराज ने ही पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावनाविशेष को कारण मानकर किया है। क्योंकि जिस वस्तु का पुनः पुनः अनुसंधानात्मक ज्ञान किया जाता है उसमें शनैः शनैः विशेषताओं का परित्याग होकर वस्तुमात्रतारूप साधारणता आ ही जाती है। इसीलिए अभिनवगुप्त ने 'भयमेव परं देशकालाद्यनालिंगित (भाति)'[1] इस उक्ति के द्वारा भय-स्थायिभावमात्र की भावनादशा में स्थिति बतलाई है। विभावादि की पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावना भी तभी होती है जब बाह्य पदार्थ मन में स्थान प्राप्त कर लें क्योंकि मानसपदार्थों की ही भावना बन सकती है न कि बाह्य पदार्थों की। और सीतादि पदार्थ बाह्य हैं, उनकी भावना कैसे बनेगी ? इस शंका का समाधान भी पण्डितराज ने प्रस्तुत कर दिया है। उनका कथन है कि जब सीतादि बाह्य पदार्थ तत्तद्रसानुकूल एवं दोषाभाव व गुणालंकार से संस्कृत सुन्दर काव्य-शब्दों के द्वारा उपस्थित किये जाते हैं तब उनमें सौन्दर्य आ जाता है और उसके कारण ये बाह्य पदार्थ सहृदय के हृदय में प्रविष्ट होकर मानस बन जाते हैं।[2] मानस बनने पर मन के द्वारा उनकी पुनः पुनः अनुसंधानरूप भावना बनने में किसी प्रकार की बाधा नहीं है।

किन्तु विभावादि के इस साधारणीकरण में भावना के साथ सहृदयों की सहृदयता भी कारण है। बिना सहृदयता के भावना के द्वारा भी साधारणीकरण नहीं हो सकता। यह सहृदयता वर्णनीय वस्तु के प्रति हृदय की तन्मयीभवनयोग्यता है जो कि निरन्तर काव्यार्थ का परिशीलन करने से विशुद्ध अन्तःकरण वाले पुरुषों में ही बनती है। इसीलिए रसास्वाद के अधिकारी सहृदय पुरुष ही

---

१ अभिनवभारती पृ २७९

२ समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैः। —र. गं. पृ. २१

है। इसी तथ्य का संकेत भरत ने 'नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् स्थायिभावान् आस्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षका.'[1] इस उक्ति में प्रेक्षकों के लिए 'सुमनस.' विशेषण देकर कर दिया है। अभिनवगुप्त ने भी 'अधिकारी चात्र विमलप्रतिभानशालिहृदय'[2] इस उक्ति के द्वारा इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन में सहृदय शब्द की व्याख्या करते हुए कहा है कि काव्यानुशीलन के अभ्यास से जिनका मन निर्मल हो गया है और जिनके मन में वर्णनीय वस्तु में तन्मयीभवन की योग्यता आ गई है वे ही सहृदय है।[3] इस व्याख्या से सहृदयता में तन्मयीभवनयोग्यता का भी समावेश है और वर्णनीय वस्तु से मन का तन्मयीभाव होते ही उस समय सब विशेषताओं का परित्याग होकर वस्तुमात्रता शेष रह जाती है यही साधारणीकरण है।

पण्डितराज ने ही सर्वप्रथम व्यवस्थितरूप से इस साधारणीकरणप्रक्रिया का निम्न शब्दों में निरूपण किया है—

'समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितै सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैं शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभि कार्यैश्चिन्तादिभि सहकारिभिश्च' इत्यादि।[4]

इन साधारणीकृत विभावादि से एक अलौकिक व्यापार प्रादुर्भूत होता है और उससे उस समय चित् के आनन्दांश का आवरण भग्न हो जाता है। आनन्दांश के आवरण के भग्न होते ही भग्नावरण चित् के द्वारा सहृदयों के हृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि स्थायिभावों तथा निजस्वरूपानन्द के साक्षात्कार का विषयभूत रत्याद्यवच्छिन्न चित् (स्वरूपानन्द) ही रस है।

वेदान्त-सिद्धान्तानुसार आत्मा सच्चिदानन्द स्वरूप है। 'सत्य ज्ञानमनन्त ब्रह्म' 'नित्य विज्ञानमानन्द ब्रह्म' इत्यादि श्रुतियाँ उसका यही स्वरूप बतला रही हैं। यद्यपि सत, चित् व आनन्द आत्मा के विभिन्न अंश नहीं हैं क्योंकि श्रुतियां उसे *निष्कल एवं निरवयव बतला रही है।* अत उनमें अंशांशिभाव नही है। सत्, चित व आनन्द तीनों अभिन्न तत्त्व हैं, तथापि उनमें काल्पनिक भेद मानकर व्यवहार-दशा में आत्मा में सत्ता, चेतना और आनन्द इन तीनों अंशों की कल्पना की गई हैं। भगवान् वेदव्यास ने भी इसी काल्पनिक अंशांशिभाव के कारण ही

---

१. भरत-नाट्यशास्त्र पृ २८९

२. अ भा पृ २७९

३ 'येषां काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाज सहृदया।' —लोचन पृ १८

४ रसगङ्गाधर पृ २१

जीव को ब्रह्म का अंश बतलाया है।[1] इन तीनों अंशों में जगत् की किन्हीं वस्तुओं में केवल सत्ता अंश का ही भान होता है, कहीं सत्ता और ज्ञान दोनों का और कहीं सत्ता, ज्ञान और आनन्द तीनों अंशों का। जैसे मृत् पाषाण आदि अचेतन पदार्थों में केवल सत्ता अंश का ही भान है, ज्ञानांश व आनंदांश तिरोहित हैं। अन्त:करण की घोर व मूढ वृत्तियों में सत्तांश के साथ ज्ञानांश का भी भान है। अतएव उन वृत्तियों की भी प्रतीति होती है। किन्तु इनमें भी आनन्दांश के भान न होने का कारण यह है कि मूढावस्था में अन्त करण में तमोगुण का प्राधान्य है अत तम द्वारा आनन्दांश के आवृत होने से इस अवस्था में आनन्दांश का भान नहीं होता। घोरावस्था में अन्त करण में रजोगुण का प्राधान्य है और रजोगुण का धर्म चांचल्य है। चंचलता ही दु ख है। इसीलिए सांख्य में रजोगुण को दु खस्वरूप बतलाया गया है। अत इस अवस्था में भी आनन्दांश तिरोहित ही रहता है। किन्तु जब अन्त करण की सत्त्वप्रधान शांत वृत्ति बनती है तब तमोगुण व रजोगुण के तिरोभूत हो जाने से सत्ता, ज्ञान व आनन्द तीनों अंशों का ही भान होता है। संसारदशा में प्राय रजोगुण व तमोगुण का प्राधान्य होने से आनन्दांश अधिकांशत तिरोहित रहता है। सत्त्वप्राधान्य होने पर कभी कभी उसकी अभिव्यक्ति होती है। उसी समय मनुष्य आनन्द का अनुभव करता है। इस रहस्य का स्पष्टीकरण पंचदशीकार ने किया है।[2] सत्त्व-प्राधान्य में आनन्दांश की भी अभिव्यक्ति होने का यह कारण है कि उस समय रजोगुण के अभिभूत हो जाने से मन में निश्चलता आ जाती है। निश्चल मन अन्तर्मुख होकर आत्माकार बन जाता है। अंतर्मुख होने से ही बाह्य विषयों के साथ संपर्क न रहने से उसमें एक प्रकार से वेद्यान्तरशून्यता भी आ जाती है। ऐसी स्थिति में निश्चल अन्त करण में आनन्दरूप आत्मा का पूर्ण प्रतिबिम्ब पडता है और स्वरूपानन्द का भान होता है।

वेदान्तसिद्धान्त के उपर्युक्त तथ्यों के परिज्ञान के बाद ही पंडितराज द्वारा प्रतिपादित रसस्वरूप को हृदयंगम किया जा सकता है अत वेदान्त के इन

---

१ (क) ममैवांशो जीवलोके जीवभूत, सनातन । —गीता १५ ७

(ख) 'अंशो नानात्वव्यपदेशात्' —ब्रह्मसूत्र २ अध्याय २ पाद

२ शान्ता घोरास्तथा मूढा मनसो वृत्तयस्त्रिधा ।
वैराग्यं क्षान्तिरौदार्यमित्याद्या शान्तवृत्तय ॥ —पञ्चदशी विद्यानन्द श्लोक ३

तृष्णा स्नेहो रागलोभावित्याद्या घोरवृत्तय ।
संमोहो भयमित्याद्या कथिता मूढवृत्तय ॥ —वही ४

वृत्तिष्वेतासु सर्वासु ब्रह्मणश्चित्स्वभावता ।
प्रतिबिम्बति शान्तासु सुखं च प्रतिबिम्बति ॥ —वही ५

घोरमूढासु मालिन्यात् सुखांशश्च तिरोहित ।
ईषन्नैर्मल्यतस्तत्र चिदंशप्रतिबिम्बनम् ॥ —वही ९

शान्तासु सुखचैतन्य तथैवोद्भूतिमाप्नुत ॥ —वही ११

कतिपय तत्वों का पहले प्रतिपादन किया गया है। पण्डितराज के अनुसार रस का निम्न स्वरूप है—

समुचितललितसन्निवेशचारुणा काव्येन समर्पितैः सहृदयहृदयं प्रविष्टैस्तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना विगलितदुष्यन्तरमणीत्वादिभिरलौकिकविभावानुभावव्यभिचारिशब्दव्यपदेश्यैः शकुन्तलादिभिरालम्बनकारणैश्चन्द्रिकादिभिरुद्दीपनकारणैरश्रुपातादिभिः कार्यैश्चिन्तादिभिः सहकारिभिश्च सम्भूय प्रादुर्भावितेनालौकिकेन व्यापारेण तत्कालनिवर्तितानन्दांशावरणाज्ञानेन अतएव प्रमुष्टपरिमितप्रमातृत्वादिनिजधर्मेण प्रमात्रा स्वप्रकाशतया वास्तवेन निजस्वरूपानन्देन सह गोचरीक्रियमाणः प्राग्विनिविष्टवासनारूपो रत्यादिरेव रसः।

—रसगंगाधर पृ० २१

तात्पर्य यह है कि काव्यशब्दों में अन्य शब्दों की अपेक्षा विलक्षणता है क्योंकि उसमें तत्तद्रसास्वाद के उचित दोषाभावगुणालंकारयुक्त चमत्कारजनक शब्दों का प्रयोग होता है जो कि पाठक के हृदय को आवर्जित करने में समर्थ होते हैं। ऐसे सहृदयहृदयावर्जक काव्यशब्दों के द्वारा जब रत्यादि स्थायिभावों के कारण, कार्य और सहकारियों की उपस्थिति होती है तो वे (कारण, कार्य, सहकारी) सहृदयों के हृदय में स्थान प्राप्त कर मानस बन जाते हैं। सहृदय अपनी वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यतारूप सहृदयता के कारण बार बार उनका अनुसंधान करता है। सहृदयतासहकृत पुनः पुनः अनुसंधानरूप इस भावना द्वारा उन कारणादि में दुष्यन्तरमणीत्व आदि सर्वविध विशेषताओं का परिहार होकर नायिकात्वादिरूप साधारणीकृतरूप से उनकी उपस्थिति होती है। यह सम्पूर्ण कार्य सुन्दर शब्दों द्वारा उपस्थापित कारणादि की मानस भावना से होता है। कारण, कार्य व सहकारी के साधारणीकृत होते ही शकुन्तलादि में सहृदयों के हृदय में वासनारूप से वर्तमान रत्यादि के आस्वादाङ्कुरयोग्यतापादनरूप विभावन, अनुभवयोग्यतापादनरूप अनुभावन तथा सर्वशरीर में रत्यादि का विशेषतया सञ्चारणरूप व्यभिचारण की सामर्थ्य आ जाती है। इन विभावनादि व्यापारों के कारण, वे कारण, कार्य व सहकारी इन लौकिक नामों से व्यवहृत न होकर विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव इन अलौकिक नामों से व्यपदिष्ट होते हैं। इनके विभावादि की चर्वणा के काल में आत्मा के आनन्दांश के आवरक अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है और परिमित प्रमातृत्व से रहित प्रमाता, भग्नावरण (आवरणरहित) चित् के द्वारा वासनारूप से वर्तमान रत्यादि को आनन्दांश के साथ अनुभूति करता है। अर्थात् उस समय भग्नावरण चित् द्वारा रत्यादि का तथा स्वयं चिद्रूप आनन्द का भान होता है।[1] यह रत्यादि-उपहित अथवा रत्यादि-अवच्छिन्न आत्मरूप आनन्द ही रस है। यद्यपि रत्यादि पहले भी सहृदय-हृदय में वर्तमान थे और आत्मरूप

---

1. यथा हि शरावादिना पिहितो दीपस्तन्निवृत्तौ सन्निहितान् पदार्थान् प्रकाशयति, स्वयं च प्रकाशते। एवमात्मचैतन्यं विभावादिचर्वणमहिम्ना रत्यादीन्। —रसगंगाधर पृ० २२

आनन्द भी पूर्व विद्यमान था तथापि उनका भान पहले नहीं था। क्योंकि निरावरण चित् से ही रत्यादि अंशों का प्रकाश होता है, आवृत से नहीं। जैसे निरावृत दीप ही घटादि विषयों तथा स्वयं को प्रकाशित कर सकता है आवृत नहीं। अत. एतदर्थ आनन्दांश के आवरण करने वाले अज्ञान की निवृत्ति की आवश्यकता थी। आनन्द के साथ अंश का प्रयोग इसलिए किया है कि अन्य मनोदशाओं में चिदंश अनावृत रहता है किन्तु आनन्दांश नहीं। यह बात ऊपर बतलाई जा चुकी है। शान्त व निश्चल मनोदशा में ही आवरणभंग होकर आनन्दांश की प्रतीति होती है। मनोवृत्ति की यह शान्तता तथा निश्चलता विभावादि की चर्वणा में प्राप्त होती है और यह चर्वणा काव्य द्वारा उपस्थापित कारण, कार्य आदि के मानस बनने पर होती है। विभावादि बाह्य पदार्थ मानस तभी बनते हैं जबकि सहृदयों के हृदय में स्थान प्राप्त करते हैं। वे सहृदय-हृदय में तभी स्थान प्राप्त करते हैं जब वे रुचिकर होते हैं और रुचिकरता उनमें तभी आती है जबकि दोषरहित व गुणालङ्कारसंस्कृत काव्यशब्दों के द्वारा उनकी उपस्थिति होती है।

रत्यादि स्थायिभाव अन्त करण के धर्म हैं। अन्त करणधर्मों का वेदान्ती साक्षी से प्रकाश मानते हैं। अर्थात् अन्त करणधर्म केवल साक्षिभास्य होते हैं जबकि अन्य पदार्थ वृत्तिभास्य भी होते हैं। जहां वस्तु के आकार की अन्त करणवृत्ति इन्द्रिय, अनुमानादि प्रमाणों से निष्पन्न नहीं होती उन पदार्थों को वेदान्त केवल साक्षिभास्य मानता है। वे पदार्थ अन्त करण के धर्म तथा आत्मा हैं। उन पदार्थों के आकार वाली अन्त करणवृत्ति अवश्य बनती है अर्थात् अन्त करण का परिणाम उन पदार्थों के आकार वाला अवश्य होता है। पदार्थाकार अन्त करणपरिणामरूप वृत्ति न मानें तो उन पदार्थों का प्रत्यक्ष ही नहीं हो सकता। क्योंकि प्रत्यक्ष का लक्षण वृत्तिघटित है[1] तथापि उन पदार्थों के आकार की अन्त करणवृत्ति इन्द्रियादि प्रमाणों द्वारा नहीं बनती अपितु उनके बिना ही बनती है। इसीलिए वे केवल साक्षिभास्य कहलाते हैं।[2] इसी प्रकार प्रातिभासिक रज्जुसर्प आदि पदार्थ या स्वप्न के पदार्थ जो कि साक्षात् अविद्या के परिणाम हैं, उनकी सर्पाकार या स्वप्नपदार्थाकार अन्त करण-वृत्ति नहीं बनती अपितु अविद्यावृत्ति बनती है। वे भी साक्षात् साक्षिभास्य कहलाते हैं। किन्तु घटादि बाह्य पदार्थों की घटाद्याकारवृत्ति अन्त करण व विषय की अभिन्नप्रदेशवृत्तिता के कारण, अभिन्न होने से बनती है, अत. व (घटपटादि पदार्थ) केवल साक्षिभास्य नहीं, अपि तु वृत्तिभास्य कहलाते हैं। इस प्रकार रसानुभूतिस्थल में रत्यादि पदार्थ अन्त करण के धर्म हैं, अत रत्याद्याकारिका अन्त करणवृत्ति इन्द्रियादि के द्वारा नहीं बनती। क्योंकि उनके आन्तर होने से इन्द्रियादि का सम्बन्ध

---

१ तथा च तत्तदिन्द्रिययोग्यवर्तमानविषयावच्छिन्नचैतन्याभिन्नत्वं तत्तदाकारवृत्त्यवच्छिन्नज्ञानस्य तत्तदंशे प्रत्यक्षत्वम्। —वे प न प पृ ६४।

२. न हि वृत्तिं विना साक्षिविषयत्वं केवलसाक्षिवेद्यत्वं किन्त्विन्द्रियानुमानादिप्रमाणव्यापार-मन्तरेण साक्षिविषयत्वम्। —वे प पृ ३१

ही उनसे नहीं होता। इन्द्रियों का सम्बन्ध बाह्य पदार्थों से है क्योंकि उनकी प्रवृत्ति बहिर्मुखी है। अतः वे रत्यादि साक्षिभास्य कहलाते हैं। यद्यपि शकुन्तलादि विभाव, कटाक्ष-भुजाक्षेपादि अनुभाव बाह्य पदार्थ हैं अतः शकुन्तलाद्याकारक चित्तवृत्ति इन्द्रियों द्वारा बनती है इसलिए उनमें साक्षिभास्यता की उपपत्ति कैसे हो सकती है? इस शंका का समाधान पण्डितराज ने इस प्रकार किया है कि यद्यपि विभावादि बाह्य पदार्थ हैं तथापि वे सहृदयहृदय में प्रविष्ट होकर आन्तर बन जाते हैं तभी उनकी चर्वणा होती है और उनका चित् से साक्षात्कार होता है। अर्थात् बाह्य शकुन्तलादि की रसानुभूति में ज्ञानरूप चर्वणा नहीं है अपितु उनके आधार पर निर्मित मानस अतएव अन्तःकरण में नवोत्पन्न विभावादि की चर्वणा होती है। नवोत्पत्ति इसलिए माननी पड़ती है कि वेदान्त-सिद्धान्त में बिना विषय के कोई ज्ञान नहीं होता। जहां रज्जु-सर्पादिस्थल में व्यावहारिक सर्प के न होने पर भी सर्प का भान माना जाता है वहां वेदान्त के अनुसार नवीन प्रातिभासिक सर्प की उत्पत्ति मानी जाती है। यही स्थिति स्वप्न-पदार्थों के भान में भी है। इसीलिए श्रुति में स्वप्न-स्थल में नवीन प्रातिभासिक पदार्थों की उत्पत्ति बतलाई गई है।[1] उन प्रातिभासिक पदार्थों के साथ इन्द्रियादि द्वारा सर्पाकारादिवृत्ति न बनने से वे वृत्तिभास्य न होकर साक्षिभास्य हैं। इन प्रातिभासिक रज्जुसर्पादि की तथा स्वप्न-पदार्थों की तरह मानस विभावादि भी नवीन उत्पन्न होते हैं अतः उनके साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध न होने से वहां भी शकुन्तलाद्याकारिका अन्तःकरणवृत्ति इन्द्रियसम्बन्ध से नहीं बनती। अतः वे वृत्तिभास्य न होकर साक्षिभास्य हैं। अन्तर इतना ही है कि प्रातिभासिक रज्जुसर्पादि में अन्तःकरणवृत्ति का सर्वथा अभाव है और मानस विभावादि में शकुन्तलाद्याकारिका अन्तःकरणवृत्ति तो बनती है किन्तु इन्द्रियादि द्वारा नहीं बनती। जहां इन्द्रियादि प्रमाणों द्वारा विषयाकारवृत्ति बनती है वे ही वृत्तिभास्य कहलाते हैं शेष साक्षिभास्य कहलाते हैं। इसलिए विभावादि की साक्षिभास्यता में भी किसी प्रकार की अनुपपत्ति नहीं है। इसी आधार पर रत्यादि की तरह विभावादि को भी साक्षिभास्य कहा गया है।[2]

जब तक विभावादि की चर्वणा है तब तक उससे प्रादुर्भावित अलौकिक व्यापार द्वारा आत्मा के आनन्दांश के आवरक अज्ञान की निवृत्ति होकर निरावरण चित् रत्यादिसहित स्वस्वरूपानन्द का प्रकाश करती है और विभावादि की चर्वणा के नष्ट होते ही अलौकिक व्यापार का तिरोभाव हो जाता है। अतः उसके द्वारा आत्मा के आनन्दांश का आवरणभंग न होने से आवृत चिदात्मा द्वारा रत्यादिसहित स्वरूपानन्द का साक्षात्कार भी नहीं होता।

---

१. न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्ति, अथ रथान्-रथयोगान् पथः सृजते।

—बृ. उ. ४ अध्याय ३ ब्राह्मण १० मं.

२. विभावादीनामपि सुखदुःखादीनामिव स्फुरत्तादीनामिव साक्षिभास्यत्वमविरुद्धम्।

—रसगङ्गाधर पृ. २२

उपर्युक्त रीति से विभावादि-चर्वणा तथा आवरण-भंग के मध्य एक अलौकिक व्यापार की कल्पना की गई है जो व्यापार विभावादि की चर्वणा से प्रादुर्भूत होता है तथा चिदात्मा के आनन्दांश के आवरक अज्ञान को निवृत्त करता है। इस नवीन व्यापार की कल्पनारूप गौरव को बचाने के लिए रसास्वादन की दूसरी प्रक्रिया का भी निरूपण पंडितराज ने किया है। वह प्रक्रिया निम्नांकित है—

सुन्दर काव्यशब्दों द्वारा उपस्थापित अतएव सहृदय-हृदय में प्रविष्ट तथा सहृदय की सहृदयतासहकृत भावना द्वारा प्रादुर्भूत विभावादिचर्वणा से प्रमाता की, *स्थायिभावों से उपहित स्वरूपानन्दाकारा*, चित्तवृत्ति बनती है और यह वृत्ति ही रस की चर्वणा है। यह चित्तवृत्ति विभावादिचर्वणा से ही निष्पन्न हो जाती है। अतः इस चित्तवृत्तिरूप रसचर्वणा और विभावादिचर्वणा के मध्य किसी अलौकिक व्यापार के मानने की आवश्यकता नहीं है। स्थायी से उपहित स्वस्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्ति ही *हृदय का तन्मयीभाव है क्योंकि यह नियम है कि प्रमाता की* चित्तवृत्ति जिस विषय के आकार की बनती है प्रमाता का उस विषय में तन्मयीभाव हो जाता है।[1] यह चित्तवृत्ति *काव्यशब्दों से निष्पन्न होती है अतः* इसे शाब्दी कहा जाता है। तथा स्वस्वरूपानन्दरूप अपरोक्ष सुख इस चित्तवृत्ति का विषय है अतः शब्दजन्य होते हुए भी यह चित्तवृत्ति अपरोक्ष कहलाती है। वेदान्त ज्ञान के शब्द-जन्य होने पर भी जिस ज्ञान का विषय अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) होता है उसे वह अपरोक्ष ही मानता है, *जैसे "तू दसवां है" यह ज्ञान। यहाँ 'दशमस्त्वमसि' शब्द के द्वारा* ही यद्यपि दशमपुरुषाकार चित्तवृत्ति बनती है, तथापि उसका विषय दशम पुरुष सन्निहित अर्थात् इन्द्रियसन्निकृष्ट है। अतः यह ज्ञान प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से जन्य अखण्ड आत्माकारा चित्तवृत्ति भी यद्यपि शब्द-जन्य है तथापि उसका विषय अन्तरात्मा अतिसन्निहित है अतः "तत्त्वमसि" वाक्य-जन्य प्रत्यगात्मविषयक ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही कहलाता है।[2] इन दोनों उदाहरणों के आधार पर यह भी निश्चित है कि रसचर्वणा के समय जो स्थाय्युपहित स्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्ति बनती है वह यद्यपि काव्यशब्दों के द्वारा निष्पन्न होती है फिर भी उसका विषय रत्याद्युपहित स्वरूपानन्द अतिसन्निहित है अतः यह ज्ञान भी प्रत्यक्ष ही है। इसलिए पण्डितराज ने कहा है—"येयं द्वितीयपक्षे तदाकार-चित्तवृत्त्यात्मिका रसचर्वणा उपन्यस्ता सा *शब्दव्यापारभाव्यत्वात् शाब्दी, अपरोक्ष-*सुखालम्बनत्वाच्च अपरोक्षात्मिका तत्त्ववाक्यजबुद्धिवत्।" (रसगंगाधर, पृ २३)

डा. गुप्त ने "तत्त्ववाक्यजबुद्धिवत्" के अर्थ को न समझकर इसकी सर्वथा

---

१. यद्वा विभावादिचर्वणामहिम्ना सहृदयस्य निजसहृदयताबलोन्मिषितेन तत्तत्स्थाय्युपहित-स्वस्वरूपानन्दाकारा समाधाविव योगिनश्चित्तवृत्तिरुदेति। तन्मयीभवनमिति यावत्॥

—रसगंगाधर, पृ २२

२ तथा च सोऽयं देवदत्त इति वाक्यजन्यज्ञानस्य सन्निकृष्टविषयतया प्रत्यक्षत्वम्। तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यजन्यज्ञानस्यापि।

—वे प. पृ ८०

भ्रान्त व्याख्या की है। उन्होंने कहा है "वेदान्तवाक्यजन्यतत्त्वप्रतीति" को शाब्दी होते हुए भी अपरोक्ष माना जाता है। किन्तु यह वाक्यजन्य तत्त्वप्रतीति क्या है? उसका स्पष्टीकरण उन्होंने नहीं किया। अतएव इससे वे क्या कहना चाहते हैं इसकी भी स्पष्ट प्रतिपत्ति नहीं होती। पण्डितराज के 'तत्त्ववाक्यजबुद्धिवत्' का अर्थ वाक्य-जन्य तत्त्वप्रतीति किस आधार पर किया है, यह समझ में नहीं आता। यथार्थता तो यह है कि पण्डितराज ने 'तत्त्वम्' पद का उल्लेख कर संक्षेप में 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य की ओर निर्देश किया है। अर्थात् जिस प्रकार 'तत्त्वमसि' इस महावाक्य से निष्पन्न आत्मविषयक ज्ञान शब्दजन्य होते हुए भी प्रत्यगात्मा के अत्यन्त सन्निकट होने से प्रत्यक्ष है उसी प्रकार रस-ज्ञान भी। यहाँ 'तत्त्वम्' पद जो कि 'तत्त्वमसि' का बोधक है वाक्य का विशेषण है जबकि डा गुप्त ने उसे भ्रांति से बुद्धि का विशेषण समझ लिया है और उसके आधार पर वाक्यजन्यतत्त्वप्रतीति यह व्याख्या की है।

डा गुप्त का यह कथन भी भ्रान्त है कि काव्य-प्रतीति सदा अपरोक्ष ही होती है, क्योंकि अहृदय पुरुष, जो कविवर्णित भाव के साथ तन्मयीभवनयोग्यता से रहित है, को काव्यजन्यप्रतीति कभी अपरोक्ष नहीं होती। यह तो सहृदय की सहृदयता है जिसके बल से उसका प्रत्यक्ष हो जाता है। इसलिए अभिनवगुप्त ने लोचन में कहा है—

'येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्यता ते स्वहृदयसंवादभाजः सहृदयाः।' (लोचन, पृ ३८)

विभावादि का साधारणीकरण पंडितराज ने सहृदयतासहकृत[२] भावना-विशेष द्वारा माना है। यह भावना उस वस्तु का पुनःपुनः अनुसंधानरूप है। जैसा कि ग्रन्थ के प्रारम्भ में काव्यलक्षण का विवेचन करते हुए पंडितराज ने कहा है[३]— "कारण च तदवच्छिन्न भावनाविशेष पुनः पुनरनुसन्धानात्मा"। अतः डा गुप्त तथा डा नगेन्द्र ने भावना का जो कल्पना अर्थ किया है वह उचित प्रतीत नहीं होता। डा गुप्त भावना-विशेष के अर्थ को नहीं समझ पाये हैं। कहीं वे इसे *कल्पना शक्ति बतलाते हैं,*[४] *कहीं वे यह एक मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि भावुक के* मन में ही विभावादि साधारणीकरणरूप में उपस्थित हो पाते हैं, इत्यादि उक्ति के द्वारा इसे भावुक मन की विशेषता बतलाते हैं। कहीं भी उन्होंने भावनाशब्द के अर्थ का स्पष्टीकरण नहीं किया।

---

१ रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ २०३

२ तदीयसहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना। —रसगंगाधर, पृ २१

३ रसगंगाधर, पृ ४

४ आधुनिक शब्दावली में कहना या यह सत्य है कि सामाजिक की कल्पनाशक्ति विशाल होती है। —रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ १९६

डा गुप्त का कथन है कि "भट्टनायक[1] के साधारणीकरण का अभिनव के साधारण्य के व्यापक सिद्धान्त मे एक आगिक स्थान ही मिला है। पंडितराज ने भी उसे निष्पत्तिप्रक्रिया मे एक अग व्यापार के रूप मे ही अपनाया है' यह उचित प्रतीत नही होता। जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है कि अभिनवगुप्त के वितत साधारण्य का अर्थ देशकालविशेषापेक्ष साधारणीकरण न होकर सार्वदेशिक व सार्वकालिक साधारणीकरण है और ऐसा साधारणीकरण भट्टनायक व पंडितराज भी मानते है। पंडितराज तो प्रकारान्तर से अभिनवसम्मत रस की प्रक्रिया का ही वर्णन कर रहे हैं। फिर व अभिनव के व्यापक साधारणीकरण को आगिकरूप म कैसे ग्रहण कर सकते हैं?

डा गुप्त ने रसगगाधर के 'तत्कालनिवर्तितानन्दाशावरणाज्ञानेन' इस वाक्यांश के अर्थ को न समझकर जो यह विवेचन किया है कि "काव्य की विभावादिसामग्री के द्वारा जो अलौकिक प्रक्रिया उदित होती है उसस भी चैतन्य का आवरणभग होता है, किन्तु यह आवरणनिवृत्ति पूर्ण नही होती है। अज्ञान की पूर्ण निवृत्ति की कल्पना इस स्थिति म की भी कैसे जा सकती है, यहा चित्त मौजूद है। फल यह होता है कि पूर्वोक्त अलौकिक प्रक्रिया द्वारा जो अज्ञानावरण का भग होता है वह आंशिकरूप तक ही सीमित हो जाता है[2] अर्थात अज्ञानावरण की अशत निवृत्ति होती है, पूर्णतया नही। यह भी सर्वथा भ्रान्त ही है। जैसाकि ऊपर बतलाया जा चुका है आत्मा के सत्, चित् और आनन्द इन काल्पनिक तीन अशो मे आनदाश के आवरक अज्ञान का भग रस-चर्वणा म होता है न कि सत्ताश व चिदश के आवरक अज्ञान का। क्योकि सत्ताश तथा चिदश तो इसके पूर्व भी अनावृत थे। चित्त की सत्ता होने से पूर्ण आवरणभग न मानना वेदान्तसिद्धान्त स अनभिज्ञता ही प्रकट करता है। क्या समाधिकाल मे जहा मुमुक्षु का पूर्ण आवरण-भग माना जाता है चित्त की निवृत्ति हो जाती है। यदि चित्त की निवृत्ति हो जाती तो ब्रह्माकारचित्तवृत्ति कहा स बनती? इसी प्रकार चित्तसत्तादशा मे विषय-साक्षात्कार के समय विषयचैतन्य के आवरण का पूर्णतया भग क्या वेदान्त नही मानता? वस्तुस्थिति तो यह है कि विषयसाक्षात्कार के समय चित्त, चित्तवृत्ति और विषय तीनो की सत्ता विद्यमान है और विषयचैतन्य का पूर्ण आवरणभग भी उस समय होता है।

डा गुप्त[3] का 'हमारा चैतन्य प्रकाशरूप है, आनन्दरूप है। त्रिगुणात्मक जड प्रातिभासिक जगत् उसी के प्रकाश से भासित होता है। यहा तक कि चित्तवृत्ति भी जो कि अज्ञान का ही एक रूप है, उसी के प्रकाश से प्रकाशित होकर जड पदार्थो को प्रकाशित करती है" यह कथन भी सगत नहीं है, क्योंकि चित्तवृत्ति जड

---

१ रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ १०७

२ वही पृ १९७-९८

३ रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ १०८

पदार्थों को प्रकाशित नहीं करती, वह केवल विषयचैतन्यगत अज्ञान को नष्ट करती है। जड विषय का प्रकाशन तो स्वच्छचित्तवृत्ति पर प्रतिबिम्बित चैतन्य के आभास से होता है। इसीलिए वेदान्त ने वृत्ति का फल आवरणभंग माना है और आभास का फल विषयप्रकाशन। वेदान्त में बाह्य पदार्थों को जो वृत्तिभास्य कहा है उसका केवल यह तात्पर्य है कि वृत्ति पर प्रतिबिम्बित चैतन्य के द्वारा उनका प्रकाश होता है और वह वृत्ति भी इन्द्रियादि प्रमाणों द्वारा बनती है। उसका यह तात्पर्य नहीं है कि वृत्ति द्वारा पदार्थों का प्रकाश होता है क्योंकि वृत्ति पदार्थों के समान स्वयं जड (अचेतन) है। एक जड के द्वारा दूसरे जड का प्रकाशन कैसे हो सकता है?

रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन करने वाले डा गुप्त ने रसगंगाधर की "विभावादीनामपि स्वप्नतुरगादीनामिव रंगरजतादीनामिव च साक्षिभास्यत्वम-विरुद्धम्" (रसगंगाधर पृ २७)। इस सामान्य पंक्ति के अर्थ को न समझकर इसका अनर्थमय विवेचन प्रस्तुत किया है। जैसे—"रत्यादि तो वासनारूप से अन्तःकरण में विद्यमान होते हैं किन्तु विभावादि तो वहाँ नहीं होते। फिर अविद्यमान का प्रकाशन कैसा? वेदान्ती पण्डितराज के पास इसका सरल समाधान है। अन्तःकरण जड होते हुए भी साक्षिचैतन्य के प्रकाश से प्रकाशित होकर ही क्रियाशील होता है। सूर्यरश्मियों से भासित होकर दर्पण स्वयं भी सूर्यवत् हो जाता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। अतः वेदान्त के अनुसार समस्त अन्तःकरणधर्म साक्षि-भास्य होते हैं तभी तो स्वप्न में अविद्यमान भी पदार्थ तथा शुक्ति में भासित होने वाली रजत अविद्यमान रहते हुए भी साक्षिभास्य अन्तःकरण के द्वारा प्रकाशित हो जाते हैं। इस प्रकार वस्तुतः अविद्यमान भी विभावादि का साक्षिभास्यता के सिद्धान्त पर प्रकाशित होना बन जाता है।"[1] यहाँ डा गुप्त ने विभावादि की जो अविद्यमानता बतलाई है वह संगत नहीं है क्योंकि विभावादि काव्यशब्दों द्वारा उपस्थापित हैं और सहृदयों को उनका ज्ञान भी प्रत्यक्षतुल्य है। इसीलिए भर्तृहरि ने कहा है कि—

शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते॥

और वेदान्त तो मिथ्याज्ञान में भी नवोत्पन्न पदार्थों की प्रातिभासिक सत्ता मानता है। अतः उनकी दृष्टि से विभावादि पदार्थों की अविद्यमानता कैसे बन सकती है? और यदि डा गुप्त के अनुसार विभावादि को अविद्यमान मान लें तो ऐसा कौनसा वेदान्त-सिद्धान्त है जो अविद्यमान पदार्थों को साक्षिभास्य मानता हो। ऐसा मानने पर तो सभी अतीत अनागत पदार्थ साक्षिभास्य होने लग जायेंगे। साक्षिभास्य शब्द का अर्थ साक्षिभास्य अन्तःकरण के द्वारा प्रकाशित मानना सर्वथा वेदान्तसिद्धान्त के विरुद्ध है। पण्डितराज का विभावादि की साक्षिभास्यताविषयक

1 रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ १९९

पूर्वपक्ष तथा उसके समाधान का अभिप्राय रसविवेचना करते हुए ऊपर बतला दिया गया है। अतः उसकी पुनरुक्ति व्यर्थ है।

डा० गुप्त[1] का निम्न कथन भी निराधार है—"काव्यशक्ति के द्वारा प्रादुर्भूत उपर्युक्त अलौकिक व्यापार के द्वारा चैतन्य के अन्य स्थूल आवरण निवृत्त हो जाते हैं। यदि कोई आवरण है तो केवल काव्य-सामग्री द्वारा डाला हुआ अपना। चैतन्य के सभी आवरण निवृत्त हो जाते हैं। यदि कोई आवरण शेष है तो विभावादिसामग्री द्वारा विभावित अथवा व्यंजित स्थायिभावों का।"

वेदान्त-सिद्धान्तानुसार चैतन्य में केवल अज्ञानरूपी आवरण रहता है और जब अन्तःकरण विषयप्रदेश पर पहुँचकर विषयाकार बन जाता है तब विषयाकार अन्तःकरणवृत्ति द्वारा उस अज्ञानावरण का भंग हो जाता है। उसके बाद उसमें कोई आवरण शेष नहीं रह जाता। जब यहाँ विभावादिचर्वणा से प्रादुर्भूत अलौकिक व्यापार द्वारा चैतन्य का आवरण भंग हो गया फिर कौनसा आवरण चैतन्य में शेष रह जाता है जिसके लिए डा० गुप्त कहते हैं कि "कोई आवरण शेष है तो केवल विभावादि सामग्री द्वारा डाला हुआ अपना। वेदान्त-सिद्धान्तानुसार विषय कभी चैतन्य का आवरक नहीं होता। विभावादिसामग्री तो चैतन्य के आवरणभंग में काम आती है न कि आवरण उत्पन्न करने में। अतः उस सामग्री को चैतन्य के आवरण-शेष का कारण बतलाना अनुचित है। किन्तु डा० गुप्त को 'आनन्दांशावरणाज्ञानेन" इस वाक्यांश में आनन्दांशावरण पद ने भ्रम में डाल दिया। वे इसका अर्थ आनन्दांश का आवरक 'अज्ञान" न समझकर आनन्द का अंशावरण दूर हो जाता है, ऐसा समझते हैं। इसीलिए उन्होंने कहा है। 'ठीक इसी प्रकार काव्य के जादू से अज्ञान का अंशावरण दूर हो जाता है।"[2]

"आवरणभंग के रूप में समझते हुए भी हम यह जानते हैं कि इसमें अंशावरण का ही भंग हुआ है या यों कहिए कि एक परिमार्जित अंश का आवरण रहता ही है। यह सोपाधिक चैतन्य है, निरुपाधिक नहीं।"[3]

रत्यादि स्थायिभावों से विशिष्ट या अवच्छिन्न चित् को रस मानने पर चित् या चैतन्य के नित्य होने से तथा स्थायिभाव के भी वासनारूप से पूर्व विद्यमान होने से रस में उत्पत्ति व विनाश का व्यवहार कैसे बनेगा क्योंकि नित्य वस्तु की *उत्पत्ति व विनाश नहीं होते। इस शंका का समाधान करते हुए पंडितराज ने कहा* कि[4] जिस प्रकार वर्णनित्यतावादी वर्णों को नित्य मानते हुए भी उनके अभिव्यंजक

---

१. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ० १९८
२. रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ० १९९।
३. रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ० २०३।
४. व्यञ्जकविभावादिचर्वणाया आवरणभङ्गस्य वोत्पत्तिविनाशाभ्यामुत्पत्तिविनाशौ रसे उपचर्येते। वर्णनित्यतावादिनामिव व्यञ्जकध्वन्यादिव्यापारस्य वर्णेषु। —रसगंगाधर, पृ० २२

ताल्वादि व्यापार (स्थान-प्रयत्न-संयोग) के अनित्य होने से उसकी अनित्यता का आरोप वर्णों में कर "उत्पन्नो गकार" इस व्यवहार की उपपत्ति मानते हैं। क्योंकि व्यंजक ताल्वादिव्यापार जब तक रहता है तब तक गकारादि वर्णों की अभिव्यक्ति रहती है और ताल्वादिव्यापार के निवृत्त होते ही गकारादि वर्णों की अभिव्यक्ति तिरोहित हो जाती है। यह अभिव्यक्ति व तिरोभाव ही वर्णों का उत्पाद व विनाश है। सत्कार्यवादी सांख्य पदार्थों की अभिव्यक्ति व तिरोभाव को ही उनकी उत्पत्ति व विनाश मानते हैं। इसी प्रकार यद्यपि स्थायिभावों से उपहित चिद्रूप रस नित्य है अर्थात् चित् तो सर्वथा नित्य है ही और स्थायिभाव भी वासनारूप से पूर्व विद्यमान हैं तथापि इनकी अभिव्यक्ति, विभावादि-चर्वणा व उससे प्रादुर्भूत आवरणभंग से होती है। विभावादिचर्वणा तथा तज्जन्य आवरणभंग अनित्य हैं व उत्पत्ति-विनाशशाली हैं। अतः उनकी उत्पत्ति और विनाश का ही रस में आरोप कर रस में उत्पत्ति और विनाश का व्यवहार होता है। विभावादिचर्वणा के न होने पर आवरणभंग न होने से न स्थायिभाव का और न चित् का प्रकाश होता है क्योंकि चित् का आवरणभंग विभावादि-चर्वणा से होता है और तभी अनावृत चित् स्वयं प्रकाशित होकर स्थायी को प्रकाशित करती है।

पंडितराज ने रस में कार्यत्व तथा नित्यत्व एवं प्रकाश्यत्व तथा स्वप्रकाशत्व व्यवहार, जो कि लोक में होते हैं, की उपपत्ति प्रकारान्तर से भी बतलाई है। उन्होंने बतलाया है कि स्थायिविशिष्ट चिद् रस है। रस के इस स्वरूप में विशेषणी-भूत स्थायी अनित्य और जड़ हैं अतः इसकी अपेक्षा से रस में कार्यत्व तथा प्रकाश्यत्व व्यवहार लोक में होता है और विशेष्यभूत चित् नित्य तथा स्वप्रकाश है अतः इसकी अपेक्षा से रस में नित्यत्व तथा स्वप्रकाशत्व व्यवहार की लोक में उपपत्ति है।[1]

उक्ति है। किन्तु यहाँ चर्वणा से विभावादिचर्वणा का ग्रहण नहीं है अपितु रत्यादि की चर्वणा का। प्राचीनोक्त रत्यादिरूप रस की चर्वणा अवश्य वेदान्तमतानुसार आवरणभङ्गरूप ही है। इसीलिए उपर्युक्त पंक्ति की व्याख्या करते हुए नागेश ने कहा है—"चर्व्यमाणो रस इति प्राचीनव्यवहारोपपत्तये आह—चर्वणा चास्येति'। यद्यपि यह कहा जा सकता है कि डा गुप्त ने भी चर्वणा शब्द से रतिचर्वणा का ही ग्रहण किया होगा तथापि उसके आगे के संदर्भ को देखने से स्पष्ट है कि वे चर्वणा से विभावादिचर्वणा का ही ग्रहण करते हैं न कि रसचर्वणा का।

डा गुप्त का यह कथन भी कि "चित्तवृत्ति की विषयाकारपरिणति एवं प्रमातृ-चेतना की चित्तवृत्त्याकारता या चित्तवृत्तिमयता का जो उल्लेख है यह सब वेदान्त के अनुरूप है" वेदान्तसिद्धान्त के विपरीत ही प्रतीत होता है। वेदान्त में भूलकर भी चित्तवृत्ति की विषयाकाररूप से परिणति तथा प्रमातृ-चेतना की चित्त-वृत्त्याकारता नहीं बताई गई है चित्त ही विषय पर पहुँचकर विषयाकार से परिणत हो जाता है। चित्त की यह विषयाकारा परिणति ही चित्तवृत्ति कहलाती है।[1] वेदान्तसिद्धान्त में *अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य को ही प्रमाता कहा जाता है।*[2] *जिसे डा. गुप्त ने प्रमातृ-चेतना शब्द से व्यहृत किया है। जहाँ अन्तःकरण है* वहाँ अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की सत्ता भी अवश्य रहती है। अन्तःकरण की स्वभावतः स्थिति शरीर के अन्दर है किन्तु जब इन्द्रियों द्वारा वह विषयप्रदेश में पहुँच जाता है तब तदवच्छिन्न चैतन्य भी विषय पर पहुँचा हुआ माना जाता है। क्योंकि अन्तःकरण के स्वच्छ होने से जहाँ वह जाता है वहीं पर व्यापक चैतन्य प्रतिबिम्बित हो जाता है। इस प्रकार विषयावच्छिन्न चैतन्य तथा अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य की एक प्रदेश में (विषयप्रदेश में) स्थिति हो जाती है। इस तरह विषय का प्रमाता से अभेद ही विषय का प्रत्यक्ष है। किन्तु प्रमाता कभी चित्तवृत्ति के आकार *का नहीं बनता। अतः चित्तवृत्ति की विषयाकारा परिणति एवं प्रमातृ-चेतना की चित्तवृत्त्याकारता सर्वथा वेदान्त-सिद्धान्त के विरुद्ध है।*

डा गुप्त[3] *ने अभिनवगुप्त के तन्मयीभवन का पंडितराज के द्वारा निरूपित वेदान्तानुकूल तन्मयीभवन में भेद बतलाते हुए कहा है कि "अभिनव के तन्मयीभवन में चेतना व चित्तवृत्ति की विषयाकारपरिणति के स्थान पर विषय की चेतनाकल्पना* होती है" और इस भेद को स्पष्ट करते हुए कहा है कि "हम एक घट का प्रत्यक्ष करते हैं। वह हमारी चक्षुरिन्द्रिय पर प्रतिफलित होकर हमारे मानसपटल पर उपस्थित होता है। मन पटल व्यष्टि-चेतना का ही एक प्रमुख रूप है, विमर्श का ही

---

1. यथा तडागोदकं छिद्रान्निर्गत्य कुल्यात्मना केदारान् प्रविश्य तद्वदेव चतुष्कोणाद्याकारं भवति तथा तैजसमन्तःकरणं चक्षुरादिद्वारा निर्गत्य घटादिविषयदेशं गत्वा घटादिविषयाकारेण परिणमति। स एव परिणामो वृत्तिरित्युच्यते। —वेदान्तपरिभाषा, पृ २७
2. अन्तःकरणावच्छिन्नचैतन्यं प्रमातृचैतन्यम्। —वेदान्तपरिभाषा, पृ ३५
3. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ २०१

एक स्फुरित व स्पन्दितरूप है। इस प्रकार बाह्य घट हमारी प्रकाश-विमर्शमयी सत्ता का ही एक अंग बन जाता है। विषय की यह आत्माकारा परिणति ही तन्मयीभवन है।" यह वस्तुतः संगत नहीं है। मेरे विचार में अभिनव-सम्मत प्रत्यभिज्ञा-दर्शन एवं वेदान्त-दर्शन में विषयों की प्रत्यक्षीकरण-प्रक्रिया में कोई विशेष भेद नहीं हैं। वेदान्त प्रत्यक्ष में अन्तःकरण का इन्द्रियप्रणाली द्वारा विषयदेश पर पहुँच कर विषयाकाररूप से परिणाम मानता है और अन्तःकरण के विषयप्रदेश पर पहुँचने से अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्यरूप प्रमाता भी विषयप्रदेश में पहुँच जाता है तथा विषय को या विषयावच्छिन्न चैतन्य को व्याप्त कर लेता है। यही प्रमातृ-चेतना की विषयव्याप्ति है जिसे अभिनव ने भी स्वीकार किया है। प्रमातृ-चेतना की विषय-व्याप्ति विषय चक्षुरिन्द्रिय पर प्रतिफलित होकर विषय हमारे मानसपटल पर उपस्थित होते हैं, इत्याकारक नहीं हैं। प्रमाता का विषयप्रदेश पर पहुँच कर विषय को व्याप्त करना ही विषय की आत्माकारा परिणति है।

पंडितराज जगन्नाथ ने दो प्रकार की जो रस-निष्पत्ति-प्रक्रिया बतलाई है उन दोनों में ही रसस्वरूप जो आनन्द है वह लौकिक आनन्द से सर्वथा भिन्न है क्योंकि लौकिक आनन्द अन्तःकरणवृत्ति (अन्तःकरणपरिणाम) रूप होता है और रसरूप आनन्द अन्तःकरण का परिणाम न होकर शुद्ध आत्मानन्दरूप है। वेदान्त-सिद्धान्त में लौकिक सुख की प्रक्रिया यह है कि धर्मरूप[1] निमित्त द्वारा, अनुकूल पदार्थ का सम्बन्ध होने पर, अन्तःकरण के सत्त्वगुण का सुखाकार परिणाम होता है अर्थात् अन्तःकरण का सत्त्वगुण ही सुख में परिणत हो जाता है और उस समय धर्मरूप निमित्त द्वारा ही उस सुख को विषय बनाने वाली सुखाकारा अन्तःकरण की वृत्ति भी बनती है। उस वृत्ति पर आरूढ साक्षिचैतन्य से उस सुख का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होता है क्योंकि सुखाकारा अन्तःकरणवृत्ति में आरूढ साक्षी ही उस सुख को प्रकाशित करता है।[2] इस प्रकार लौकिक सुख विषयसम्बन्धजन्य, अन्तःकरण के सत्त्वगुण का परिणाम है। अन्तःकरण के परिणाम को ही वेदान्त में वृत्ति कहते हैं। अतः लौकिक सुख अन्तःकरणवृत्तिरूप होता है और रसरूप आनन्द अन्तःकरण का परिणाम न होने से अन्तःकरणवृत्तिरूप न होकर शुद्ध आत्मानन्दरूप है। अन्तःकरण उस आत्मानन्द पर पहुँच कर आत्मानन्द रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार स्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्ति वहाँ भी अवश्य बनती है। किन्तु स्वरूपानन्दाकारा चित्तवृत्ति भी उस सुख को प्रकाशित नहीं करती अपितु केवल तद्गत अज्ञान को निवृत्त करती है। अज्ञान के नष्ट हो जाने पर वह आनन्द स्वप्रकाश होने

---

१. धर्मादिक के निमित्त से अनुकूल और प्रतिकूल पदार्थ का सम्बन्ध होने पर अन्तःकरण के सत्त्वगुण व रजोगुण का परिणाम सुखाकार व दुःखाकार होता है।

—वृत्तिप्रभाकर, पृ. ३

२. धर्मादिक निमित्त से सुखदुःख को विषय करने वाली अन्तःकरण की वृत्ति होती है उस वृत्ति में आरूढ साक्षी सुख दुःख को प्रकाशित करता है। —वृत्तिप्रभाकर पृ. ३

से स्वय प्रकाशित हो जाता है। इसीलिए वेदान्तसार[1] मे कहा है कि "स्वप्रकाश पदार्थो मे विषयावच्छिन्नचैतन्यगत अज्ञान की निवृत्ति के लिए विषयाकारा अन्त.करणवृत्ति की अवश्य अपेक्षा है किन्तु उन पदार्थो के स्वयप्रकाश होने से उनको प्रकाशित करने के लिए वृत्तिप्रतिबिम्बित चैतन्यरूप आभास की आवश्यकता नही है। पारिभाषिक शब्दावली मे स्वयप्रकाश पदार्थो मे केवल वृत्ति व्याप्ति की अपेक्षा है, फलव्याप्ति की नही।" लौकिक आनन्द और रसरूप आनन्द के उपर्युक्त भेद को बतलाने के लिए पडितराज ने लिखा है कि 'आनन्दो ह्ययं न लौकिक-सुखान्तरसाधारण अन्त.करणवृत्तिरूपत्वात्' इति।

डा गुप्त पडितराज की इस पक्ति के आशय को हृदयगम नही कर सके। केवल उन्होने लौकिक आनन्द को घुणाक्षरन्याय से चित्तवृत्तिरूप या अन्त करणवृत्तिरूप कह दिया है क्योकि आगे जो उसका स्पष्टीकरण वे उपस्थित कर रहे है उससे उनके कथन की घुणाक्षरन्यायता सिद्ध हो जाती है। वे कहते हैं कि "चित्त[2] का स्वभाव है विषयाकारा परिणति " वैषयिक अनुभूतियो मे यही चित्त-वृत्ति चैतन्य के आभास से आभासित होकर कार्य करती है उन स्थितियो मे जो भी आनन्द आभासित होता है वह चैतन्य का नहीं चैतन्याभास का होता है अत हम उसे वृत्तिरूप ही कह सकते हैं। किन्तु ब्रह्मानन्द की स्थिति वृत्तिशून्य होती है।" यहाँ ब्रह्मानन्द की स्थिति का वृत्तिशून्य बतलाना वेदान्त-सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योकि वेदान्त मे कोई भी दशा वृत्ति-शून्य नहीं होती। जाग्रत व स्वप्न मे अन्त -करणवृत्ति विद्यमान रहती है। सुषुप्ति मे अविद्या मे अन्त करण का लय हो जाने से अन्त करणवृत्ति के न होने पर भी अविद्या की वृत्ति रहती है और उसी वृत्ति से चैतन्य आनन्द का उपभोग किया करता है जिसका निरूपण "आनन्दभुक् चेतोमुख प्राज्ञ" इस प्रकार से माण्डूक्योपनिषद् मे किया गया है। वेदान्तसार में भी स्पष्ट कहा है कि सविकल्पक समाधि की दशा मे ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय इस त्रिपुटी के जागरूक रहने से ज्ञानरूप अन्त करणवृत्ति की सत्ता उस समय भी है।[3] निर्विकल्पक समाधि मे भी अन्त करणवृत्ति ब्रह्माकारवृत्ति के रूप मे रहती ही हैं, केवल इतना ही अन्तर होता है कि ज्ञेय ब्रह्म से पृथकतया उसका भान उस समय नहीं होता।[4] वैषयिक अनुभूतियो के स्थल में प्रतीत होने वाले आनन्द को चैतन्य का न मानना भी असगत है क्योंकि उस समय भी अभीष्ट विषय की प्राप्ति से शान्त तथा अन्तर्मुख अन्त -

---

१ फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम।
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
स्वयप्रकाशमानत्वान्नाभास उपयुज्यते॥ —वेदान्तसार, पृ ४१

२ रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृ २०१

३ सविकल्पको नाम ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयानपेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारिताया चित्त-वृत्तेरवस्थानम्। —वेदान्तसार, पृ ४५

४. निर्विकल्पकस्तु ज्ञातृज्ञानादिविकल्पलयापेक्षयाऽद्वितीयवस्तुनि तदाकाराकारिताया चित्त-वृत्तेरतितरामेकीभावेनावस्थानम्। —वेदान्तसार पृ ४६

करणवृत्ति मे आत्मानन्द का ही प्रतिबिम्ब[1] पडता है। अतः वह आनन्द भी चैतन्य का ही है। यदि प्रतिबिम्बित आनन्द के होने से ही उसे चैतन्याभास का आनन्द बतलाया जाय तो हमे कोई आपत्ति नही। वेदान्त-दर्शन तथा प्रत्यभिज्ञादर्शन दोनो ही सभी आनन्दो को चाहे वे विषयानन्द, रसानन्द या आत्मानन्द हो आत्मा का ही मानते है।

अभिनवगुप्त के मत का विवेचन करने के बाद पडितराज ने भट्टनायक के मत का भी निरूपण किया है। किन्तु उसमे एक दो विशेषताओं के अतिरिक्त और कोई वैशिष्ट्य नही है। अत उन्ही विशेषताओं का यहाँ प्रतिपादन किया जा रहा है। पहली विशेषता यह है कि भट्टनायक के भावकत्व व्यापार का स्पष्ट अभिप्राय पडितराज ने ही व्यक्त किया है। भट्टनायक ने स्वय पूर्वपक्षरूप मे कान्तात्वादिरूप से शकुन्तलादि विभावो के साधारणीकृतरूप से उपस्थित होने पर भी उन से सामाजिकों मे रसप्रतीति का खण्डन कर स्वसम्मत भावकत्व व्यापार के द्वारा कान्तात्वादिरूप से ही उन्हे साधारणीकृत मानते हुए पूर्वपक्षसम्मत तथा स्वसम्मत भावकत्व व्यापार द्वारा साधारणीकरण मे विद्यमान अन्तर को स्पष्ट नही किया था। पडितराज ने बतलाया कि पूर्वपक्ष मे शकुन्तला आदि की कान्तात्वादिरूप से उपस्थिति होने पर भी दुष्यन्तरमणीत्वादि विशेषधर्मों का निराकरण न होने से "यह अगम्या है" इत्याकारक ज्ञान सामाजिको को शकुन्तला मे रहता है। इसी प्रकार सीता आदि मे भी पूज्यत्व, आराध्यत्व आदि ज्ञान रहते हैं। इन ज्ञानो के होते हुए कान्तात्वादि-सामान्यधर्मपूर्वक शकुन्तलादि विभावो की उपस्थिति मानने पर भी सामाजिको मे उनमे रत्यादिरूप रस की प्रतीति नही हो सकती। क्योकि उस समय शब्दो मे केवल अभिधा व्यापार है, वह व्यापार शकुन्तलात्वादि तथा तज्जन्य अगम्यात्वादि विशेष धर्मो को दूर करने मे असमर्थ है। उसका कार्य वस्तु मे जो जो धर्म हैं तत्तद्धर्मपूर्वक वस्तु को उपस्थिति कराना है। किन्तु भावकत्वनामक[2] जो नवीन व्यापार माना गया है उसका प्रधान कार्य शकुन्तला आदि विभावों मे

---

१. (क) यद्यत् सुखं भवेत्तत्तद् ब्रह्मैव प्रतिबिम्बनात्। वृत्तिष्वन्तर्मुखास्वस्य निर्विघ्नं प्रतिबिम्बनम्। —पचदशी, विषयानन्द प्रकरण, १९ वाँ श्लोक

(ख) पुरुष को जिस विषय की इच्छा होवे सो विषय याकू प्राप्त होवे, तब या पुरुष की बुद्धि क्षणमात्र स्थिर होइ के अन्तर्मुख बुद्धि की वृत्ति होवे है। ता अन्तर्मुखवृत्ति-विषै आत्मा का स्वरूप जो आनन्द ता का प्रतिबिम्ब होवे है। जिस आत्मस्वरूप आनन्द के प्रतिबिम्ब कू अनुभव करि के पुरुष कू भ्रान्ति होवे है जो मेरे कू विषय मे आनन्द का लाभ हुआ है परन्तु विषय मे आनन्द है नही। इसीलिए वेद मे लिखा है 'आत्मस्वरूप आनन्द कू' ले के सारे आनन्द वाले होवे है।

—विचार सागर, तरग, पृ ९३-९४

२. तस्मादभिधया निवेदिता पदार्था भावकत्वव्यापारेणागम्यात्वादिरसविरोधिज्ञानप्रतिबन्ध-द्वारा कान्तात्वादिरसानुकूलधर्मपुरस्कारेणावस्थाप्यन्ते। —रसगगाधर, पृ २४

अगम्यात्वज्ञान को उत्पन्न कराने वाले रसप्रतीतिविरोधी शकुन्तलात्वादि (दुष्यन्त-रमणीत्वादि) विशेषधर्मों का परिहार कर एकान्ततः कान्तात्वादिरूप से उन की उपस्थिति कराना है। रसप्रतीतिविरोधी विशेषधर्म का परिहार हो जाने पर शकुन्तलादि में रसविरोधी अगम्यात्वज्ञान न रहने से शकुन्तला आदि विभावों से सामाजिकों को रसप्रतीति होने में कोई बाधा नहीं रहती। इसीलिए पण्डितराज[1] ने भावकत्व व्यापार के द्वारा पूर्व व्यापार (अभिधाव्यापार) के सामर्थ्य की पंगुता का उपपादन बतलाया है।

पण्डितराज के द्वारा कृत भट्टनायकसम्मत रसविवेचन की दूसरी विशेषता यह है कि सहृदय जिस रति का भोगव्यापार द्वारा आस्वादन करते हैं वह अभिनवगुप्त के समान सामाजिकों के हृदय में वासनारूप से विद्यमान नहीं है अपितु रामादिव्यक्तिविशेषसम्बन्ध से रहित साधारणीकृत रामादिरति ही है। इसका संकेत भी स्पष्टरूप से पण्डितराज ने ही किया है। उन्होंने "भावनोपनीत. साधारणात्मा रत्यादि" इस कथन में भावनोपनीत शब्द देकर यह व्यक्त किया है कि भोगविषयभूत साधारणीकृत रामरति ही ज्ञानलक्षणसन्निकर्ष अर्थात् ज्ञान द्वारा उनको (सहृदयों को) प्राप्त है।

तीसरी विशेषता यह है कि जैसे अभिनव के मत में पण्डितराज ने चिद्विशिष्ट रत्यादि अथवा रत्यादिविशिष्ट चित् दोनों को रस माना है। एक में रत्यादि भावों में विशेष्यता है और चित् में विशेषणता, दूसरे में रत्यादि में विशेषणता है और चित् में विशेष्यता है। उसी प्रकार भट्टनायक के मत में भी रत्यादि को विशेषण व विशेष्य मानकर रत्यादि के भोग अथवा भुज्यमान रत्यादि को रस बतलाया है। भोग शब्द का अर्थ पण्डितराज ने अभिनवगुप्त के मत में व्यक्ति शब्द के अर्थ की तरह "भग्नावरणचित" किया है और इसी प्रकार अभिनवगुप्त के मत की तरह भट्टनायक के मत की भी वेदान्तानुकूल व्याख्या प्रस्तुत की है।

पण्डितराज ने भट्टनायक के रसविषयक मत की विवेचना प्रस्तुत करने के बाद "नव्यास्तु" तथा "परेतु" इन नामों से दो अन्य रसविषयक मतों का उल्लेख किया है। वे मत किसके हैं? यह तो स्पष्ट रूप से प्रतीत नहीं होता तथापि 'नव्यास्तु" नाम से उल्लिखित मत की यह विशेषता है कि यह मत वेदान्त की अनिर्वचनीय ख्याति पर आधारित है।

"नव्यास्तु" के द्वारा रसविषयक जिस मत का पण्डितराज ने प्रतिपादन किया है उसमें भावना को न तो पुनःपुनरनुसन्धानरूप मानस ज्ञानविशेष माना गया है जैसा कि अभिनवगुप्त ने माना है और न भावकत्वरूप शब्दव्यापार ही माना गया है जैसा कि भट्टनायक ने माना है। किन्तु इसे दोषविशेषरूप स्वीकार

१. एवं साधारणीकृतेषु दुष्यन्तशकुन्तलादेशकालवयोवस्थादिषु पङ्गौ पूर्वव्यापारमहिम्नि।

—रसगङ्गाधर, पृ २४

किया है और इसी दोष के कारण अनिर्वचनीय दुष्यन्तत्व धर्म से अवच्छादित सामाजिकात्मा में अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति की नवीन उत्पत्ति मानी जाती है। वही अनिर्वचनीय रति रस है जिसका सहृदय आस्वादन करता है।

इस मत का निष्कर्ष है कि काव्य में कवि द्वारा तथा नाट्य में आंगिकादि चतुर्विध अभिनय द्वारा जब विभावादि का प्रकाशन होता है तब उन विभावादि से व्यंजना व्यापार द्वारा जिस शकुन्तलादिविषयक रति का ज्ञान होता है वह ज्ञान दुष्यन्तादि में होता है न कि सामाजिक में। क्योंकि शकुन्तलादि विभाव दुष्यन्त के प्रति हैं न कि सामाजिक के प्रति। किन्तु तत्पश्चात् ही सहृदयता में प्रादुर्भूत भावनाविशेषरूप दोष के सामर्थ्य से सामाजिक में कल्पित अर्थात् अनिर्वचनीय दुष्यन्तत्व धर्म उत्पन्न होता है। उस दुष्यन्तत्व धर्म से अवच्छादित (आवृत) अतएव अज्ञानावच्छिन्न (अज्ञात) सामाजिकात्मा में अज्ञानावच्छिन्न शुक्तिखण्ड में अनिर्वचनीय रजतखण्ड की तरह, एक अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति उत्पन्न होती है जिसका कि प्रकाशन साक्षी के द्वारा होता है। क्योंकि वेदान्त सभी अनिर्वचनीय पदार्थों को साक्षिभास्य ही मानता है न कि अन्त करणवृत्तिभास्य। कारण इसका यही है कि अज्ञानावच्छिन्न वस्तु में तद्वस्तुविषयक अन्त करणवृत्ति किसी भी प्रमाण से नहीं बनती है। सामाजिक में उत्पन्न यह अनिर्वचनीय रति ही रस है क्योंकि सामाजिक इसी का आस्वादन कर सकता है न कि दुष्यन्तनिष्ठ व्यंजना व्यापार से व्यक्त रति का। उस अनिर्वचनीय रति के आस्वादन से सामाजिक को रसास्वादनजन्य अलौकिक आनन्द की अनुभूति होती है।

यह शकुन्तलाविषयक अनिर्वचनीय रति सहृदयनिष्ठ भावनारूप दोष के कारण उत्पन्न होती है। अतः यह उस भावनारूप दोष का कार्य है। इसीलिए जब तक सहृदयों में इस भावनारूप दोष की सत्ता है तभी तक उस अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति की सत्ता है। भावनाविशेषरूप दोष के नष्ट होते ही उस अनिर्वचनीय रति का भी नाश हो जाता है। क्योंकि कारण के नाश से कार्य का नाश अवश्य होता है। सामाजिकात्मा का अवच्छादक धर्म दुष्यन्तत्व है। अर्थात् प्रमाता सहृदय दुष्यन्तत्व धर्म से अवच्छादित है। इस धर्म से अवच्छादित होने पर ही सहृदय में अनिर्वचनीय रति का उत्पत्ति होती है अन्यथा नहीं, जैसे अज्ञानावच्छादित शुक्तिशकल में ही रजत खण्ड की उत्पत्ति होती है, अनवच्छादित में नहीं। अतः अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति के उत्पादनार्थ प्रमाता में सहृदयात्मा के अवच्छादक अनिर्वचनीय दुष्यन्तत्व धर्म की पूर्व उत्पत्ति मानना आवश्यक है। क्योंकि

सामाजिक मे दुष्यन्तत्व धर्म की वास्तविक सत्ता नही है। अत इस कल्पित दुष्यन्तत्व धर्म की अनिर्वचनीय उत्पत्ति माननी होती है।

इस मत मे यह दोष आता है कि भावना दोष के कारण दुष्यन्तत्व धर्म से आच्छादित सहृदय मे जो अनिर्वचनीय रति शोक आदि उत्पन्न होते है वे लौकिक रति शोक आदि की तरह सुख और दुःख दोनो के जनक होंगे। उनमे एकान्ततः सुखजनकता कैसे बन सकती है? अलौकिक काव्यव्यापार की महिमा से भी इन रति-शोकादि मे एकान्तत. सुख-जनकता नही मानी जा सकती। क्योकि काव्यव्यापारमहिमा से दुष्यन्त मे शकुन्तलादिविषयक रत्यादि उत्पन्न होते हैं न कि सहृदय मे। सहृदय मे तो अनिर्वचनीय रत्यादि भावना दोष से उत्पन्न होते हैं। अत. उनके काव्यव्यापार मे उत्पन्न न होने से काव्यव्यापारमहिमा से भी उनमें सुखजनकता नही मानी जा सकती। इस प्रश्न का समाधान इस मत मे इस प्रकार किया गया है कि सहृदय मे अनिर्वचनीय रत्यादि साक्षात् काव्यव्यापारमहिमा से उत्पन्न न होने पर भी काव्यव्यापारमहिमा से प्रादुर्भूत भावनादोष से जन्य होने के कारण परम्परया काव्यव्यापारजन्य ही है। काव्यव्यापारजन्य[1] का अर्थ काव्यव्यापारजन्य भावनादोष से जन्य है। और इस प्रकार का जन्यत्व सहृदय में रहने वाली अनिर्वचनीय नव उत्पन्न रति मे भी उपपन्न हो जाता है। अत. काव्य-व्यापार की महिमा के कारण उनमे एकान्तत सुखजनकता बन जाती है। इसीलिए उनके आस्वादन से सहृदय को एकान्तत आनन्दानुभूति होती है।

रसगंगाधर के संस्कृत टीकाकार श्री बदरीनाथ झा ने "कल्पितदुष्यन्तत्वावच्छादिते" इत्यादि की व्याख्या मे[2] जो नैयायिकसम्मत अन्यथाख्याति का अनुसरण किया है वह संगत नही है क्योकि यह मत वेदान्तसम्मत अनिर्वचनीयख्याति को मानने वाला है। इसीलिए सहृदय मे अनिर्वचनीय रत्यादि की उत्पत्ति इस मत मे मानी गई है। ग्रन्थकार ने स्वयं "अवच्छादकत्व दुष्यन्तत्वमपि अनिर्वचनीयमेव" इस उक्ति के द्वारा अनिर्वचनीय दुष्यन्तत्व को स्वीकार करते हुए वेदान्तसम्मत अनिर्वचनीयख्याति का ही अवलम्बन सिद्ध किया है। वही पर झा महोदय ने भ्रम का लक्षण "तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञान" किया है वह भी न्यायमतानुसार है, वेदान्तमतानुसार नहीं। वेदान्तमत में 'बाधितविषयकज्ञानत्वम् भ्रमत्वम्" यही भ्रम का लक्षण है।

'नव्यास्तु' मत का प्रतिपादन करते हुए डा प्रेमस्वरूप गुप्त ने लिखा है कि "शकुन्तलाविषयक रति का सम्बन्ध प्रमातृचेतना से जुड सके, उस विशेषणरूप रति

---

1 जन्यत्वं च स्वजन्यभावनाजन्यरत्यादिविषयकत्वम्। तेन रसास्वादस्य काव्यव्यापाराजन्यत्वेऽपि न क्षतिः। —रसगंगाधर पृ. २६-२७

२. कल्पित आत्मन्यसदपि सत्त्वेन ज्ञानमवास्तविकं यद् दुष्यन्तत्वं तेनाच्छादिते स्वात्मन्युत्पन्ना-वच्छिन्ने 'तदभाववद्विशेष्यकतत्प्रकारकज्ञानस्यैव भ्रमत्वाभ्युपगमात् दुष्यन्तत्वाभाववत्-स्वात्मनि दुष्यन्तत्वेन ज्ञाने। —चन्द्रिकायुक्त र. ग. पृ. १०१

का विशेष्य प्रमातृचेतना बन सके बस, अवच्छादकत्व का इतना ही तात्पर्य है।'

किन्तु डा गुप्त का यह कथन सङ्गत प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सामाजिकात्मा के दुष्यन्तत्व से अवच्छादित होने पर यदि वास्तविक शकुन्तलाविषयक रति का सम्बन्ध प्रमातृचेतना से बन जाता तो अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति की उत्पत्ति मानने की क्या आवश्यकता थी ? वास्तविक शकुन्तलाविषयक रति का सम्बन्ध प्रमातृ-चेतना से दुष्यन्तत्व से अवच्छादित होने पर भी नहीं बनता है इसीलिए तो *अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति की उत्पत्ति माननी पड़ी।* जैसे शुक्तिशकल के अज्ञानावच्छिन्न होने पर भी वास्तविक रजतखण्ड का सम्बन्ध शुक्तिशकल से नहीं बनता है। अत वहाँ अनिर्वचनीय रजतखण्ड की उत्पत्ति माननी होती है, वही स्थिति यहाँ पर है।

वस्तुत डा गुप्त भ्रमस्थल मे वेदान्तसम्मत प्रक्रिया को समझने में असमर्थ रहे हैं। भ्रमस्थल में वेदान्त नेत्रदोषादि के कारण वास्तविक शुक्तिशकल का अज्ञान (ज्ञान न होना) मानता है। वेदान्तमतानुसार अज्ञान की दो शक्तियाँ हैं—आवरण और विक्षेप। वस्तु के स्वरूप का नेत्रदोषादि के कारण ज्ञान न होने से अज्ञान की आवरणशक्ति वस्तुस्वरूप को आच्छादित कर देती है। और विक्षेपशक्ति उस अज्ञानावच्छादित वस्तु मे नवीन अनिर्वचनीय वस्तु की कल्पना कर देती है। जैसे *नेत्रदोषादि के कारण शुक्ति के स्वरूप का ज्ञान न होने पर अज्ञान की आवरणशक्ति* से शुक्ति का स्वरूप आवृत हो जाता है और अज्ञान की विक्षेपशक्ति उस शुक्ति में अनिर्वचनीय रजत की उत्पत्ति कर देती है। उस अनिर्वचनीय रजत का शुक्ति से सम्बन्ध होता है न कि वास्तविक लौकिक रजत का। इसी प्रकार प्रकृत में भी प्रमातृचेतना या सामाजिक के दुष्यन्तत्व धर्म से अवच्छादित होने पर सामाजिकात्मा मे विक्षेप शक्ति से अनिर्वचनीय शकुन्तलाविषयक रति उत्पन्न हो जाती है उसी का सामाजिकात्मा या प्रमातृचेतना से सम्बन्ध होता है *न कि लौकिक शकुन्तलाविषयक रति का। अत लौकिक शकुन्तलाविषयक रति का प्रमातृचेतना से सम्बन्ध* सामाजिकात्मा का अवच्छादक दुष्यन्तत्व धर्म भी कभी नहीं करा सकता।

इसलिए भावनारूप दोष से प्रमातृचेतना को कल्पित दुष्यन्तत्व से अवच्छिन्न मान लेने पर शकुन्तलादिविषयक रति का सामाजिक से सम्बन्ध मान लेने में कोई बाधा नहीं रह जाती'[1] यह कथन भी सर्वथा भ्रान्तिमूलक है।

इसी प्रकार डा गुप्त का '*यद्यपि सामाजिक के मानस मे शकुन्तलादि विभावों* की वास्तविक स्थिति नहीं, किन्तु साक्षिभास्यता के सिद्धान्त के अनुसार अवास्तविक

-

भी शकुन्तलादि अन्त करण मे प्रकाशित होते हैं और तद्विषयक रति भी उद्बुद्ध होती है'[1] यह कथन भी 'साक्षिभास्यशकुन्तलादिविषयकरत्यादिरेव रस ' इस मूलग्रन्थ के अनवबोध से ग्रस्त है। क्योंकि शकुन्तलादि विभावों की वास्तविक स्थिति सामाजिक मानस मे तो क्या दुष्यन्त के मानस मे भी नहीं है। वह तो मानस के बाहर लोक मे ही है। और फिर साक्षिभास्यता के सिद्धान्त के अनुसार अवास्तविक शकुन्तलादि का सामाजिक के अन्त करण मे प्रकाशित होने का तथा तद्विषयक रति के वहाँ उद्बुद्ध होने का क्या अभिप्राय है ? कुछ समझ मे नही आता।

ऐसा कौनसा साक्षिभास्यता-सिद्धान्त है जो अवास्तविक शकुन्तलादि को सामाजिक के अन्त करण मे प्रकाशित करता है। वेदान्त मे पदार्थों का ज्ञान दो प्रकार से बतलाया गया है—वृत्तिज्ञान से तथा साक्षिज्ञान से। अर्थात जिन पदार्थों मे इन्द्रियादि प्रमाणो द्वारा अन्त करण बाहर पदार्थ पर जा कर पदार्थाकार मे परिणत हो जाता है, उन्हे वृत्तिभास्य माना जाता है। किन्तु जिन पदार्थों मे अन्त करण इन्द्रियादि द्वारा पदार्थप्रदेश मे पहुँच कर पदार्थाकार परिणाम को प्राप्त नही होता किन्तु अन्त.करण शरीरप्रदेश मे रहता हुआ ही वस्तु के आकार मे परिणत हो जाता है, जैसे सुखदु खादिस्थल मे.सुखादि अन्त करण के धर्म होने से आन्तर है बाहर नही। वहाँ अन्तःकरण के सत्व तथा रजोगुण का सुखाकार व दु खाकार रूप से परिणाम अवश्य होता है और सुखाद्याकारा वृत्ति भी बनती है किन्तु इन्द्रियो द्वारा नहीं। अत उन्हे वृत्तिभास्य न मानकर केवल साक्षिभास्य माना जाता है। इसी प्रकार भ्रमस्थल मे प्रतीयमान रजत लौकिक नहीं किन्तु नेत्रादिदोष के कारण शुक्ति का विशेषरूप से अर्थात् शुक्तित्वरूप से ज्ञान न होने के कारण पुरोवर्ती द्रव्य के योग से केवल इदमाकार वाली तथा चाकचिक्याकारवाली अन्त.करणवृत्ति उत्पन्न होती है। उस मे इदमाकारा वृत्ति मे इदमशावच्छिन्न चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडता है। अन्त करणवृत्ति के बाहर निकलने से इदमशावच्छिन्नचैतन्य, प्रमातृचैतन्य तथा वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य का अभेद हो जाता है। तदनन्तर प्रमातृचैतन्य से अभिन्न विषयावच्छिन्न चैतन्य मे रहने वाली शुक्तित्वप्रकारिका अविद्या चाकचिक्यादिसादृश्यदर्शन स उद्बुद्ध रजतसस्कार की सहायता से रजतरूप अर्थ के रूप मे तथा रजतज्ञान के आकार मे परिणत हो जाती है। अविद्या का तमोगुण रजतरूप अर्थ के आकार मे तथा सत्वगुण रजतज्ञानाभास के रूप मे परिणत होता है।[2] उस अनिर्वचनीय रजत को लौकिक रजत की तरह बाहर सत्ता

---

१ रस गगाधर का शास्त्रीय अध्ययन पृ० २१२

२ न हि सावमिदमामपो प्रातिभासिकरजतोत्पादिका किन्तु विलक्षणैव। तथा हि काचादिदोषदूषितलोचनस्य पुरोवर्तिद्रव्यसयोगादिदमाकारा चाकचिक्याकारा काचिदन्त करणवृत्तिरुदेति। तस्या च वृत्ताविदमशावच्छिन्न चैतन्य प्रतिबिम्बते। तत्र पूर्वोक्तरीत्या वृत्तेर्बहिर्निर्गमनेनदमशावच्छिन्नचैतन्य वृत्त्यवच्छिन्नचैतन्य प्रमातृचैतन्य चाभिन्न भवति। ततश्च प्रमातृचैतन्याभिन्नविषयचैतन्यनिष्ठा शुक्तित्वप्रकारिकाऽविद्या चाकचिक्यादिसादृश्यदर्शनसमुद्बोधितरजतसस्कारसध्रीचीना काचादिदोषसमवहिता रजतरूपार्थाकारेण रजतज्ञानाभासाकारेण च परिणमते।
—वेदान्तपरिभाषा, पृ ११८

नहीं है अपितु शरीर के अन्दर ही है। वहां अन्तःकरण का रजताकार परिणाम नहीं है अपितु अविद्या का है। वहां रजताकारा अविद्या की वृत्ति बनती है न कि अन्तःकरण की। अतः अन्तःकरणवृत्ति से उसका ज्ञान नहीं होता अपितु साक्षी के द्वारा उनका प्रकाश माना गया है। इसलिए उन्हें साक्षिभास्य कहते हैं। वेदान्तरीति से यह साक्षिभास्यतासिद्धान्त है। किन्तु जिन शकुन्तलादि विभावों का अन्तःकरणवृत्ति द्वारा ज्ञान होता है, उनमें तो केवलसाक्षिभास्यतारूप प्रत्यक्ष ही नहीं बनता। हां यदि वे ही शकुन्तलादि मानस बन जाते हैं तो उनका भी साक्षी में ज्ञान होता है और उन्हें साक्षिभास्य कहा जा सकता है। किन्तु ऐसा तो कोई साक्षिभास्यता-सिद्धान्त वेदान्तदर्शन में दृष्टिगोचर नहीं होता जो अवास्तविक शकुन्तलादि का अन्तःकरण में प्रकाश कर सके।

इसी प्रकार कल्पित दुष्यन्तत्व धर्म तथा उसमें अवच्छादित सहृदयात्मा की रति की अनिर्वचनीयता का प्रतिपादन करते हुए उन्होंने कहा है कि वे दोनों पारमार्थिक न होते हुए भी साक्षिभास्य हैं। यह भी उपर्युक्त रीति से असंगत ही है। क्योंकि किसी पदार्थ का पारमार्थिक न होना साक्षिभास्यता का प्रयोजक नहीं।

इस मत के प्रतिपादन के बाद पंडितराज ने "परे तु" के द्वारा रसविषयक एक मत का और निरूपण किया है। वह किसका है यह तो प्रतीत नहीं होता किन्तु वह नव्य-नैयायिकसिद्धान्त पर आधारित है यह निश्चित है। जिस प्रकार वेदान्तदर्शन भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय ख्याति स्वीकार करता है उस तरह नव्यनैयायिक भ्रमस्थल में अन्यथाख्याति मानते हैं। वे भ्रमस्थल में अनिर्वचनीय रजतादि की उत्पत्ति नहीं मानते अपितु दोष के कारण शुक्ति आदि की शुक्तित्वरूप से प्रतीति न मानकर रजतत्वादिरूप से प्रतीति मानते हैं। इसी को वे अन्यथाख्याति कहते हैं। अर्थात् वस्तु की स्वस्वरूप से प्रतीति न होकर अन्यरूप से प्रतीति होती है। इस मत के अनुसार काव्य व नाट्य में काव्य-शब्दों व अभिनयों द्वारा विभावादि की उपस्थिति होने पर भावनारूप दोष से सहृदय में "मैं शकुन्तलाविषयक रतिमान् दुष्यन्त से अभिन्न हूं" ऐसा मानस बोध उत्पन्न होता है। जैसे दोष के कारण शुक्ति की शुक्तित्वरूप से प्रतीति न होकर रजतत्वरूप से होती है उसी प्रकार यहां भावना-दोष से सहृदय की स्वात्मा की स्वात्मत्वरूप से प्रतीति न होकर "शकुन्तलाविषयकरतिमद्दुष्यन्तत्व" रूप से होती है अर्थात् "मैं शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्त हूं" ऐसा मानस बोध होता है। यह ज्ञान अन्यथाख्याति ही है। उपर्युक्त मानस बोध ही रस है क्योंकि सहृदय इसी का आस्वादन कर आनंदित होते हैं।[1] स्वप्नादि में होने वाले ऐसे बोध को रस नहीं कहा जा सकता क्योंकि वह काव्यार्थ के चिन्तन से उत्पन्न नहीं होता।[2] अतः स्वाप्न मानस ज्ञान से रस के समान अलौकिक आनन्द

१ परे तु व्यञ्जनाव्यापारस्यानिर्वचनीयख्यातेश्चानभ्युपगमेऽपि प्रागुक्तदोषमहिम्ना स्वात्मनि दुष्यन्तादितादात्म्यावगाही शकुन्तलादिविषयकरत्यादिमदभेदबोधो मानस काव्यार्थभावना-जन्मा विलक्षणविषयतानाली रसः। —रसगंगाधर, पृ. २७

२. स्वाप्नादिस्तु तादृग्बोधो न काव्यार्थजन्येति न रसः. तेन तत्र न तादृगाह्लादापत्तिः। —रसगंगाधर, पृ. २७

भी नहीं होता। यह तो काव्यव्यापार की महिमा है जिससे उपर्युक्त ज्ञान आस्वाद्य हो जाता है।

यद्यपि सहृदय को "मैं शकुन्तलाविषयकरतिमान् दुष्यन्त से अभिन्न हूँ" ऐसा मानसबोध हो जाने पर भी वस्तुतः उसमें रति का अभाव ही है अतः वह *अविद्यमान रति का ज्ञानरूप आस्वादन किस प्रकार करेगा यह प्रश्न उपस्थित होता* है। तथापि इस मत के प्रतिपादकों का यह समाधान है कि लौकिक प्रत्यक्षप्रमा में विषय की सत्ता अपेक्षित होती है प्रत्यक्षभ्रम में नहीं।[1] भ्रमस्थल में विषय के बिना भी ज्ञान हो जाता है। जैसे शुक्तिरजतस्थल में रजत के न होने पर भी रजत का ज्ञान। रत्यादि विषय के अभाव में भी उसका ज्ञान मानने से यह मत अन्यथाख्यातिवादी नैयायिक का है इसकी प्रतीति स्पष्ट हो जाती है। इसीलिए आगे इस मत का प्रतिपादन करते हुए पंडितराज ने कहा है कि इस मत में रत्यादि स्थायिभावों की प्रतीति अभिधा द्वारा शब्द से नहीं हो सकती क्योंकि रत्यादि स्थायिभाव वाच्य नहीं होते। तथा व्यंजना वृत्ति को ये स्वीकार ही नहीं करते। अतः इस मत में शंकुक के मत की तरह चेष्टादि लिंगों द्वारा पहले दुष्यन्तत्वेन अभिमत नट में रति का अनुमित्यात्मक ज्ञान होता है। तात्पर्य यह है कि भावनादोष के द्वारा "मैं शकुन्तलादिविषयकरतिमान् दुष्यन्त हूँ" इत्याकारक मानस अभेदबोध से पूर्व नटरूप दुष्यन्त में यह (नटरूप दुष्यन्त) शकुन्तलादिविषयकरतिमान् है ऐसा अनुमित्यात्मक ज्ञान नट के द्वारा प्रदर्श्यमान चेष्टादि लिंगों द्वारा माना जाता है। अन्यथा सहृदय में "मैं शकुन्तलादिविषयकरतिमान् दुष्यन्त हूँ" ऐसा मानस अभेद-बोध नहीं हो सकता। क्योंकि भ्रमात्मक मानसबोध उसी वस्तु का होता है जिसका पहले किसी प्रमाण द्वारा ज्ञान हो। *जैसे शुक्ति का रजतरूप से ज्ञान उसी व्यक्ति को होता है जिसे पहले* रजत का ज्ञान है। अतः सहृदय में भी भावना दोष द्वारा जायमान मानस अभेद-बोध से पूर्व रति का ज्ञान आवश्यक है। उसी की उत्पत्ति चेष्टादिलिंगक अनुमिति द्वारा बतलाई गई है। इसीलिए पंडितराज ने कहा है 'तत्र विशेषणीभूतायाः रतेः शब्दादप्रतीतत्वाद् व्यंजनायाश्च तत्प्रत्यायिकाया अनभ्युपगमाच्चेष्टादिलिंगकमादौ विशेषणज्ञानार्थमनुमानमभ्युपेयम्।' रसगंगाधर पृ २७

इस मत में भावना दोष द्वारा जायमान मानस बोध[2] तीन प्रकार का हो

---

१. न ह्यत्र लौकिकसाक्षात्कारो रत्यादेः, येनावश्यं विषयसद्भावोऽपेक्षणीयः स्यात्। अपि तु भ्रमः। —रसगंगाधर, पृ २७

२. (क) एतेश्च स्वात्मनि दुष्यन्तत्वधर्मितावच्छेदकशकुन्तलादिविषयकरतिवैशिष्ट्यावगाही,

(ख) स्वात्मत्वविशिष्टे शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्टदुष्यन्ततादात्म्यावगाही,

(ग) स्वात्मत्वविशिष्टे दुष्यन्तत्वशकुन्तलादिविषयकरत्योर्वैशिष्ट्यावगाही वा त्रिविधोऽपि बोधो रसपदार्थतयाऽभ्युपेयः। —रसगंगाधर, पृ. २७

सकता है—प्रथम बोध में सहृदय स्वात्मा में शकुन्तलादिविषयक रति के सम्बन्ध का ज्ञान करता है और उस रति में दुष्यन्तत्व धर्मितावच्छेदक अर्थात् विशेष्यताव-च्छेदक है। दूसरे में सहृदय स्वात्मा में शकुन्तलादिविषयकरतिविशिष्ट दुष्यन्त के तादात्म्यसम्बन्ध का ज्ञान करता है। तृतीय में सहृदय स्वात्मा में दुष्यन्तत्व तथा शकुन्तलादिविषयक रति दोनों के सम्बन्ध का ज्ञान करता है। प्रथम में सहृदय की आत्मा से रति का साक्षात् सम्बन्ध है और उस रति में दुष्यन्तत्व धर्म विशेष्यताव-च्छेदक है। द्वितीय में सहृदय की आत्मा से दुष्यन्त का साक्षात् सम्बन्ध है और रति का दुष्यन्त में विशेषण होने से परम्परया सम्बन्ध है। तृतीय में सहृदय की आत्मा से दुष्यन्तत्व धर्म और शकुन्तलाविषयक रति दोनों का साक्षात् सम्बन्ध है। यह तीनों ही प्रकार का मानस बोध रस है ऐसा इनका अभिप्राय है।

इस मत के प्रतिपादन में भी डा. गुप्त ने कुछ असंगतियां की हैं, जैसे पहला 'सव्यामु' के द्वारा प्रतिपादित मत अनिर्वचनीयतावादी है और 'परे तु' द्वारा प्रतिपादित मत उससे भिन्न है या रसविषय में अन्यथाख्याति स्वीकार करने से उसके विपरीत है। इस सामान्य विरोध के आधार पर उन्होंने द्वितीय मत को अनिर्वचनीयतावादी प्रथम मत के विपरीत जो 'निर्वचनीयतावादी' संज्ञा दी है[1] वह सर्वथा भ्रामक है।

इस मत के निरूपण के बाद पंडितराज ने संक्षेप में भट्टलोल्लट तथा शङ्कुक के मतों का निरूपण किया है किन्तु उसमें कुछ नवीनता नहीं है। अतः उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं है। फिर भी पंडितराज ने भट्टलोल्लट तथा शङ्कुक के मत के प्रतिपादन में पूर्वाचार्यों की अपेक्षा कुछ शाब्दिक विशेषता का प्रतिपादन किया है। जैसे भट्ट लोल्लट के मत में पूर्वाचार्यों ने रस की स्थिति मुख्यतया रामादि अनुकार्य में मानी है नट में नहीं। किन्तु नट भी आंगिकादि चतुर्विध अभिनयों का प्रदर्शन राम की तरह करता है। अतः सामाजिक उस में भी रामत्व का अभिमान या रामत्व का आरोप कर उसमें भी रति की प्रतीति कर लेते हैं। नट में रामरूपता का आरोप करने पर अर्थात् नट को राम समझ लेने पर नट में भी रति की प्रतीति होना सामाजिकों को स्वाभाविक ही है। इसी से मम्मट ने 'नटेऽपितानु-सन्धानात्प्रतीयमानः (आरोप्यमाणः सामाजिकैः) रसः' इन शब्दों में कहा है।

पण्डितराज ने लोल्लट के मत को निम्न शब्दों में प्रतिपादित किया है—

'मुख्यतया दुष्यन्तादिगत एव रसो रत्यादिः कमनीयविभावाद्यभिनयप्रदर्शन-कोविदे दुष्यन्ताद्यनुकर्तरि नटे समारोप्य साक्षात्क्रियते" इति। इन शब्दों पर ध्यान देने से प्रतीत होता है कि पण्डितराज आङ्गिकादि चतुर्विध अभिनयों का प्रदर्शन करने में कुशल नट में शकुन्तलाविषयक रति का आरोप कर 'शकुन्तलादिविषयकरतिमान् अयं (नट) दुष्यन्तः' इस प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हैं। इस प्रत्यक्षज्ञान में नटरूप

---

1. रसगंगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, २१०

धर्मी का लौकिक प्रत्यक्ष है क्योंकि नट के साथ सामाजिकों की चक्षुरिन्द्रिय का संयोग संनिकर्ष है। और शकुन्तलाविषयक रतिरूप आरोप्यांश में ज्ञानलक्षणारूप अलौकिक संनिकर्ष है। जैसे "सुरभि चन्दनम्" इत्याकारक ज्ञान में दूरस्थ चन्दन का चक्षुरिन्द्रिय से प्रत्यक्ष होने पर चन्दन के प्रत्यक्ष के साथ उसकी सौरभ का जो ज्ञान होता है वह लौकिक संनिकर्ष से नहीं, क्योंकि दूरस्थ चन्दन में विद्यमान सुरभि का घ्राण के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। अतः लौकिक संनिकर्ष में वहाँ सुरभि का घ्राण के साथ सम्बन्ध न होने से लौकिक प्रत्यक्ष नहीं होता अपितु ज्ञानलक्षणरूप अलौकिक संनिकर्ष से अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। अर्थात् पहिले चन्दन में सुरभि का घ्राणेन्द्रिय से संयुक्तसमवाय संनिकर्ष के द्वारा लौकिक प्रत्यक्ष होकर उसमें सुगन्ध का ज्ञान हो चुका है। अब चक्षुरिन्द्रिय द्वारा चन्दन का प्रत्यक्ष होने पर उसमें विद्यमान सुगन्ध का दूरस्थ होने से घ्राणेन्द्रिय के साथ संयुक्तसमवायसम्बन्ध न होने पर भी उसका ज्ञानलक्षणाप्रत्यासत्तिरूप अलौकिक संनिकर्षद्वारा स्मरण हो जाता है और इस प्रकार स्मृतिज्ञानरूप अलौकिक संनिकर्ष द्वारा सुगन्ध का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। उसी प्रकार जब नट राम की तरह अभिनय करता है तब उसमें "नट सीताविषयकरतिमान्" ऐसा प्रत्यक्ष ज्ञान सामाजिकों को होता है। उपर्युक्त प्रत्यक्ष में रामत्वेन अभिमत नट के साथ चक्षुरिन्द्रिय का सम्बन्ध होने से उस अंश में तो वह लौकिक प्रत्यक्ष है किन्तु रत्यंश के साथ इन्द्रियसम्बन्ध न होने से उसका लौकिक प्रत्यक्ष सामाजिकों को नहीं है। किन्तु वे नट को राम समझते हैं और राम में रति का ज्ञान पहिले से सामाजिकों को है। उसका स्मरण हो जाता है। अतः स्मृतिरूप अलौकिक संनिकर्ष द्वारा उसका अलौकिक ही प्रत्यक्ष है। इसी तथ्य का पण्डितराज ने "मतेऽस्मिन् साक्षात्कारो दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमानित्यादि प्राग्वद् धर्म्यंशे 'अयं (नट) दुष्यन्त' इत्यंशे लौकिक, आरोप्यांशे (रत्यंशे) त्वलौकिक" इन शब्दों में व्यक्त किया है। तात्पर्य यह है कि अभिनयप्रदर्शननिपुण, रामादि का अनुकरण करने वाले, नट में सामाजिक रति का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान करते हैं। किन्तु रति नट में आरोपित है वास्तविक नहीं। आरोपित वस्तु के साथ लौकिक इन्द्रिय-संनिकर्ष न होने से उसका अलौकिक ज्ञानलक्षण संनिकर्ष द्वारा अलौकिक ही प्रत्यक्ष हो सकता है। इस तथ्य का स्पष्टीकरण सर्वप्रथम पण्डितराज ने ही भट्टलोल्लट के मत में किया है।

इसीलिए भट्टलोल्लट के मत का निरूपण करते हुए काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने कहा है कि विभाव, अनुभावों व व्यभिचारिभावों से क्रमशः उत्पादित, प्रत्यायित व परिपुष्ट रति (रस) मुख्य वृत्ति से रामादि अनुकार्य में ही रहती है। नट में रामादि की तुल्यरूपता के अनुसन्धान से सामाजिक उसका (रस का) आरोप कर लेते हैं।[1] श्री नागेश ने भी लौकिक सामग्री सीता आदि से

---

[1] नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानादारोप्यमाणः सामाजिकानां ······ चमत्कारहेतुः।

—काव्यप्रकाश, प्रदीपटीका पृ ९१

रामादि में ही रसोत्पत्ति होती है, नट में तो उस रस का उपनय के बल से सामाजिकों के द्वारा आरोप किया जाता है।[1]

उपर्युक्त उक्ति की व्याख्या करते हुए रसगंगाधर के व्याख्याकार बदरीनाथ झा ने 'दुष्यन्तोऽयं शकुन्तलाविषयकरतिमान्' इत्याकारक साक्षात्कार को धर्मी अंश में अर्थात् नट में लौकिक तथा आरोप्य दुष्यन्तत्व अंश में[2] अलौकिक बतलाया है। किन्तु यहाँ आरोप्य अंश से दुष्यन्तत्व का ग्रहण करना सर्वथा असङ्गत है। दुष्यन्तत्व आरोप्य अंश नहीं है अपितु 'शकुन्तलाविषयक रति' आरोप्य अंश है जैसा कि अभी काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर तथा श्री नागेश के उद्धरण देकर सिद्ध कर दिया गया है।

इसके बाद शङ्कुक के मत का भी पण्डितराज ने प्रतिपादन किया है किन्तु उस में अन्य कोई विशेषता नहीं बतलाई है। दुष्यन्तत्वेन ज्ञात नट में शिक्षाभ्यासादि द्वारा कुशलता से प्रतिपादित विभावादि सामग्री का दर्शन कर सामाजिक उस में दुष्यन्तगत रति का अनुमान कर लेते हैं। और उस अनुमीयमान रति के वस्तुस्वभाव के कारण सुन्दर होने से सामाजिक को आनन्द की प्रतीति होती है। अतः वह अनुमीयमान रति रस कहलाती है।

तात्पर्य यह है कि शङ्कुक के मत में दुष्यन्तत्वेन अभिमत नट शकुन्तला-विषयकरतिमान् है इत्याकारक ज्ञान को अनुमितिरूप माना गया है। जैसा कि उसके मत का प्रतिपादन करते हुए पहले बतलाया जा चुका है। यद्यपि उपर्युक्त ज्ञान को नट अंश में इन्द्रियसन्निकर्ष होने से प्रत्यक्ष मानना चाहिए उसे भी अनुमिति कैसे माना गया ? इस प्रश्न का समाधान करते हुए पण्डितराज ने कहा है कि जैसे 'वह्निव्याप्य-धूमवानयं पर्वतः' इत्याकारक परामर्श के पश्चात् 'वह्निमानयं पर्वतः' इत्याकारक समुदित ज्ञान अनुमिति ही कहलाता है न कि पर्वतांश में प्रत्यक्ष होता है। क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमितिज्ञान के विषय में भेद होने पर अनुमिति-सामग्री को प्रत्यक्ष ज्ञान की अपेक्षा बलवान् माना जाता है। और यहाँ दोनों के विषय भिन्न हैं। क्योंकि प्रत्यक्ष का विषय पर्वत है तथा अनुमिति का विषय वह्नि है। अतः 'वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वतः' इत्याकारक परामर्शसामग्री के बलवान् होने से 'वह्निमान् पर्वतः' यह सारा ज्ञान अनुमितिरूप ही माना जाता है। इसी प्रकार शकुन्तलाविषयकरतिव्याप्यविभावानुभावव्यभिचारिमानयं नटः' इत्याकारक परामर्श के अनन्तर शकुन्तलाविषयकरतिमानयं (नटः) दुष्यन्तः, यह ज्ञान भी

1. लौकिकमानवगतो रामादावेव रसोऽस्ति । स एव रस उपनयबलाद् विभावादिविशिष्ट सामाजिकैर्नटादावारोप्यते ।
—काव्यप्रकाश, उद्योतटीका, पृ ९१

2. आरोप्य दुष्यन्तत्वादि तस्य चारोपितदुष्यन्तत्वादलौकिक साक्षात्कारो भवतीति भेदः ।
—रसगङ्गाधर, चन्द्रिकाटीका, पृ ११४

पूर्णतया अनुमिति ही माना जाता है न कि नटांश मे उसे प्रत्यक्ष माना जा सकता है। क्योंकि यहाँ प्रत्यक्ष का विषय चक्षुरिन्द्रियसन्निकृष्ट नट है तथा अनुमिति का विषय रति है। अत दोनों ज्ञानो के विभिन्नविषयक होने से अनुमिति-सामग्री मे प्रत्यक्ष की अपेक्षा बलवत्ता है। इसलिये शकुन्तलाविषयकरतिमान् यह दुष्यन्त-रूप नट है यह सम्पूर्ण ज्ञान अनुमित्यात्मक ही है।[1] न्याय-मुक्तावली की प्रभा टीका मे इसका स्पष्टीकरण किया गया है।

"वह्निव्याप्यधूमवानयं पर्वत" इत्यादिपरामर्शानन्तर यदि पक्षादिविषयक प्रत्यक्ष ज्ञानं मम जायताम् इत्याकारिकेच्छा उत्तेजनाकारिणी न स्यात् तदा पक्षादि-विषयक प्रत्यक्ष ज्ञान न भवति। किन्तु—"पर्वतो वह्निमान्" इत्याकारा समुदित-रूपा पक्षसाध्यविषयिणी अनुमितिरेव जायते। अतोऽयं निष्कर्षो ज्ञेयो यदनुमिति-विषयाद् भिन्नविषयके प्रत्यक्षे प्रत्यक्षेच्छाभावविशिष्टानुमितिसामग्र्येव प्रतिबन्धिका। समानविषयके प्रत्यक्षे तु अनुमित्साभावविशिष्टा प्रत्यक्षसामग्र्येव बलवत्तरा सत्यनुमितिप्रतिबन्धिकेति सङ्क्षेप। —न्या मु प्रभाटीका पृ २६२

इसी तथ्य को पण्डितराज ने 'दुष्यन्तादिगतो रत्यादिर्नटे पक्षे दुष्यन्तत्वेन गृहीते विभावादिभि, कृत्रिमैरप्यकृत्रिमतया गृहीतैर्भिन्ने विषयेऽनुमितिसामग्र्या बलवत्त्वादनुमीयमानो रस 'इत्यपरे' के द्वारा कहा है।[2]

अन्त मे पडितराज ने अन्य कुछ मतो का नामोल्लेख के बिना ही सामान्यत निरूपण किया है जैसे विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भावो का समुदाय रस है। तीनो मे जो चमत्कारी है वह रस है। पुन पुन. अनुसधानरूप भावना का विषयभूत विभाव ही रस है, अनुभाव ही रस है, तथा व्यभिचारी ही रस है इत्यादि।[3] ध्वन्यालोकलोचन मे भी इन मतो का इसी प्रकार से उल्लेख किया गया है।[4] सम्भवत पडितराज ने वही से इन मतो को लिया हो।

---

१ परामर्शानन्तर विनापि प्रत्यक्षेच्छां पक्षादे प्रत्यक्षानुत्पत्तेः प्रत्यक्षेच्छाविरहविशिष्टा-नुमितिसामग्री भिन्नविषयकप्रत्यक्षे प्रतिबन्धिका। —न्यायमुक्तावली पृ २६०

२ रसगङ्गाधर पृ २७

३. "विभावादयस्त्रय समुदिता रस इति कतिपये।" भाव्यमानो विभाव एव रस इत्यन्ये। "अनुभावस्तथा" इति इतरे। "व्यभिचार्येव तथा परिणमति" इति केचित्।

— रसगङ्गाधर पृ २८

४. अन्ये तु शुद्ध विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम्, इतरेऽनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदाय रसमाहु।

—लोचन, द्वितीय उद्योत, पृ० १८६

भाव-विवेचन

रसनिरूपण के बाद प्रसग-प्राप्त भाव का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है। आचार्य भरत ने "णिच्" प्रत्ययान्त "भू" धातु से "भावयन्ति इति भावाः" इस प्रकार भावशब्द की व्युत्पत्ति बतलाई है तथा "णिच्" प्रत्ययान्त "भू" धातु का 'करण' और 'व्याप्ति' अर्थ बताया है। जैसे—

"भू इति करणे धातुः, तथा च भावितं कृतमित्यनर्थान्तरम्। लोकेऽपि च प्रसिद्धम्-अहो अनेन गन्धेन रसेन वा सर्वमेव भावितमिति, तच्च व्याप्त्यर्थम्।

—भरत नाट्यशास्त्र, पृ ३४४, बडोदा, १९५६।

अर्थात् णिच् प्रत्ययान्त भू धातु का करण (करना) अर्थ है। अतः 'भावित' व 'कृत' दोनों शब्द समानार्थक हैं। जैसे कुम्भकारेण घटो भावितः' कुम्भकारेण घटः कृतः' इन दोनों का अर्थ कुम्हार ने घडा बनाया, यह है। अतः भावित तथा कृत ये शब्द समानार्थक हैं। किन्तु ण्यन्त भू धातु का अर्थ केवल करना ही नहीं होता अपितु व्याप्ति भी होना है जैसा कि लोक में प्रसिद्ध है इस गन्ध व रस से सारी ही वस्तु भावित है। यहाँ 'भावित' का अर्थ व्याप्त है न कि कृत। अभिनवगुप्त ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि 'भावित' का केवल कृत अर्थ ही लोक में नहीं होता है अपितु दूसरा भी होता है। केवल कृत अर्थ मानने पर 'कस्तूरिका-गन्धेन सर्वमेव भावितम्' इस वाक्य का अर्थ सगत नहीं होगा। क्योंकि एक के गुणों की अन्यत्र सक्रान्ति न होने से कस्तूरी की गन्ध वस्त्र में उस गध की उत्पन्न नहीं कर सकती। कस्तूरी की गन्ध के समान गन्ध की भी वस्त्र में उत्पत्ति नहीं मानी जा सकती क्योंकि गन्धगुण यावद्द्रव्यभावी है। अर्थात् जब तक द्रव्य की सत्ता रहती है तब तक उसके गुण की सत्ता भी उसमें रहती है किन्तु वस्त्र से कस्तूरी का सपर्क हट जाने पर कुछ काल के बाद उस गुण की सत्ता वस्त्र में नहीं रहती। अतः यहाँ भावित का अर्थ कृत न मानकर व्याप्त अर्थ मानना सगत है। अतः "कस्तूरिकागन्धेन वस्त्रं भावितम्" का अर्थ कस्तूरी की गन्ध ने वस्त्र को व्याप्त कर लिया ऐसा होना है।[1] उपर्युक्त रीति से 'भावयन्ति' इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न भाव शब्द का अर्थ 'उत्पन्न करने वाले" तथा "व्याप्त करने वाले वाले" तत्त्व सिद्ध होते हैं।

---

१. न हि कस्तूरिकागन्धेन वस्त्रं तद्गन्धं क्रियते गुणस्यासङ्क्रान्तेः। न च तत्सदृशगुणान्तरोत्पत्तिः, यावद्द्रव्यभावित्वाद् गन्धादीनाम्। कस्तूर्यादौ च विनाशप्रसङ्गात्। केवलं कस्तूरिकाद्रव्यमेव यावत् प्रदेशसंयोगात् ... कर्पासादिकृतमिव तथा प्रतीतिमाधत्ते। तदुक्तमेतैरिति।

—अभिनवभारती, पृ ३४४

रत्यादि[1] लौकिक स्थायिभाव व व्यभिचारी भाव से ही आस्वाद्य अलौकिक रसरूप अर्थ की निष्पत्ति होती है। अर्थात् लौकिक स्थायी आदि अलौकिक आस्वाद्य रस को निष्पन्न करते हैं। अतः करण अर्थ को लेकर वे स्थायी और व्यभिचारी भाव कहलाते है। तात्पर्य यह है कि अनुमान द्वारा प्रतीयमान लौकिक रत्यादि भाव ही साधारणीकरण-प्रक्रिया द्वारा अलौकिक व आस्वाद्य बनकर रस कहलाते हैं, क्योंकि सामाजिक सर्वप्रथम प्रमदादि के द्वारा लौकिक स्थायिभावों का अनुमित्यात्मक ज्ञान प्राप्त करते हैं एव तत्पश्चात् साधारणीकृत विभावादि द्वारा साधारणीकृत अत एव अलौकिक रत्यादि का आस्वादन करते हैं। इस प्रकार अनुमान द्वारा अवगत लौकिक रत्यादि भाव ही साधारणीकरण-प्रक्रिया द्वारा साधारणीकृत होकर आस्वाद्य बनने वाले उत्तरवर्ती अलौकिक रसरूप काव्यार्थ के निष्पादक (कारक) बनते हैं। क्योंकि जब तक लौकिक रत्यादि अनुमति द्वारा ज्ञात नही होते तब तक उनका साधारणीकरण होकर रसरूप मे परिणमन नहीं हो सकता। तथा साधारणीकृत होकर आस्वाद्यमानता भी उनमे व्यभिचारी आदि भावों के द्वारा ही प्राप्त होती है अतः वे स्थायी और व्यभिचारी भाव अलौकिक आस्वाद्य अर्थ के निष्पादक होने से भाव कहलाते हैं।[2] इसी अभिप्राय से भरत ने कहा है—

वागङ्गसत्वोपेतान् काव्यार्थान् भावयन्ति इति भावा.।

(अध्याय ७, पृ. ३४२)

वाचिक अर्थात् वर्णनात्मकक्रियारूप वाचिक अभिनय, अगविक्षेप आदि आंगिक अभिनय तथा आंतरिक व बाह्य क्रियारूप सात्विक अभिनय से सम्बद्ध[3] अतएव साधारणीकृत होकर आस्वाद्य बनने वाले अलौकिक रत्यादिरूप काव्यार्थ को लौकिक स्थायी व व्यभिचारिरूप चित्तभूमियां भावित (निष्पन्न) करती है, अर्थात् आस्वादयोग्य बनाती हैं। अतः इन्हे भाव कहा जाता है।

प्रारम्भ में देशविशेषगतत्वेन, कालविशेषगतत्वेन तथा व्यक्तिविशेषगतत्वेन प्रतीयमान वाचिकादि अभिनय ही पश्चात् देशकालव्यक्तिविशेष के सम्बन्ध का परित्याग कर साधारणीकृतरूप से उपस्थित होकर रत्यादि को आस्वाद्य बना देती है। अतः व्यक्तिविशेषादिगतत्वेन प्रतीयमान लौकिक चित्तवृत्तियां (रत्यादि) साधारणीकृत होकर सामाजिकों की आत्मा को उसी प्रकार व्याप्त कर लेती है जैसे

१. स्थायिव्यभिचारिकलापेनैव ह्यास्वाद्यः अलौकिक. अर्थो निष्पाद्यते।

—नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती, पृ ३४३

२. एव काव्यार्थान् रसान् भावयन्ति कुर्वते। स्थायिव्यभिचारिकलापेनैव ह्यास्वाद्योऽलौकिकार्थो निर्वर्त्यते। पूर्वं हि स्थाय्यादिकमवगच्छन्ति ततः सर्वसाधारणतया आस्वादयन्ति। तेन पूर्वावगमगोचरीभूतः सन्नुत्तरभूमिकाभागिन आस्वाद्यस्य भावको निष्पादक उच्यते। तेन भावयन्तीति करणे दर्शयति।

—नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती, पृ. ३४३

३. वागादयस्तत्कर्मसु वर्तन्ते। तेन वर्णनात्मना वाचिकेन, सन्निवेशवलनादिना आङ्गिकेन, अन्तर्बहिरात्मना सात्विकेन करणभूतेन उपेतान् सम्बद्धान्।

—अ. भा. पृ. ३४३

कस्तूरी की गन्ध वस्त्र को ।[1] अत व्याप्ति अर्थ को लेकर भी रत्यादि लौकिक चित्तवृत्तियाँ भाव कहलाती हैं। भाव शब्द के इन अर्थों को व्यक्त करने वाले सग्रहश्लोकों को भी भरत ने उद्धृत किया है—

> विभावेनाहृतो योऽर्थो ह्यनुभावैस्तु गम्यते ।
> वागङ्गसत्त्वाभिनयैः स भाव इति कथ्यते ॥१॥
> वागङ्गमुखरागेण सत्त्वेनाभिनयेन च ।
> कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव उच्यते ॥२॥
> नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।
> यस्मात्तस्मादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोक्तृभि ॥३॥

अर्थात् जो स्थायी, व्यभिचारी व सात्त्विक भाव विभावों के द्वारा उत्पन्न होते हैं तथा वाचिक आङ्गिक व सात्त्विक अभिनयरूप अनुभावों के द्वारा प्रतीति या अनुभव के विषय बनते हैं उन्हें भाव कहा जाता है। कवि के अन्तर्गत अर्थात् उसके चित्त में अनादि प्राक्तन सस्काररूप से वर्तमान रत्यादि को वाचिक, आङ्गिक व मुखरागरूप सात्त्विक अभिनय के द्वारा साधारणीकृतरूप से उपस्थापित कर आस्वादयोग्य बनाने वाली लौकिक रत्यादि चित्तवृत्तियों को भाव कहते हैं।[2]

वाचिकादि अभिनयरूप कारणों में सम्बद्ध आस्वाद्य चित्तवृत्तिविशेषरूप रसों को ये लौकिक रत्यादि चित्तवृत्तियाँ सामाजिकों की बुद्धि का विषय बना देती हैं, अत *नाट्ययोजकों ने इन्हें भाव कहा है। जिस प्रकार 'निर्वेदोपरक्ता रति'* 'औत्सुक्योपरक्ता रति' आदि में रति को निर्वेद व औत्सुक्य भाव अपने स्वरूप से उपरक्त अर्थात् स्वस्वरूप से निरूपणीय बना देते हैं उसी प्रकार साधारणीकृत अतएव आस्वादनीय अलौकिक चित्तवृत्तिविशेषरूप शृगारादि रसों को लौकिक चित्तवृत्तिरूप रत्यादि अपने स्वरूप से उपरक्त कर देती हैं अत उपरजक लौकिक रत्यादिरूप चित्तवृत्तियाँ भाव कहलाती हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने इस बात को इस श्लोक की व्याख्या में स्पष्ट कर दिया।[3]

---

१ य एव वाचिकाद्या अभिनया अनुभावदशाया देशकालविशेषपरत्व वन यदपि भान्ति ... साधारणभावमनुप्राप्ता सामाजिकजनमपि मृगमदामोद इव व्याप्नुवन्ति स्वचित्तवृत्तिव्यापनाद्वारेण । अत भावयन्ति (व्याप्नुवन्ति) सामाजिकात्मानमिति भावा ।
—नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती, पृ. ३४४-४५

२ वागङ्गमुखरागात्मनाभिनयेन सत्त्वात्मना चाभिनयेन करणेन कवे साधारणस्यापि कवेरन्तर्गतस्य च अन्तर्गतानादिप्राक्तनसस्कारप्रतिभानमया न तु लौकिकविषयजा रत्यादय एव देशकालादिभेदाभावात् सकलसाधारणीभावनास्वादयोग्यत्व भावयत् भाव इत्यभीष्टवन् भावश्चित्तवृत्तिरूपस्य एवाध्वन । —नाट्यशास्त्र, अभिनव भारती, पृ ३४५-३४६

३ रसनयोग्यान् चित्तवृत्तिविशेषान् समर्पयन्ति बोधयन्ति बुद्धिविषयता प्रापयन्ति इमान् सामाजिकान् । भावयन्ति बुद्ध्यर्थकत्वात् णिजर्थ । इत्यत पाठो ... भावना तदा तथा स्मात् रसनयोग्यान् निजेन रूपेण भावयति यथा निर्वेदोपरक्ता रति औत्सुक्योपरक्ता रतिरित्यादि । —नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती पृ ३४६

अभिनवगुप्त ने प्रथम श्लोक मे भाव शब्द की व्युत्पत्ति को लोकानुसार कवि-नटशिक्षोपयोगिपरक बतलाया है तथा द्वितीय व तृतीय श्लोको मे करण व व्याप्ति रूप अर्थ वाली भावव्युत्पत्तियों को सामाजिकाभिप्रायपरक बतलाया है।

वस्तुत इन तीनो सग्रहश्लोको में प्रथम मे 'भाव्यते इति भाव' इस रूप मे कर्मव्युत्पत्तिपरक भावशब्द का निरूपण किया है। द्वितीय मे 'भावयन्ति कुर्वन्ति इतिभावा' इस कर्तृपरक व्युत्पत्ति से करणार्थक भावशब्द का निरूपण किया है तथा तृतीय मे 'भावयन्ति व्याप्नुवन्ति इति भावा' इस कर्तृव्युत्पत्ति से व्याप्त्यर्थ-परक भावशब्द का निरूपण किया है। ऐसा सग्रहश्लोको के परिशीलन से प्रतीत होता है।

उपर्युक्त रीति से भरतमतानुसार भाव लौकिकचित्तवृत्तिविशेष हैं यह सिद्ध हो जाता है। इसीलिए उन्होंने 'भावानिदानी व्याख्यास्याम' यह कहकर चित्तवृत्ति-रूप भावो का ही स्वरूप इस अध्याय मे बताया है। विभावो और अनुभावो का नही। विभावो और अनुभावो का निरूपण तो इसलिए किया गया है कि इन्ही के द्वारा भावो की प्रतीति या सिद्धि होती है। इसलिए भरत मुनि ने स्वय भी कहा है—

एव ते विभावानुभावसयुक्ता भावा इति व्याख्याता। अतो ह्येषा भावाना सिद्धिर्भवति। विभावानुभावसयुक्नाना लक्षणनिदर्शनानि अभिव्याख्यास्याम इति।
—नाट्यशास्त्र, अ० ७।

यहाँ पर 'विभावानुभावसयुक्ता भावा'[1] इस वाक्याश पर ध्यान देने से स्पष्ट हो जाता है कि भरत को यहा पर भाव शब्द से विभाव व अनुभाव से भिन्न वस्तु ही अभिप्रेत है अन्यथा विभावानुभावसयुक्ता इस विशेषण की आवश्यकता क्या थी? तथा इसके आगे "तत्राष्टौ[2] भावा स्थायिन, त्रयस्त्रिशद् व्यभिचारिण', अष्टौसात्त्विका इति। एवमेते काव्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपचाशत् भावा प्रत्यवगन्तव्या। एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते।" इस सदर्भ के द्वारा स्थायी व्यभिचारी तथा सात्त्विक भावों को भाव बतलाते हुए विभावो तथा अनुभावो को भावशब्दवाच्य नही माना है। यद्यपि स्तम्भस्वेदादि सात्त्विक भाव भी अनुभावरूप ही हैं तथापि यहा सात्त्विक भावो से बाह्य स्तम्भस्वेदादि गृहीत न होकर चित्तवृत्तिरूप स्तम्भस्वेदादि ही गृहीत हैं जो कि बाह्य स्तम्भस्वेदादि के कारण हैं। इसीलिए आचार्य हेमचन्द्र ने सात्त्विक भावों को चित्तवृत्तिरूप भी माना है। उनके अनुसार "सीदति अस्मिन् मन[3] इस व्युत्पत्ति से निष्पन्न सत्त्व-शब्द प्राण का बोधक है तथा" सत्त्वे भवा सात्त्विका." इस व्युत्पत्ति स निष्पन्न

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय ७, पृ० २४८

२ वही, पृ० २१८

३ काव्यानुशासन, पृ० १४४

सात्त्विक शब्द प्राण में संक्रान्त आन्तर रत्यादिरूप चित्तवृत्तिविशेषों का ही बोधक है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानरूप चित्तवृत्तिविशेष सर्वप्रथम कारणविशेष से उद्भूत होते हैं। तत्पश्चात् आभ्यन्तर प्राण में संक्रान्त होकर प्राण को स्वस्वरूप से उपरक्त बना देते हैं।[1] तदनन्तर बाह्य स्वेदादि की उत्पत्ति होती है। अतः रत्यादि चित्तवृत्तिया ही उद्भूति के बाद तथा बाह्यस्वेदादि की उत्पत्ति से पूर्व आन्तरिक प्राणभूमि में संक्रान्त होकर स्तम्भस्वेदादि का रूप धारण करती हैं। उन्हीं को यहा सात्त्विक भाव से व्यपदिष्ट किया है न कि बाह्य स्वेदादि को। ये आन्तरिक स्वेदादि प्राणभूमि तक प्रसृत रत्यादि चित्तवृत्तिया ही हैं। इन आन्तरिक स्वेदादि के विभावादि वही हैं जो रत्यादि चित्तवृत्तियों के हैं। यह एक अनुभवसिद्ध तथ्य हैं कि क्रोध[2] का आवेश होने पर प्रथम आन्तरिक ज्वलन उत्पन्न होता है, तत्पश्चात् शारीरिक स्वेदादि का उद्भव होता है। इसीलिए भट्ट बाण ने स्पष्ट कहा है—

"पूर्वं तपो गलति पश्चात् स्वेदसलिलतनुः" इति।

काव्यानुशासनविवेक पृ. १४४

और कभी कभी प्राणमय आन्तरिक क्रोधादि को आकारगुप्तिपरक अवहित्थादिरूप चित्तवृत्ति के द्वारा रोक भी दिया जाता है। उस समय बाह्य स्वेदादि की उत्पत्ति नहीं होती।[3] जैसे—

प्रियमुखशशाङ्कदर्शनचालितं रतिसादरं प्रियाहृदयम्।
गुरुसंक्रमदृष्सेकप्रारम्भप्रसरमपि खलु न तिष्ठति॥[4]

प्रिय के मुखचन्द्र को देखने से रति के लिए आदरवान् प्रिया का हृदय विचलित होने पर भी यह रहस्य श्वसुरादि को विदित न हो जाय इस दृष्टि से बाह्य स्वेदादि के सप्रयास रोक देने पर वह विश्रान्ति को प्राप्त नहीं होता तथापि आन्तरिक सात्त्विक स्वेदादि से युक्त रहता ही है। जिस प्रकार सुन्दर चन्द्रमा के देखने से अन्तश्चलित वेगवान् समुद्र महान् सेतु के द्वारा जलप्रसर के रोक दिये जाने पर भी तरंगरूप क्षोभ से युक्त हो ही जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि प्रिय मुख-शशाङ्क को देखने से प्रिया की रति उद्बुद्ध होकर मनोरूपता से च्युत होकर भी बाह्य भौतिक (शारीरिक) स्वेदादि तक नहीं पहुँची है अपितु आन्तरिक

---

1. अत्र भाव रत्यादयश्चित्तवृत्तिविशेषाः पूर्वं संविद्रूपाः समुल्लसन्ति । तत आभ्यन्तरप्राणान् ते स्वरूपाध्यासेन अनुरञ्जन्ति ।
—काव्यानुशासनविवेक, पृ० १४४
2. तथा हि क्रोधावेशे अन्तरा ज्वलनमेव पूर्वमुन्मिषति ततः स्वेदः । —वही पृ० १४४
3. यदा तदवस्थो प्राणोऽवहित्थादिना भावो बहिर्विकारपर्यन्ततां नाप्नोति, परिरक्ष्यमाणोऽपि सोऽपि दृष्टः ।
—काव्यानुशासनविवेक, पृ० १४४
4. काव्यानुशासनविवेक, पृ० १४४ ।

प्राणभूमि में विद्यमान है। रत्यादि की यह प्राणभूमि में स्थिति ही आन्तरिक सात्त्विक स्वेदादिपदाभिधय है।

यहा प्रश्न यह उपस्थित होता है जब रत्यादि प्राणवृत्तियाँ ही प्राणभूमि मे सक्रान्त होकर सात्त्विक भाव कहलाती हैं तो उस प्राणवृत्ति के एकरूप होने पर भी सात्त्विक भाव के आठ भेद कैसे माने गये हैं ? इस शङ्का का समाधान भी आचार्य हेमचन्द्र ने बतलाया है कि प्राण[1] यद्यपि एक ही प्रकार का है तथापि इस प्राण में कभी पृथ्वीभाग की, कभी जलभाग की, कभी तेजोभाग की, कभी वायु की तथा कभी आकाशभाग की प्रधानता होती है। जब प्राण मे पृथ्वीभाग की प्रधानता होती है तब प्राण में सक्रान्त चित्तवृत्ति स्तम्भरूप सात्त्विक भाव मे परिणत होती है जो कि प्रतिपत्ति (ज्ञान) रूप चैतन्य का अवष्टम्भ कर देती है। जब प्राण मे जलभाग की प्रधानता होती है तब जलीय भाग से अनुगृहीत प्राण मे सक्रान्त चित्तवृत्ति वाष्परूप सात्त्विक भाव मे परिणत होती है। जब प्राण मे तेजोभाग की प्रधानता होती है तब प्राण के भी तैजस होने से तेजोभाग का प्राण पर तीव्र व अतीव्र दो प्रकार से प्रभाव पड़ता है। जब तीव्र रूप से प्रभाव पड़ता है तब उससे अनुगृहीत प्राण में सक्रान्त चित्तवृत्ति स्वेदरूप सात्त्विक भाव मे तथा जब अतीव्र रूप से प्रभाव पड़ता है तब उससे अनुगृहीत प्राण में सक्रान्त चित्तवृत्ति विवर्णतारूप सात्त्विक भाव मे परिणत होती है। जब प्राण मे आकाशभाग की प्रधानता होती है तब उससे अनुगृहीत प्राण मे सक्रान्त चित्तवृत्ति प्रलयरूप सात्त्विक भाव में परिणत होती है। जब प्राणभाग वायु से अनुगृहीत होता है तो उसका अनुग्रह मन्द, मध्यम व उत्कृष्ट भेद से तीन प्रकार का होता है। अत उसमे सक्रान्त चित्तवृत्ति भी क्रमश रोमाञ्च, वेपथु व स्वरभङ्ग रूप सात्त्विक भावों मे परिणत हो जाती है। इन आन्तरिक तत्तद्-भूतागृहीत प्राण मे सक्रान्त चित्तवृत्तिरूप स्तम्भादि सात्त्विक भाव आन्तरिक ही हैं और इन आन्तरिक सात्त्विक भावों से जायमान बाह्य शारीरिक स्तम्भादि उन आन्तरिक सात्त्विक स्तम्भादि चित्तवृत्तियों के अनुभाव (बाह्य प्रकाशन) हैं।

ये अनुभावरूप बाह्य स्तम्भादि उन आन्तरिक प्राणात्मक चित्तवृत्तियों की प्रतीति कराते हुए अन्त मे इन आन्तरिक स्तम्भादि की भी कारणभूत मनोवृत्तिरूप रत्यादि चित्तवृत्ति की भी प्रतीति कराते हैं। निष्कर्ष यही है कि स्तम्भादि अनुभाव वस्तुत. मनोवृत्तिरूप रत्यादि चित्तवृत्तियों के ही अनुमापक या प्रत्यायक हैं किन्तु मध्य मे आन्तरिकरूप स्तम्भादि प्राणात्मक चित्तवृत्ति के भी प्रत्यायक बनते हैं।

---

१ तथा हि पृथ्वीभागप्रधाने प्राणे सक्रान्तश्चित्तवृत्तिगण स्तम्भः विष्टब्धचेतनत्वम्। जलभागप्रधाने तु बाष्प। तेजसस्तु प्राणनैकट्यादुभयथा तीव्रातीव्रत्वेन प्राणानुग्रह इति द्विधा स्वेदो वैवर्ण्यं च। तदधेतुत्वाच्च तथा व्यवहार। आकाशानुग्रहे गतचेतनत्व प्रलय। वायुस्वातन्त्र्ये तु तस्य मन्दमध्यमोत्कृष्टावेशात् त्रेधा रोमाञ्चवेपथुस्वरभङ्गभावेन स्थितिरिति भरतविद।

—काव्यानुशासन, पृ० १४६

का प्रेमस्वरूप का कथन निःसार है। क्योंकि पूर्व में भरत के मतानुसार उन्हीं के उद्धरणों द्वारा भावों की चित्तवृत्तिता का प्रतिपादन किया जा चुका है। तथा आन्तरिक सात्त्विक स्तम्भस्वेदादि भी चित्तवृत्तिरूप हैं इसका भी निरूपण काव्यानुशासन के उद्धरणों से किया जा चुका है। अतः उन्हें शारीरिक प्रतिक्रियामात्र मानना असङ्गत है।

भाव शब्द से उपर्युक्त चित्तवृत्तिरूप अर्थ का ग्रहण मानते हुए भी आचार्य भरत ने कतिपय स्थलों पर भाव शब्द से विभावादि का भी ग्रहण किया है। जैसे—'नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्वमाप्नुवन्ति' इस वाक्य में भावशब्द से विभाव, अनुभाव व व्यभिचारी भाव तीनों का ग्रहण है। क्योंकि विभावादि तीनों तत्त्वों से अभिव्यक्त होकर ही स्थायिभाव रसत्व को प्राप्त होते हैं। इसीलिए भावों को चित्तवृत्तिविशेषरूप[1] मानने वाले व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने भी उपर्युक्त वचन की व्याख्या करते हुए—'नानाभावैर्विभावादिभिरुप समीपं प्रत्यक्षकल्पतां गता लोकापेक्षया ये स्थायिनो भावास्ते रस्यमानतैकजीविता रसत्वं तत्र प्रतिपद्यन्ते'[2] ऐसा कहा है और भावों से विभाव अनुभाव तथा व्यभिचारी तीनों का ग्रहण माना है। इसी प्रकार उपर्युक्त भरत के वचन में प्रमाणरूप से उद्धृत—

> 'भावाभिनयसम्बद्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः।
> आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः॥'

इस आनुवंश्य श्लोक में भी भावशब्द से विभाव व व्यभिचारी दोनों का ग्रहण माना है। यहां अनुभाव का ग्रहण अभिनय पद में हो जाता है। अतः केवल विभावों व व्यभिचारिभावों का ग्रहण ही भावशब्द से किया गया है। इस बात का स्पष्टीकरण अभिनवगुप्त ने अपनी व्याख्या में कर दिया है।[3]

इसी प्रकार 'नानाभावोपगमाद्रसनिष्पत्तिः' इस भरतवाक्य में भावशब्द से विभाव, अनुभाव व व्यभिचारिभाव तीनों का ग्रहण है। कुछ अन्य आनुवंश्य-श्लोकों में भी भावशब्द से विभावादि तीनों का ग्रहण है। किन्तु इन अपवाद स्थलों को छोड़ कर अन्यत्र सर्वत्र भावशब्द से चित्तवृत्तिविशेषरूप ४९ भावों का ही ग्रहण भरत को अभिप्रेत है विभावों व अनुभावों का नहीं।

आचार्य भरत ने रसप्रकरण में भी प्रत्येक रस के विभावों अनुभावों और व्यभिचारियों का प्रतिपादन करते हुए विभावों व अनुभावों का भावशब्द से व्यपदेश न करके सञ्चारी भावों का ही भावशब्द से व्यपदेश किया है। इसीलिए सर्वत्र "भावाश्चास्य"[4] इस उक्ति के बाद सञ्चारी भावों का ही वर्णन किया है।

---

१. तथा च द्रष्टव्य—भावशब्देन तावच्चित्तवृत्तिविशेषा एव विवक्षिताः। —अभि. भा. पृ. ३४०

२. अभिनवभारती पृ. २८८

३ [illegible] भावा विभावव्यभिचारिणः। अभिनया अनुभावा एव।
—अभिनवभारती पृ. २९०

४ नाट्यशास्त्र, पृ. ३२१

अथवा रसाध्याय के उपर्युक्त स्थलों में भावशब्द "भवन्ति इति भावा." इस व्युत्पत्ति से पदार्थमात्र का वाचक है जिसमे द्रव्यरूप, गुणरूप, चित्तवृत्तिरूप सभी पदार्थों का समावेश हो सकता है। अत सभी प्रकार के विभाव-अनुभावों का इस अर्थ मे भावशब्द से ग्रहण करने मे कोई आपत्ति नहीं है।

उपर्युक्त रीति से भरत के अनुसार भी भावाध्याय मे भावशब्द चित्तवृत्तिरूप है तथा विभाव चित्तवृत्तियों का प्रत्यायक तत्त्व है। किन्तु "विभाव इति कस्मात्। उच्यते—विभावो विज्ञानार्थ।" "विभाव कारण निमित्त हेतुरिति पर्याया। विभाव्यन्तेऽनेन वागगसत्त्वाभिनया इत्यतो विभावा। यथा विभावित विज्ञातमित्यनर्थान्तरम्।" इस सदर्भ से वाचिक, आगिक सात्त्विक अभिनयो वाली चित्तवृत्तियो के ज्ञापक हेतुओ का भरत ने विभाव कहा है और 'अथानुभाव इति कस्मात्। उच्यते अनुभाव्यतेऽनेन वागगसत्त्वकृतोऽभिनय इति'[1] इस सदर्भ से चित्तवृत्तियों का अनुभव कराने वाले वाचिकादि अभिनयो को अनुभाव बताया है।

भरतोक्त विभाव-लक्षण मे 'वागगसत्त्वाभिनया' शब्द 'वागगसत्त्वरूपा अभिनया येषा ते" इस बहुव्रीहि समास के द्वारा स्थायी आदि भावो का बोधक है, क्योकि भरत ने अपने विभाव की परिभाषा मे जिन आनुवश्य श्लोको को प्रमाणरूप से उद्धृत किया है उनसे इसी तथ्य का स्पष्टीकरण होता है। जैसे—

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागंगाभिनयाश्रयाः।
अनेन यस्मात्तेनाय विभाव इति संज्ञितः॥
—नाट्य शास्त्र, अध्याय ७, श्लोक ४

अर्थात् वाचिक आगिक आदि अभिनयो पर आधारित रत्यादि चित्तवृत्तिरूप अर्थ विभावो के द्वारा विशिष्टतया ज्ञात होते है, अतः उनको विभाव कहा गया है। इसी प्रकार—

वागंगाभिनयेनेह यतस्त्वर्थोऽनुभाव्यते।
शाखांगोपागसंयुक्तस्त्वनुभाव ततः स्मृतः॥
—नाट्य शास्त्र, अध्याय ७, पृ ३४७, श्लोक ५

इस आनुवश्य श्लोक मे वाचिकादि अभिनयो के द्वारा प्रतीयमान चित्तवृत्तिरूप अर्थ की प्रतीति कराने वाले तत्त्व को अनुभाव बतलाया गया है। अतः "अनुभाव्यते अनेन वागगसत्त्वकृत: अभिनय" इस भरतोक्त अनुभाव लक्षण का वाचिकादि अभिनयो द्वारा चित्तवृत्ति की प्रतीति कराने वाले अर्थ मे ही तात्पर्य समझना उचित है।

भावस्वरूपबोधक आनुवश्य श्लोक से भी इसी अर्थ की अभिव्यक्ति होती है जैसे—

---

१. नाट्यशास्त्र, पृ. ३४७

भावसामान्यलक्षणम् अभिधास्यामः । तत्र स्थायिभावान् वक्ष्यामः[1] इस उक्ति से स्पष्ट हो जाता है।

यहाँ इतना और ज्ञातव्य है कि भरत ने भावाध्याय में जिन उनचास भावों का निरूपण किया है वह सब व्यभिचारिभावों का ही है न कि रसावस्थापन्न स्थायिभावों का। अन्यथा रसावस्थापन्न स्थायिभावों का रसाध्याय में निरूपण हो जाने से यहाँ निरूपण व्यर्थ हो जाता। इसीलिए महिमभट्ट ने स्पष्ट कहा है कि— यत्तु भावाध्याये स्थायिनां लक्षणमुक्तं तद्व्यभिचारिदशापन्नानामेवावगन्तव्यं नान्यथा लक्षणवचनस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गात् इति।[2]

सभी भावों के व्यभिचारित्व होने पर भी उनमें स्थायी सात्त्विक व व्यभिचारिभाव का व्यवहार इसलिए किया है कि रत्यादि जब परिपुष्ट होकर रसावस्था को प्राप्त होते हैं तब स्थायी कहलाते हैं अन्यथा व्यभिचारी। इसलिए रत्यादि में स्थायित्व व व्यभिचारित्व दोनों व्यवहार बनते हैं। किन्तु निर्वेद व व्यभिचारी कभी भी स्थायित्वव्यवहार के योग्य नहीं है। जैसा कि महिमभट्ट ने कहा है— तत्र स्थायितामुपयान्ति रति न व्यभिचारिसात्त्विकानाम्। न हि नित्य व्यभिचारिण एव न जातुचित् स्थायिनः प्रकल्प्यन्ते।[3] इसलिए स्थायिभावान् व्याख्यास्यामः इस भरतवचन का तात्पर्य यह है कि जिन भावों में परिपाक के द्वारा कदाचित् स्थायिभवन की योग्यता है उन रत्यादि व्यभिचारिभावों का निरूपण किया जा रहा है।

स्पष्ट सिद्ध होता है कि भावसामान्य भिन्न वस्तु है तथा भावध्वनि भिन्न। भावध्वनि व्याप्य है, भावसामान्य व्यापक। भावसामान्य में भावध्वनिका समावेश हो सकता है किन्तु भावध्वनि में भावसामान्य का नहीं।

निष्कर्ष यह है कि अभिनवगुप्त ने नाट्य शास्त्र की टीका अभिनवभारती में भरत के अनुसार भावसामान्य का विवेचन किया है अत आठ स्थायी, तेंतीस व्यभिचारी तथा आठ सात्त्विक इस प्रकार चित्तवृत्तिविशेषरूप उनचास भावों का प्रतिपादन किया है और ध्वन्यालोक की लोचन टीका में भावध्वनि का प्रतिपादन करते हुए प्रधानतया व्यज्यमान निर्वेदादि ३३ संचारी भावों को ही भाव माना है। जैसे—

"यद्यपि रसेनैव जीवति सर्वं काव्यम्। तथापि तस्य रसस्य एकघनचमत्कारात्मनोऽपि कुतश्चिदंशात्प्रयोजकीभूतात् अधिकोऽसौ चमत्कारो भवति। तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भावध्वनि।" यथा—

> तिष्ठेत् कोपवशात् प्रभावपिहिता दीर्घं न सा कुप्यति,
> स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः।
> तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
> सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः॥
> अत्रहि विप्रलम्भरसाभावेऽपीयति वितर्काख्यव्यभिचारिचमत्क्रियाप्रयुक्त आस्वादातिशय.॥[1]

अर्थात् यद्यपि व्यज्यमान व्यभिचारी भाव भी पर्यन्त में रस के ही अंग होते हैं अत. वहां एकघन चमत्कार रस में ही रहता है तथापि कभी कभी रस के अंगभूत व्यभिचारी भाव में अधिक चमत्कार प्रतीत होता है। उस समय वह व्यभिचारीभाव भावध्वनिशब्द से व्यपदिष्ट होता है। जब व्यभिचारी भावों में भी, जो कि रस के अंग हैं, स्थलविशेष में रस की अपेक्षा भी अधिक चमत्कार का सत्ता मानी गई है तो जहां देवादिविषयक रतिरूप भाव व्यक्त होता है वहां तो पर्यन्त में रसाभिव्यक्ति भी नहीं है अत. ऐसे "कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते" इत्यादि स्थलों में रति में आस्वादातिशय न मानना कैसे संगत हो सकता है? इसलिए देवादिविषयक परिपुष्ट रति ही भावध्वनि है न कि अपरिपुष्ट। इसीलिए भावध्वनि का परिगणन असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य ध्वनि में हुआ है। स्वयं अभिनवगुप्त ने रसभावादि की आस्वाद्यमानताप्राणरूप से प्रतीति बतलायी है।[2]

धनञ्जय व धनिक

धनञ्जय तथा उनके अनुज धनिक ने भी स्थायी सचारी व सात्त्विक भेद से उनचास ही भाव माने हैं किन्तु उन्होने भाव की परिभाषा मे परिवर्तन कर दिया। धनञ्जय व धनिक के मत मे अनुकार्यनिष्ठ सुखदु खादि भावो के द्वारा सहृदय के चित्त को भावित (व्याप्त) करने वाले तत्त्व ही भाव कहलाते है। इसका तात्पर्य यह है कि स्थायी आदि चित्तवृत्तियाँ अनुकार्य मे कवि द्वारा निबध्यमान सुखदु खादि भावो से सहृदय के चित्त को भावित करती हैं अत· वे भावपदवाच्य हैं।[1] दशरूपक को कहा है—

'सुखदु खादिकैर्भावै भावस्तद्भावभावनम्"

—दशरूपक ४।४।

यद्यपि धनञ्जय व धनिक के अनुसार सुखदु खादि भावो के द्वारा सहृदय के चित्त को भावित करने वाली चित्तवृत्तियाँ स्थायी व व्यभिचारी ही हैं न कि सात्त्विक अश्रुरोमाचादि। इसीलिए धनिक ने 'ते च (भावा)स्थायिनो व्यभिचारिणश्चेति वक्ष्यमाणा "[2] इस उक्ति के द्वारा स्थायी एव व्यभिचारी को ही भाव बताया है तथापि अश्रुरोमाचादि सात्त्विक भाव समाहित चित्त से उत्पन्न होने वाले सत्त्व से उत्पन्न होते हैं और यह सत्त्व परगत सुखदु खादि की भावना मे अन्त करण की अत्यन्त अनुकूलता है। इससे उत्पन्न होने के कारण ही खिन्न व प्रहृष्ट व्यक्ति अश्रुरोमाचादि भावों का प्रदर्शन करता है। अत अश्रुरोमाचादि स्वय अनुकार्याश्रित सुखदु खादि की भावना कराने वाले मन के सत्त्व भाव से उत्पन्न होते हैं अत इन्हें भी भावश्रेणी मे समाविष्ट कर लिया गया है। ये सात्त्विक भाव भावसूचन करने वाले बाह्य विकार भी है अत· अनुभाव भी हैं।[3] जैसा कि धनञ्जय ने कहा है—

पृथग् भावा भवन्त्यन्येऽनुभावत्वेऽपि सात्त्विका.।
सत्त्वादेव समुत्पत्ते तच्च तद्भावभावनम्॥

—दशरूपक ४।४-५

धनिक[4] ने भी पूर्वाचार्य-कृत 'रसान् भावयन् भाव.' 'कवेरन्तर्गत भाव भावयन् भाव.' इन भावलक्षणो को अभिनय व काव्य में प्रवर्तमान भाव शब्द का

---

१ अनुकार्याश्रयत्वेनोपनिबध्यमानै सुखदु खादिरूपैर्भावैस्तद्भावस्य भावकचेतसो भावन वासन भाव।
—द रू ४।४ अवलोक

२ दशरूपक अवलोक टीका पृ १८८

३ सत्त्व नाम मन प्रभव तच्च समाहितमनस्त्वादुत्पद्यत। एतदेवास्य सत्त्व यत् खिन्नेन प्रहर्षितेन चाश्रुरोमाचादयो निर्वर्त्यन्ते, तेन सत्त्वेन निर्वृत्ता सात्त्विकास्तत उत्पद्यमानत्वाच्चाश्रुप्रभृतयोऽपि भावा, भावसूचनात्मकविकाररूपत्वाच्चानुभावा इति द्वैरूप्यमेषाम्।
—दशरूपकावलोक पृ १८८

४ यत्तु रसान् भावयन् भाव इति कवेरन्तर्गत भाव भावयन् भाव इति च तदभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्। इति —दशरूपक ४।४ अवलोक टीका

प्रवृत्तिनिमित्त बतला कर अपनी व्याख्या में इसी तथ्य का स्पष्टीकरण किया है। वस्तुत सत्त्व से उत्पन्न होने के कारण स्तम्भ, स्वेदादि सात्त्विक भाव कहलाते हैं। धनञ्जय की यह भावना आचार्य भरत से ही गृहीत है। क्योंकि आचार्य भरत ने स्वयं नाट्यशास्त्र के सप्तमाध्याय में स्तम्भस्वेदादि को सात्त्विक भाव बतलाते हुए इसी तथ्य का प्रतिपादन किया है—

'इह हि सत्त्व नाम मन प्रभवम। तच्च समाहितमनस्त्वादुच्यते। मन.-समाधौ सत्त्वनिष्पत्तिर्भवति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्रुवैवर्ण्यादिलक्षणो यथाभावोपगत स न शक्योऽन्यमनसा कर्तुमिति। लोकस्वभावानुकरणत्वात् च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम। को दृष्टान्त —यथाहि नाट्यधर्मिप्रवृत्ता सुखदु खकृता भावास्तथा सत्त्वविशुद्धा कार्या यथा सरूपा भवन्ति। तत्र दु ख नाम रोदनात्मक तत्कथमदु खितेन सुख च प्रहर्षात्मकमसुखितेन वाऽभिनेयम्। एतदेवास्य सत्त्व यत् दु खितेन सुखितेन वाश्रुरोमाञ्चौ दर्शयितव्यौ इति कृत्वा सात्त्विका भावा इत्यभि-व्याख्याता।'[1]

उपर्युक्त सदर्भ को देखने से प्रतीत होता है कि भरत भी सत्त्वोत्पन्न होने के कारण ही स्तम्भादि सात्त्विकों को भाव मानते हैं, चित्तवृत्तिविशेष होने से नहीं। किन्तु अभिनवगुप्त चित्तवृत्तिविशेष होने से ही सात्त्विकों की गणना भावों में करते हैं और स्तम्भ स्वेदादि भी आन्तरिक चित्तवृत्तिरूप हैं यह तथ्य भी भरत के मतानुसार भावविवेचन करते हुए हेमचन्द्र द्वारा कृत सात्त्विक भावविवेचन में स्पष्ट किया जा चुका है। अभिनवगुप्त को भी स्तम्भस्वेदादि के बाह्य एव आन्तर दोनों स्वरूप अभिप्रेत हैं। इसका सकेत उन्होंने रौद्र रस के स्वेद, वेपथु रोमाच आदि भावों का विवेचन करते हुए दिया है। वहाँ उन्होंने स्वेदादि को बाह्य तथा आभ्यन्तर दोनों प्रकार का बतलाया है।[2]

धनञ्जय ने जो भाव की व्याख्या प्रस्तुत की है है वह प्राचीन आचार्यों से भिन्न है। प्राचीन आचार्यों ने 'नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसानिमान्' इस उक्ति से रसभावना कराने वाली चित्तवृत्तियों को तथा 'कवेरन्तर्गत भाव भावयन् भाव उच्यते' इस उक्ति से कविहृदयस्थ रागादिभाव की भावना कराने वाली चित्तवृत्तियों को भाव बतलाया है। किन्तु धनञ्जय ने अनुकार्य में निबध्यमान सुखदु — खादि भावों से सहृदय के चित्त को भावित करने वाली चित्तवृत्ति को भाव बतलाया है। तथापि प्राचीन आचार्यों ने 'भावात्मक काव्यम्, भावात्मकोऽभिनय.' इस रूप में काव्यपरक व अभिनयपरक भावशब्द की व्याख्या प्रस्तुत की है और काव्य में रस-

भावकत्व तथा अभिनय में कविहृदय-भावकत्व स्पष्ट सिद्ध है। किन्तु धनञ्जय ने रसिकसमवेत भावकत्व की व्याख्या प्रस्तुत की है, अतः इस दृष्टिकोण के भेद से दोनों की परिभाषाओं में भेद होना स्वाभाविक है। इसी तथ्य को धनिक[1] तथा सुदर्शनाचार्य[2] ने स्पष्ट किया है।

रामचन्द्र गुणचन्द्र

नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र ने यद्यपि भाव-सामान्य की कहीं पृथक् से परिभाषा नहीं दी है तथापि प्रथम विवेक के चालीसवें पद्य[3] की स्वोपज्ञ टीका में 'नानाभावाः' की व्याख्या करते हुए 'नाना विचित्राः भावाः स्थायिव्यभिचारिसात्त्विकाः' इस उक्ति के द्वारा स्थायी, व्यभिचारी व सात्त्विक भेद से भरत की तरह उनचास भावों का ही भावशब्द से ग्रहण करना उनको अभिप्रेत प्रतीत होता है। इसीलिए 'वृत्तिरसभावाभिनयविचारनामक' तृतीय विवेक में वृत्ति तथा रसनिरूपण के पश्चात् प्रसगप्राप्त भावों का निरूपण करते हुए भी स्थायी, व्यभिचारी व सात्त्विकों का ही निरूपण किया है न कि विभावों तथा अनुभावों का। और इनके निरूपण के पश्चात् ही वाचिकादि अभिनयों का विवेचन किया है।

वस्तुतः स्थायी आदि चित्तवृत्तियाँ ही रसों को, कविहृदयगत भावों को तथा सहृदय-चित्त को भावित करती हैं। अतः इनको भावित करने वाली स्थायी आदि चित्तवृत्तियाँ ही भाव हैं, इस भाव के लक्षण में किसी प्रकार का परस्पर भेद नहीं है, चाहे वे चित्तवृत्तियाँ रस को भावित करें या कविहृदयगत भावों को या सहृदयचित्त को। उपर्युक्त रीति से भरत से पूर्व तथा भरत से लेकर धनञ्जय आदि सभी ने भाव का यही स्वरूप माना है।

ऐसा प्रतीत होता है कि भरत नाट्यशास्त्र के आधार पर नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का निरूपण करने वाले लेखकों ने भरत के अनुसार भावसामान्य का ही

---

१. यत्तु रसान्भावयन् भाव इति कवेरन्तर्गतं भावं भावयन् भाव इति च तदभिनयकाव्ययोः प्रवर्तमानस्य भावशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्तकथनम्। —दशरूपक के चतुर्थप्रकाश के पद्य की अवलोक टीका।

२. यत्तु स्वया हि भावकत्वेन रसा भावनाद्भावकत्वं भावस्योक्तम्, प्राचीनैस्तु 'रसान् भावयन् भावः' 'कवेरन्तर्गतं भावं भावयन्भावः' इत्येव रसभावकत्वेन कविहृदयभावकत्वेन च भावस्य भावकत्वमुक्तमिति प्राचीनैर्विरोधः प्राप्तः इत्याशङ्क्याह—यत्त्विति। मया हि रसिकसमवेतभावपदस्यार्थ उक्तः, प्राचीनानां तद्भावपदार्थाभिधानं तु भावात्मकं काव्यम् भावात्मकोऽभिनय इत्येव काव्याभिनययोः प्रवर्तमानस्य बोधकस्य भावस्यास्तीति विषयभेदान्न विरोधः। काव्यस्य रसभावकत्वं, अभिनयस्य च कविहृदयभावकत्वं सुस्पष्टमेव। दशरूपक सुदर्शनाचार्यकृत प्रभाटीका पृ १२४

३. सबीजविकृतावस्था नानाभावा मुखादयः।
फलसंयोगिनो यस्मिन् क्रमो निर्वहणो ध्रुवम्॥ —ना द प्र वि. ४० का पृ १०३

निरूपण किया है तथा भरत के अनुसार स्थायी, व्यभिचारी, सात्त्विक भावों को ही भावशब्द से व्यपदिष्ट किया है। किन्तु काव्यशास्त्रीय ध्वनिपरम्परा के लेखकों ने भावसामान्य का विवेचन न करके भावध्वनि का विवेचन किया है जो कि असंलक्ष्य-क्रमव्यंग्यरूप ध्वनिकाव्य का ही एक भेद है। सम्भवतः इसीलिए अभिनवगुप्त ने जहाँ नाट्यशास्त्र की व्याख्या करते हुए अभिनवभारती में भावसामान्य का विवेचन प्रस्तुत किया है वहाँ भरत के अनुसार उनचास भावों को अंगीकार किया है। और जब ध्वनिकार आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक की व्याख्या प्रस्तुत की है, जो कि ध्वनि-सम्प्रदाय का प्रधान ग्रन्थ है, वहाँ भावध्वनि का विवेचन करने के कारण प्रधानतया व्यज्यमान व्यभिचारी भावों को ही भावशब्द से व्यपदिष्ट किया है।[1] यहाँ यद्यपि अभिनवगुप्त ने भावध्वनि शब्द का प्रयोग न कर भावशब्द का प्रयोग किया है तथापि यहाँ रसभावादि ध्वनि का निरूपण होने से भावशब्द भावध्वनि का ही बोधक है। इसीलिए द्वितीय उद्योत में 'जब व्यभिचारी भाव उद्रिक्त अवस्था को प्राप्त होकर चमत्कारातिशय का प्रयोजक (कारण) होता है, तब भावध्वनि होती है इस रूप से भावध्वनि शब्द का व्यवहार किया है।[2] ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन ने भी—

'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥[3]

इस कारिका के द्वारा प्रधानतया प्रतीयमान रसभावादि को अलक्ष्यक्रम ध्वनि कह कर उसे ध्वनि का प्रकारभेद ही सिद्ध किया है।

अभिनवगुप्त ने भी इस कारिका की व्याख्या करते हुए भावध्वनि व रसा-भासादि ध्वनियों को रसध्वनि का ही निष्यन्द बतलाया है और कहा है कि आस्वाद में प्रधान प्रयोजक स्थायी, व्यभिचारी आदि अंशों के भेद से रसध्वनि, भावध्वनि व आभासध्वनि आदि भिन्न भिन्न व्यवहार हो गये हैं। अर्थात् औचित्येन प्रवृत्त रत्यादि स्थायिभाव जहाँ प्रधानतया चर्वणा (आस्वाद) का प्रयोजक होता है वहाँ रसध्वनि-व्यवहार होता है। व्यभिचारी भाव जहाँ प्रधानतया चर्वणा का प्रयोजक होता है वहाँ भावध्वनि-व्यवहार और अनौचित्येन प्रवृत्त रत्यादि जहाँ चर्वणा का प्रधान प्रयोजक है वहाँ रसाभास व्यवहार होता है।[4]

भाव की संख्या के विषय में दोनों प्रकार के आचार्यों में जो भेद उपलब्ध होता है उसका यही कारण है। इसीलिए विश्वनाथ ने जहाँ भावसामान्य का प्रति-

---

१ व्यभिचारिणश्चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वं भावः। —ध्वन्यालोकलोचन, पृ ७८

२ तत्र यदा कश्चिदुद्रिक्तावस्थां प्रतिपन्नो व्यभिचारी चमत्कारातिशयप्रयोजको भवति तदा भावध्वनिः। —लोचन पृ १७५

३ ध्वन्यालोक द्वितीय उद्योत कारिका ३

४. रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दाः। आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमंशं विभज्य पृथग् व्यवस्थाप्यन्ते। —ध्वन्यालोक २ उ पृ. १७९

पादन किया है वहाँ भरत के स्थायी, व्यभिचारी व सात्त्विक सभी को भावशब्द में व्यवहृत किया है[1] और जहाँ भावध्वनि का निरूपण किया है वहाँ सात्त्विक भावों का ग्रहण नहीं किया है।[2] आचार्य मम्मटकृत भावलक्षण भी वस्तुतः भावध्वनि का ही लक्षण है जिसका विवेचन आगे किया जायगा। इसीलिए उन्होंने असंलक्ष्यक्रमव्यंग्यरूप ध्वनिभेदों में ही भाव की गणना की है।

रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः ।
भिन्नो रसाद्यलंकारादलंकार्यतया स्थितः ॥ का प्र । का २६

मम्मट

मम्मट ने भावसामान्य का विवेचन न करके भावध्वनि का निरूपण किया है तथा वे प्रधानतया व्यज्यमान व्यभिचारी भावों तथा देवादिविषयक रति का ही भाव अर्थात् भावध्वनि पद से व्यपदेश करते हैं न कि सभी स्थायी भावों व सात्त्विक भावों का। क्योंकि स्तम्भस्वेदादि, आन्तरिक प्राणभूमि को प्राप्त चित्तवृत्तियाँ कभी प्रधानतया व्यक्त नहीं होतीं। जब वे व्यक्त होती हैं तब सात्त्विक भावस्वरूप से हटकर शुद्ध चित्तवृत्तियाँ कहलाती हैं और विभिन्न रसों के रूप में परिणत हो जाती हैं। इसी प्रकार हासादि स्थायी चित्तवृत्तियाँ भी परिपुष्ट होने पर रस बन जाती हैं तथा अपरिपुष्ट होने पर व्यभिचारी कहलाती हैं, न कि स्थायी भाव या भावध्वनि। इसीलिये हेमचन्द्र ने बतलाया है कि स्थायी भाव जब अल्पविभावों से जन्य होते हैं अर्थात् अपरिपुष्ट होते हैं तब व्यभिचारी कहलाते हैं जैसे सीता-विषयक रावण की रति तथा वीर व शृंगार में गुरु व प्रियतमाविषयक क्रोध व्यभिचारी ही होता है न कि स्थायी। अतः अपरिपुष्ट हासादि भावों को भी भावध्वनि नहीं माना जा सकता। केवल गुरुदेवादिविषयक रति ही इस प्रकार का स्थायी भाव है जो बहुविभावजन्य अतएव परिपुष्ट होने पर भी रसरूप में परिणत *नहीं होता अतः यह भावध्वनि की श्रेणी में आता है।* इसलिये प्रधानतया व्यज्यमान तेंतीस व्यभिचारी भाव एवं देवादिविषयक रति ये चौंतीस ही भावध्वनि कहलाते हैं। इसलिये मम्मट ने—

'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः । भावः प्रोक्तः'।[3]

इस सूत्र द्वारा इन चौंतीस को ही भाव माना है न कि अन्य स्थायी व सात्त्विकादि भावों को।

---

१. नानाभिनयसम्बद्धान् भावयन्ति रसान् यतः ।
तस्माद् भावा अमी प्रोक्ता स्थायिसंचारिसात्त्विकाः ॥— *सा. द तृ. प, पृ १६७-१६८*

२. संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।
उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥ —सा द तृ. प., पृ १९७

३. का. प्र. ४ उल्लास पृ. ११८ *(वामन झलकीकर वाला संस्करण)*

काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्दठक्कुरादि[१] ने मम्मटोक्त भावलक्षण में रति को अपरिपुष्ट स्थायी भावों का तथा देवादिविषयक पद को अप्राप्तरसावस्थ स्थायी का द्योतक मानकर देवादिविषयक पुष्ट और अपरिपुष्ट रति तथा कान्ताविषयक अपुष्ट रति की भाव में गणना की है, किन्तु मम्मट को यह अभिप्रेत नहीं है। उन्होंने स्पष्टरूप से देवादिविषयक रति को ही भाव माना है न कि अन्य अपुष्ट स्थायी भावों को। उनके दिये हुए उदाहरणों के द्वारा भी इसी तथ्य की पुष्टि होती है। अतः टीकाकारों की यह कल्पना भ्रान्त प्रतीत होती है। यदि मम्मट को रति शब्द से अपुष्ट स्थायी भाव अभिप्रेत होते तो वे वृत्ति में इनका अवश्य उल्लेख करते। दूसरी बात यह है कि यहाँ भावध्वनि का निरूपण किया गया है जो कि रस के समकक्ष है। जिस प्रकार रस में रस्यमानता या आस्वाद्यमानता है उसी प्रकार भावध्वनि आदि में भी। इसीलिए रस की तरह उनको भी असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य माना गया है। अपरिपुष्ट रति या अप्राप्तरसावस्थ स्थायी भावों को भावध्वनि नहीं माना जा सकता क्योंकि अपरिपुष्ट दशा में न उनमें एकघन-चमत्काररूप रस्यमानता ही रहती है और न उस दशा में उन्हें प्रधानतया व्यंग्य ही कहा जा सकता है। देवादिविषयक रति तथा कान्ताविषयक रति में कोई अन्तर नहीं। दोनों ही विभावादि से परिपुष्ट होती हैं तथा प्रधानतया व्यंग्य होती हैं। किन्तु कान्ताविषयक रति रस कहलाती है और देवादिविषयक रति भाव। इसमें केवल स्वतन्त्रेच्छ भरतमुनि ही प्रमाण हैं। उन्होंने कान्ताविषयक रति को शृंगार तथा देवादिविषयक रति को भाव बतलाया है। अतः ऐसा ही व्यवहार माना जाता है किन्तु उनमें विभावादि से परिपुष्टता में कोई अन्तर नहीं है इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने भगवद्रूप आलम्बन विभाव से उत्पन्न, रोमांचादि अनुभावों से प्रतीयमान, हर्षादि व्यभिचारियों से परिपोषित भगवद्भक्तों के द्वारा अनुभूयमान भक्ति को भी रस मानना चाहिए यह शंका उपस्थित करके यही समाधान दिया है कि मुनि ने देवादिविषयक रतिरूप भक्ति को भाव माना है अतः इसे रस नहीं माना जा सकता।[२]

---

१. रतिरिति सकलस्थायिभावोपलक्षणम्। देवादिविषयेति अप्राप्तरसावस्थोपलक्षणम्। अतः देवादिविषया सर्वप्रकारा, कान्तादिविषयाप्यपुष्टा रतिः, हासादयश्च अप्राप्तरसावस्थाः विभावादिभिः प्राधान्येन व्यञ्जितो व्यभिचारी च भावशब्दाभिधेयः।

—का. प्र. प्रदीप पृ. १२६

२. अथ कथमेत एव रसाः—भगवदालम्बनस्य रोमांचाश्रुपातादिभिरनुभावितस्य हर्षादिभिः परिपोषितस्य भागवतादिपुराणश्रवणसमये भगवद्भक्तैरनुभूयमानस्य भक्तिरसस्य दुरपह्नवत्वात्। भगवदनुरागरूपा भक्तिश्चात्र स्थायिभावः। इष्यते सर्वैर्देवादिविषयरतिस्त्वत्र भावान्तर्गततया रसत्वानुपपत्तेः। 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः' इति हि प्राचां सिद्धान्तात्। न च तर्हि कामिनीविषयाया अपि रतेर्भावत्वमस्तु रतित्वाविशेषात्। अस्तु वा भगवदालम्बनस्य रसादित्वम्, कामिन्यादिरतीनां च भावत्वम्, विनिगमकाभावादिति वाच्यम्। भरतादिमुनिवचनानामत्रार्थे रसभावादिव्यवस्थापकत्वेन स्वातन्त्र्यात्। अन्यथा पुत्रादिविषयाया अपि रतेः स्थायिभावत्वं कुतो न स्यात्।

—र. ग., पृ. ५५-५६

जगन्नाथ ने इस सदर्भ मे बतला दिया है कि देवादिविषयक जिस रति को भाव कहा गया है वह विभावादि से परिपुष्ट ही है न कि अपरिपुष्ट। अन्यथा वे उसके अपरिपुष्ट होने से उसे कदापि भक्तिरस कहने का साहस न करते। और 'हर्षादिभिः परिपोषितस्य' इस वाक्यांश द्वारा उसे परिपुष्ट न बतलाते। इसी प्रकार मम्मट ने भी भाव के जो 'कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते' इत्यादि उदाहरण दिये हैं वहाँ भी स्थाणुविषयक रति विभावादि से परिपुष्ट ही है जैसा कि श्री वामनाचार्य झलकीकर ने स्पष्ट किया है।[1]

मम्मट के भावसूत्र मे 'देवादिविषय' पद को अप्राप्तरसावस्थ अर्थात् अपरिपुष्ट स्थायिभाव का बोधक मानने पर विभावादि से अपरिपुष्ट स्थायिभावो मे भी भावध्वनित्व की प्रसक्ति होगी। क्योंकि यहाँ भावशब्द से भावध्वनि का ग्रहण है न कि भावसामान्य का। ऐसी स्थिति मे उनमे एकघन चमत्कार न होने से रसो की तरह अलक्ष्यक्रमता न रहेगी। जब कि रसभावादि सभी ध्वनियों को आनन्दवर्धन आदि ने असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि माना है। मम्मट की 'कान्ताविषया तु व्यक्ता शृङ्गार' इस उक्ति का यह अर्थ है कि कान्ताविषयक व्यक्त रति शृङ्गार है तथा देवादिविषयक व्यक्त रति भाव है।

ऐसा प्रतीत होता है कि आचार्य भरत ने भावाध्याय मे भावसामान्य का विवेचन किया है न कि भावध्वनि का। नाट्यशास्त्र के आधार पर नाट्यशास्त्रीय तत्त्वो का विवेचन करने वाले धनञ्जय शारदातनय रामचन्द्र गुणचन्द्र आदि ने भी भावसामान्य का ही विवेचन किया, भावध्वनि का नही। किन्तु ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन, मम्मट, पण्डितराज जगन्नाथ आदि ने ध्वनिसिद्धान्त की स्थापना के अवसर पर ध्वनिकाव्य के भेदो की विवेचना करते हुए भावसामान्य का विवेचन न कर भावध्वनि का निरूपण किया। तदनुसार ही 'रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जित । भाव प्रोक्त' इस रूप से मम्मट ने भावध्वनि का लक्षण प्रस्तुत किया। किन्तु—

'रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रम ।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थित ॥'

इस कारिका मे रस, भाव आदि शब्दो द्वारा रसादिध्वनि, भावध्वनि का व्यपदेश होने से भावध्वनि के लक्षण मे केवल भावशब्द का ही प्रयोग किया। मम्मटादि आचार्यों को यहाँ भाव शब्द से भावध्वनि ही अभिप्रेत है। किन्तु टीकाकारो ने इसे आचार्य भरतादि की तरह भावसामान्य का बोधक समझ लिया। इसलिए उन्होने उपर्युक्त रीति से रति को अपरिपुष्ट स्थायिभाव का उपलक्षण मान कर इस भावसूत्र की व्याख्या की। किन्तु जैसा ऊपर बतलाया जा चुका है यहाँ भावशब्द भावसामान्य का बोधक न होकर भावध्वनि का बोधक है। अत इत्यादि

[1] अत्र महादेव आलम्बनम्। ईश्वरप्रणिधानादिजन्यविमर्शमुद्दीपनम्। रोमाञ्चानुभाव। धृति-माहात्म्यस्मरणादयो व्यभिचारिण। एवंविधैरेव विभावादिभिर्व्यञ्जिता भगवद्विषया रति-भाव इति वाच्यम्। —बा बो पृ ११९

को अपरिपुष्ट स्थायिमात्र का उपलक्षण मानने की आवश्यकता नहीं है। विश्वनाथ ने भावध्वनि के लक्षण के प्रसंग में भी इन्हीं टीकाकारों की व्याख्या के आधार पर भावसामान्य का ही लक्षण प्रस्तुत किया।

वस्तुतः जैसे रसाभासादि स्थलों में प्रारम्भ में रति का एकघनचमत्कारस्प आस्वाद होने पर भी पश्चात् (उत्तरकाल में) विभावादि के अनौचित्य के कारण उन रसाभासादि की संज्ञा दी गई है उसी प्रकार देवादिविषयक रति में भी प्रारम्भ में सहृदय का साधारणीकरण के द्वारा रस की तरह एकघनचमत्कारस्प आस्वाद होता है पश्चात् उत्तरकाल में देवादि में आराध्यत्वादि बुद्धि के कारण उसे रससंज्ञा से अभिहित न कर भावसंज्ञा से व्यवहृत किया जाता है क्योंकि आराध्यविषयक अनुराग को लोक में भक्ति भाव, श्रद्धा आदि शब्दों से अभिहित करते हैं।

शारदातनय

भावप्रकाशनकार शारदातनय ने भाव शब्द का प्रयोग विभाव, अनुभाव, स्थायी, संचारी तथा सात्त्विक इन पाँचों तत्त्वों में किया है[1] किन्तु उन्होंने भावशब्द की व्याख्या 'भावयन्ति इति भावाः' ही नहीं की है अपितु 'भवन्ति इति भावाः' यह व्याख्या भी स्वमतानुसार मानी है। और इस व्यापक व्युत्पत्ति को मानने पर भाव में चित्तवृत्तियों (मानस विकारों) के अतिरिक्त पदार्थ, क्रिया, सत्ता आदि सभी आ सकते हैं। पदार्थों तथा क्रियाओं को भी भावशब्द से गृहीत करने पर विभावों व अनुभावों में भी भावपदवाच्यता होना स्वाभाविक है। शारदातनय द्वारा भाव शब्द का व्यापक अर्थ में ग्रहण करना उचित भी है क्योंकि वे रसोपयोगी सभी तत्त्वों का विवेचन भाव के अन्तर्गत ही करते हैं। सम्भवतः इसीलिए उन्होंने ग्रन्थ का नाम भी भाव-प्रकाशन रखा है।

विश्वनाथ

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने भी गोविन्दठक्कुरादि टीकाकारों की तरह प्राधान्येन अभिव्यक्त व्यभिचारी भाव, देवादिविषयक रति, विभावादिविषयों से अपरिपुष्ट होने के कारण रसरूपता को प्राप्त न होने वाले उद्‌बुद्धमात्र स्थायी भावों को भाव शब्द से व्यपदिष्ट किया है। जैसे—

> "संचारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः।
> उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥"[2]

---

1. 'सत्त्वं स्याद्भावनं भूतिस्तु भावयतीति वा।
   पदार्थो वा क्रिया, सत्ता, विकारो मानसोऽथवा।
   विभावश्चानुभावश्च स्थायिनो व्यभिचारिणः।
   सात्त्विकाश्चेति कथ्यन्ते भावभेदाश्च पञ्चधा॥'
   भावप्रकाशन गा. ओ. सी., १९३० — पृ ३-४
2. सा. द. ३. प. पृ १२८ का २६१

"यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणो भावा देवमुनिगुरुनृपादिविषया च रतिरुद्बुद्धमात्रा, विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्या ।"[1]

किन्तु वे इस लक्षण को प्रस्तुत करते हुए इस बात को भूल जाते हैं कि यहाँ ध्वनिकाव्यभेदप्रसंग में भावध्वनि का लक्षण बतलाना चाहिए न कि भाव-सामान्य का।

पं. जगन्नाथ

पण्डितराज जगन्नाथ ने "विभावादिव्यज्यमानहर्षाद्यन्यतमत्व भावत्वम्" यह भाव का लक्षण किया है। अर्थात् विभाव अनुभाव से व्यक्त हर्ष, स्मृति आदि में से अन्यतम तत्त्व ही भाव है। और हर्षादि तेंतीस व्यभिचारी भाव तथा चौतीसवाँ देवादिविषयक रतिभाव इन्हीं को भावध्वनि माना है। अपरिपुष्ट अत एव रसावस्था को अप्राप्त स्थायी भावों को नहीं।

हर्षादि की अभिव्यक्ति पंडितराज ने स्थायिभावन्याय से बतलाई है[2] अर्थात् जैसे सामाजिक के हृदय में वर्तमान स्थायिभावों की विभावादि से अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार सामाजिक के हृदय में वर्तमान हर्षादि भावों की भी विभावादि से अभिव्यक्ति होती है। अन्तर इतना ही है कि रत्यादि स्थायी भावों का बार बार अभिव्यक्ति होती रहती है न कि व्यभिचारिभावों की। इसीलिए अनभिव्यक्त दशा में भी स्थायिभावों की स्थिति सामाजिकहृदय में वासनारूप से मानी जाती है और हर्ष आदि व्यभिचारी भावों की ऐसी स्थिति नहीं। वे अभिव्यक्ति कालपर्यन्त स्थित रहते हैं पश्चात् नष्ट हो जाते हैं। फिर भी उनकी स्थिति अनुद्बुद्ध रूप में हृदय में रहती ही है।

वासनारूपाणाममीषां मुहुर्मुहुरभिव्यक्तेरेव स्थिरपदार्थत्वात् । व्यभिचारिणां तु नैव तदभिव्यक्तेर्विद्युदुद्योतप्रायत्वात् ।"

—रसगंगाधर, काव्यमाला, पृ० ३०-३१

पण्डितराज ने व्यभिचारिभावों से स्थायिभावों का भेद करने के लिए एक प्राचीन पद्यमय परिभाषा को भी उद्धृत किया है कि स्थायिभाव चिरकाल तक स्थिति पाते हैं जब कि व्यभिचारिभावों की चिरकाल तक स्थिति नहीं होती। वह श्लोक निम्नलिखित है—

> चिरं चित्तेऽवतिष्ठन्ते सम्बध्यन्तेऽनुबन्धिभिः ।
> रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते ॥[1]

इस परिभाषा में 'चिरम्' पद व्यभिचारिभावों की व्यावृत्ति के लिये है।

भावप्रकाशनकार शारदातनय ने भी स्थायिभावों तथा व्यभिचारी भावों के लक्षणों में "अवस्थितश्चिरं चित्ते" इस वाक्य के द्वारा तथा "अनवस्थितजन्मानो भूयोभूयः स्वभावतः" इस वाक्य के द्वारा इसी तथ्य की अभिव्यक्ति की है।[2]

व्यभिचारी भावों की स्थायिभावन्याय से अभिव्यक्ति भी रसगंगाधरकार ने दो रूप में बतलाई है—रसादिन्याय से तथा व्यङ्ग्यान्तरन्याय से।

रसादिन्याय का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार रसादि की अभिव्यक्ति असंलक्ष्य-क्रमरूप से होती है। अर्थात् वहां व्यंजक विभावादि तथा व्यङ्ग्य रसादि में पौर्वापर्य-क्रम के होने पर भी अतिलाघव (अतिशीघ्रता) के कारण उस क्रम की प्रतीति नहीं होती। और व्यङ्ग्यान्तरन्याय का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वस्तु तथा अलंकार-रूप व्यङ्ग्य में, वाच्यरूप व्यंजक में तथा व्यङ्ग्यरूप वस्तु व अलंकार में क्रम की प्रतीति होती है उसी प्रकार व्यंजक विभावादि तथा व्यङ्ग्य व्यभिचारिभावों में पौर्वापर्यक्रम की स्पष्ट प्रतीति होती है। इसी को रसगंगाधरकार ने—"सापि रसादिन्यायेनेति केचित्।[3] 'व्यङ्ग्यान्तरन्यायेनेत्यपरे'[4] इन वाक्यों के द्वारा बतलाया है। पण्डितराज ने 'सापि रसादिन्यायेन' में 'सापि' पद के द्वारा यह स्पष्ट कर दिया है कि व्यभि-चारिभावों की स्थायिभावन्याय से जो अभिव्यक्ति होती है, वह दो प्रकार की है।

१. रसगंगाधर पृ० ३९

२. अवस्थितश्चिरं चित्ते सम्बन्धान्यानुबन्धिभिः ।
   वर्धिता य रसास्वादरूपा स्थायिनो बुधैः ॥
   अनवस्थितजन्मानो भूयो भूयः स्वभावतः ।
   स्थायिनो रसनिष्पत्तौ कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ॥

—भा० प्र० गायकवाड़ ओरियण्टल सीरिज १९३०, पृ० ८

३. रसगंगाधर पृ० ७५

४. रसगंगाधर पृ० ७६

पण्डितराज ने 'रसादिन्यायेनेति केचित्' इस पूर्व मत में केचित् पद का उपादान कर अरुचि बतलाई है। क्योंकि व्यभिचारिभावस्थल में व्यञ्जक विभावो तथा व्यंग्य हर्षादि भावों में पौर्वापर्यक्रम की स्पष्ट प्रतिपत्ति होती है। अत. रसादि की तरह असंलक्ष्यक्रमरूप से उनकी अभिव्यक्ति नहीं होती।

यहाँ रसगगाधर के टीकाकार पडित बदरीनाथ झा ने जो उपर्युक्त पंक्ति की व्याख्या की है, वह सर्वथा भ्रान्त है। उन्होंने 'हर्षादीना सामाजिकगतानामेव स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्ति.' को प्रथम मत "सापि रसन्यायेनेति केचित्" को द्वितीय मत और *"व्यग्यान्तरन्यायेनेति अपरे मन्यन्ते" को तृतीय मत माना है।*[1] जबकि वस्तुस्थिति यह नही है। जिसको प्रथम मत बनाया गया है वह कोई मत नहीं है। उसमे तो पण्डितराज ने केवल यही बताया है कि जैसे सामाजिक के हृदय में वासनारूप से विद्यमान स्थायी भावों की विभावानुभावादि से अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार सामाजिक के हृदय मे वासनारूप से विद्यमान हर्षादि व्यभिचारी भावो *की भी विभावादि से अभिव्यक्ति होती है। स्थायी भावो की तरह व्यभिचारी भाव* भी वासनारूप से सामाजिक में रहते है इसका निरूपण पंडितराज ने पहले रसप्रकरण में कर दिया है। इस प्रकार स्थायिभावन्याय से व्यभिचारिभावों की अभिव्यक्ति होती है यह एक निश्चित सिद्धान्त है। यहा पर भी उन्होंने "सामाजिकगतानामेव हर्षादीनां" इस उक्ति से इसी तथ्य को स्पष्ट किया है। अतः स्थायिभावन्याय से *व्यभिचारिभावो की अभिव्यक्ति पण्डितराज निश्चित सिद्धान्त के रूप मे मानते हैं।* इसीलिये उन्होंने स्थायिभावन्याय शब्द का प्रयोग किया है और अभिव्यक्ति शब्द भी इसी तथ्य को व्यक्त करता है क्योंकि अभिव्यक्ति पूर्वसिद्ध वस्तु की ही होती है न कि अपूर्व वस्तु की।

व्यभिचारिभावों की स्थायिभावन्याय से यह अभिव्यक्ति भी दो प्रकार से हो सकती है—रसादिव्यग्य की तरह असलक्ष्यक्रमव्यग्यरूप से तथा वस्तु व अलकाररूप व्यग्य की तरह सलक्ष्यक्रमव्यंग्यरूप से। अतः व्यभिचारी भावों की अभिव्यक्ति मे केवल दो मत हैं जिनका उपर विवेचन किया जा चुका है।

झा महोदय ने "स्थायिभावन्यायेनाभिव्यक्तिः" *की व्याख्या* करते हुए जो यह लिखा है[2] कि जिस प्रकार स्थायी भावों की स्थिर अभिव्यक्ति होती है उसी प्रकार प्रधानता को प्राप्त करते हुए हर्षादि भावो की भी स्थिर ही अभिव्यक्ति होती है,

१. अधुना हर्षादिभावानामभिव्यक्ति मतत्रयभेदेन क्रमात् त्रिविधां दर्शयन् प्रथमं सिद्धान्तमनेन दर्शयति-हर्षादीना चेति।

—रसगगाधर की चन्द्रिका टीका, चौखम्बा प्रकाशन पृ. २६९

२. वासनारूपेण सामाजिकाना हृदये स्थितानां काव्यनाट्योपस्थापितैर्विभावैर्विभावैश्च भावैरनभिभूतानां स्थाभिव्यक्तिसामग्र्या यथा स्थायिभावानां स्थिराऽभिव्यक्तिः, तथैव *प्राधान्यमुपलभमानानां हर्षादीनामपि स्थिरैवाभिव्यक्तिरिति।*

—रसगगाधर चन्द्रिका टीका पृ. २६९

की परिभाषा मे कर दिया है । अधिकाश भावो के लक्षण मे तो उन्होने चित्तवृत्ति शब्द का ही प्रयोग किया है जैसे व्रीडा, धृति, मोह, शका, दैन्य, चिन्तादि के लक्षणो मे । शेष भाव-लक्षणो मे चित्तवृत्ति शब्द का प्रयोग न करने पर भी ज्ञानरूपता, सुखरूपता, दु.खरूपता, खेदरूपता, चैत सम्मीलनरूपता, इच्छारूपता तथा आन्तरिक प्रयत्नरूपता के द्वारा उनकी चित्तवृत्तिरूपता को स्पष्ट कर दिया है ।[1] भारतीय दर्शन, ज्ञान, सुख, दु ख, इच्छा, यत्न, स्मृति, लज्जा, भयादि सभी को मनोधर्म या चित्तवृत्तिरूप मानते है । इसलिये ऐतरेयोपनिषद् मे इन सभी को मन ही बतलाया गया है ।[2] ज्ञानादि के मन का धर्म होने पर भी उपनिषद् मे जो मनोरूपता बतलाई गई है वह धर्म धर्मी के अभेदसिद्धान्त को मानकर बतलाई गई है । किन्तु वे वस्तुत मन के धर्म ही हैं इसलिये पाश्चात्य मनोवैज्ञानिको ने जो यह प्रश्न उठाया है कि 'मद, श्रम, निद्रा, व्याधि, मरण, जडता, अपस्मार आदि भाव चित्त-वृत्तिरूप नही है अपितु उस भाव के कारण तथा उसके परिणामस्वरूप होने वाली *शारीरिक प्रतिक्रियाओ का निर्देशमात्र है' यह कथन सङ्गत नही है* । फिर भी दो एक भावो के लक्षण इस प्रकार के है जिनके देखने से उनकी चित्तवृत्तिता प्रतीत नही होती । जैसे आलस्य तथा अपस्मार भाव । आलस्य का लक्षण पण्डितराज ने 'अतितृप्तिगर्भव्याधिश्रमादिजन्या चेतस क्रियाऽनुन्मुखता आलस्यम्' किया है । यहा व्याध्यादिजन्य, चित्त की क्रियाओ मे उन्मुखता के अभाव को आलस्य बताया है और अभाव किसी भी प्रकार चित्त की वृत्ति नही है । तथापि जिस प्रकार बाह्य *क्रिया मे प्रवृत्ति या उन्मुखता का कारण मन का आन्तरिक प्रयत्न है । आन्तरिक* प्रयत्न के बिना तथा आन्तरिक इच्छा के बिना इन्द्रियो तथा शरीरादि की क्रियाओ मे प्रवृत्ति नही होती । उसी प्रकार शारीरिक क्रियाओ मे अनुन्मुखतारूप अप्रवृत्ति भी मन के आतरिक प्रयत्न से ही होती है अत वहा वह क्रियाओ के प्रति अनुन्मुखता भी चित्त की ही वृत्ति है । इसीलिये पण्डितराज ने क्रियाओ मे शरीर की अनुन्मुखता को आलस्य न बताकर चित्त की अनुन्मुखता को आलस्य माना है । इसी प्रकार यद्यपि *अपस्मार का लक्षण पण्डितराज ने 'वियोगशोकभयजुगुप्सा-दीनामतिशयात् ग्रहावेशादेश्च उत्पन्नो व्याधिविशेषोऽपस्मार.'* इस प्रकार से किया है । यहा वियोगादि मे उत्पन्न व्याधिविशेष को ही अपस्मार बतलाया है और व्याधि

---

१. 'इष्टप्राप्त्यादिजन्मा सुखविशेषो हर्ष ' 'संस्कारजन्य ज्ञान स्मृति ' 'आधिव्याधिजन्यबाह्यहानि-प्रभवो वैवर्ण्यशिथिलांगत्वश्वासप्रमुखाद्धेतु दु खविशेषो ग्लानि ' 'रत्नरतशारीरव्यायामजन्मा निश्वासाङ्गमर्दनिद्रादिकारणीभूत खेदविशेष श्रम ' 'श्रमादिप्रयोज्य चैत सम्मीलन निद्रा' 'शास्त्रादिविचारजन्य अर्थनिर्धारण मति ' 'रोगविरहादिप्रभवो मनस्तापो व्याधि ' 'निद्रा-विभावोत्थ ज्ञान सुप्तम्' 'निद्रानाशोत्तर जायमानो बोधो विबोध ' 'रोगादिजन्या मूर्च्छा-रूपा मरणप्रागवस्था मरणम् ।' —र. ग. भावविवेचनप्रकरण

२. यदेतत् हृदय मनश्चैतत् । सज्ञानमाज्ञान विज्ञान प्रज्ञान मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूति स्मृति सकल्प इत्यादि । —ऐ० उ० अध्याय ३

शारीरिक ताप होता है न कि मानसिक ताप। अतः इस लक्षण से अपस्मार की चित्तवृत्तिता प्रतीत नहीं होती। तथापि इस अपस्मार के जो शोकादि कारण बतलाये गये हैं वे सब चित्तवृत्तिरूप हैं और उनसे प्रथम शारीरिक अपस्मार को पैदा करने वाली आन्तरिक व्याधि उत्पन्न होती है और उसके परिणामस्वरूप शारीरिक व्याधि उत्पन्न होती है जो कि उस आन्तरिक व्याधि का ही बाह्य प्रकाशन है। इस प्रकार अपस्मार की चित्तवृत्तिता भी सिद्ध हो जाती है। इस तथ्य की पुष्टि विश्वनाथ तथा धनञ्जयकृत अपस्मार के लक्षण से हो जाती है। विश्वनाथ ने अपस्मार का लक्षण ग्रहावेशादिजन्य मनःक्षेप को बतलाया है। मनःक्षेप मन का घूर्णन है जो कि चित्तवृत्तिरूप ही है। धनञ्जय ने भी ग्रहदुःखादिजन्य आवेश को अपस्मार माना है जो स्पष्टतया मन की ही दशा है। पण्डितराज ने एक दो भावों को छोड़कर सभी भावों की चित्तवृत्तिरूपता को अत्यन्त स्पष्ट रूप से व्यक्त किया है। अन्य आचार्यों ने भी भावों की चित्तवृत्तिता को प्रायः स्पष्ट रूप से ही व्यक्त कर दिया है। अतः डा. गुप्त की यह मान्यता कि 'धनञ्जय तथा साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ के भावलक्षणों में शरीरपक्षीयता ही अधिक उभरी प्रतीत होती है तथा इन आचार्यों ने भावों की अनिवार्य चित्तवृत्तिरूपता पर ध्यान नहीं दिया' यह आक्षेप अविचारित निराधार है क्योंकि धनञ्जय व विश्वनाथ द्वारा कृत भावों के लक्षण को देखने से उनकी चित्तवृत्तिता स्पष्ट प्रतीत होती है। हम यहाँ पर जिन भावों की चित्तवृत्तिता में लोगों को भ्रान्ति है उन्हीं भावों के विश्वनाथ तथा धनञ्जयकृत लक्षणों के द्वारा इस तथ्य की परीक्षा करेंगे।

भाव	धनंजय	विश्वनाथ
१ मद	हर्षोत्कर्षो मदः पानात् स्खलदङ्गवचोगतिः।	सम्मोहानन्दसम्भेदो मदो मद्योपयोगजः।
२ श्रम	श्रमः खेदोऽध्वरत्यादेः स्वेदोऽस्मिन् मर्दनादयः।	खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृत् श्रमः।
३ स्वप्न	सुप्तं निद्रोद्भवं तत्र श्वासोच्छ्वासक्रिया परम्।	स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः।
४ निद्रा	मनःसम्मीलनं निद्रा चिन्तालस्यक्लमादिभिः।	चेतःसम्मीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजा।
६ अपस्मार	आवेशो ग्रहदुःखाद्यैरपस्मारो यथाविधिः।	मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः।
५ जडता	अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।	अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः।

इन लक्षणों को देखने से उपर्युक्त भावों की चित्तवृत्तिता स्पष्ट प्रतीत होती है। केवल व्याधि, निर्वेद, अवहित्था और मरण ये चार व्यभिचारी भाव

ऐसे बचते हैं जिनकी चित्तवृत्तिरूपता धनंजय और विश्वनाथ के लक्षणों में स्पष्ट प्रतीत नहीं होती। किन्तु काव्यानुशासनकार हेमचन्द्र ने इनकी भी चित्तवृत्तिता स्पष्ट कर दी है। जैसे— 'विरहादेर्मनस्तापो व्याधिर्मुखशोषादिकृत्'[1] 'शब्दादेः प्रबोधो जृम्भादिकृत्' शब्दस्पर्शस्वप्नान्तस्वप्नजागरणनिद्राच्छेदाहारपरिणामादिभ्यो विनिद्रत्वं प्रबोधः[2] लज्जाधार्ष्ट्यभयगौरवादिभ्यो भ्रूविकारमुखरागादीनामाच्छादन-कारिणी चित्तवृत्तिरवहित्थमवहित्था या न बहिः स्थं चित्तं यत इति पृषोदरादित्वात् सस्य त[3] 'व्याध्यभिघाताभ्यां मृतिर्हिक्कादिकृत्' व्याधिर्ज्वरादिः प्रतीत सर्पविषशस्त्रगजादिसम्भवः अभिघातः ताभ्यां मृतेः प्रागवस्था मृतिः, साक्षात् मृतौ अनुभवाभावात्[4] इति।

उपर्युक्त लक्षणों में क्रमशः व्याधि को विरहादिजन्य मनस्ताप प्रबोध को विनिद्रता, अवहित्था को लज्जादि कारणों से उत्पन्न होने वाली भ्रू-विकार मुख-राग आदि का आच्छादन करने वाली चित्तवृत्ति तथा मरण को व्याधि तथा अभिघात से जन्य मरण की प्रागवस्था बतलाया गया है जो कि चित्तवृत्तिरूप ही है। विनिद्रता भी निद्रा के बाद होने वाला ज्ञान है और ज्ञान चित्तवृत्ति ही है।

१ काव्यानुशासन, पृ ८०।
२ वही पृ ८२।
३ वही पृ ८०।
४ वही पृ ८८।

रसाभास तथा भावाभास

आचार्य भरत

आचार्य भरत ने रसाभास का विवेचन कहीं भी नहीं किया है क्योंकि उन्होंने रसाध्याय में, निरूपणीय वस्तुओं का संग्रह बतलाते हुए—

> रसा भावा ह्यभिनया धर्मी वृत्तिप्रवृत्तय ।
> सिद्धि स्वरास्तथातोद्य गानं रङ्गश्च संग्रह ॥६।१०

इस पद्य में रस और भाव का निर्देश किया है अत यहाँ मुनि को रसाभास तथा भावाभास का वर्णन अभिप्रेत प्रतीत नहीं होता है। उन्होंने केवल रस तथा उनके अभिव्यञ्जक भावों का ही प्रतिपादन किया है ध्वनिकाव्य का नहीं। रसाभासादि ध्वनिकाव्य के अन्तर्गत आते हैं इसीलिए भावों में भी भावसामान्य का ही विवेचन नाट्यशास्त्र में उपलब्ध होता है न कि भावध्वनि का। अत आचार्य भरत ने यद्यपि प्रत्यक्षरूप से रसाभास का विवेचन नहीं किया किन्तु हास्य रस को शृंगार की अनुकृति बतलाते हुए इसकी सूचना दी है। इसका तात्पर्य यह है कि हास्य रस को शृंगार का अनुकरण बतलाया है। अनुकृति शब्द का अर्थ असुरूपता या आभास है। जैसा कि इसके व्याख्याकार अभिनवगुप्त ने बतलाया है। अर्थात् शृंगारानुकृति का अर्थ शृंगाराभास है जो कि हास्य रस का विभाव होता है। अनौचित्येन प्रवर्तमान रत्यादि ही रसाभास है और अनौचित्य प्रवृत्तिकृतत्व ही हास्य रस का विभाव होता है। जैसे सीतारूप विभाव के प्रति अननुरूप 'दूरवर्पण' इत्यादि रावणवचन, अश्रुपात, विलाप आदि अनुभाव तथा चिन्ता दैन्य आदि व्यभिचारी भाव हास्य रस के विभाव होते हैं इसका स्पष्ट निरूपण अनुपद ही अभिनवगुप्तकृत रसाभासविवेचन में किया जा रहा है

अभिनवगुप्त—

भरत कृत नाट्यशास्त्र के व्याख्याकार अभिनव गुप्त ने अवश्य छठे अध्याय की—'शृङ्गारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तित' इस कारिका की व्याख्या में 'शृंगारानुकृति' में अनुकृति शब्द का असुरूपता या आभास का वाचक बतलाते हुए—शृंगाराभास ही हास्य है—इसका प्रतिपादन किया है। शृंगाराभास में विभावादि के अनौचित्य के कारण रति में अनौचित्यज्ञान होता है। यह अनौचित्यज्ञान ही रसाभासता का कारण बन कर आभासत्व का प्रयोजक है। इसलिये अनुचितविभावादिज्ञान से रति में आभासता की प्रतीति होने पर उससे जो पूर्व सत्यता थी उसमें भी आभासता का ज्ञान होता है। और यह सर्वत्राभास ही इस स्थल में शृंगाराभास का कारण होता है। अभिनवगुप्त ने 'रसाभासे प्रतीते

चर्वणाभाससार: शृंगाराभास इस उक्ति के द्वारा इसका स्पष्ट संकेत कर दिया है। तथा परस्त्री तथा अननुरक्त सीतादि विभावों के द्वारा उत्पन्न अनुरागजन्य रावण के अनुचित अश्रुपात, विलाप, परिदेवनादि अनुभाव तथा चिन्ता, दैन्य, मोहादि अनुचित व्यभिचारी भाव ही आभासरूप बनकर हास्यरस के विभाव होते हैं[1] क्योंकि लोक-मर्यादा व शास्त्रमर्यादा से अनुचित प्रत्येक वस्तु हास्यरस का विभाव हो सकती है। इसलिए रति के अनौचित्यज्ञान के कारण आस्वाद्यमान रत्यादिरूप शृंगार ही शृंगाराभास बनकर हास्यरस बनता है।

केवल शृंगाराभास ही नहीं अपितु अनौचित्येन प्रवर्तमान विभावादि वाले सभी रस आभासरूपता को प्राप्त होकर हास्यरस के विभाव बनते हैं और उस के उत्पादक बनते हैं। शृंगारानुकृति शब्द में शृंगारपद अन्य रसों का भी उपलक्षक है।[2] 'शृंगारानुकृतिर्या तु स हास्यस्तु प्रकीर्तितः' भरत मुनि की इस कारिका में प्रथम 'तु' शब्द वीप्सा अर्थात् द्विरुक्ति का सूचक है तथा द्वितीय 'तु' शब्द हेतु अर्थ का बोधक है।

इस प्रकार 'या या अनुकृति स स हास्य'। अर्थात् जो जो अनुकृति अर्थात् आभास है वह हास्य है—इस व्याप्ति के द्वारा आभासमात्र हास्य रस है। जैसे—शृंगाराभास, यह अर्थ[3] फलित होता है। इस व्याख्या द्वारा अभिनवगुप्त ने प्रत्येक रसाभास को अनुचितविभावादि द्वारा हास्य का कारण बतलाया है।

यही नहीं ध्वन्यालोक की लोचन टीका में भी अभिनवगुप्त ने इसी अर्थ की अभिव्यक्ति की है।[4]

---

१ तथापि सीताविभावविलक्षण रावणवच, प्रकृतविरुद्धत्व चिन्तादैन्यमोहादिव्यभिचारिगणेऽश्रुपातपरिदेवितादि चानुभावजातमनौचित्यात्तदाभासरूप सद् हास्यविभावत्वम्। तद् वक्ष्यते—विकृतपरवेषालङ्कारेत्यादि। —अभि भा. पृ. २९६

२. एव तदाभासतया प्रकार शृंगारेण सूचित। तेन करुणाद्याभासेष्वपि हास्यत्व सर्वेषु मन्तव्यम्। अनौचित्य-प्रवृत्तिकृतमेव हि हास्यविभावत्वम्। तच्चानौचित्य सर्वरसानां विभावानुभावादौ सभाव्यते। तेन व्यभिचारिणामप्येषैव वार्ता।"""""अपोशिष्टेष्वपि तदाभासतया शान्ताभासो हास्य एव प्रहसनरूप। —ना. शा. अ भा. पृ २९६

३ तेन 'शृंगारानुकृतिर्या तु' इत्यत्र 'तु' शब्दो वीप्सायां, द्वितीयो (हास्यस्तु) इति हेतौ। तेनेय योजना—या यानुकृति स हास्यो यत प्रकीर्तित। एवविभावको हास्य इति तेन। तद्यथा शृंगार स्यात्, शृङ्गारवदनुकृतिरित्यर्थ। —अभि. भा पृ २९८

४. अनौचित्याभिधाने एतत्तत्त्विक्तेऽपि शृंगारशब्देन तत्र तत्र व्यवहार सदाभासतया मन्तव्य। शृङ्गारेण वीरादीनामप्याभासरूपतोपलक्षितैव। —ध्वन्यालोक लोचन निर्णयसागर १९२८, पृष्ठ ९६,

अभिनव गुप्त ने[1] रसाभासता में कारण बतलाते हुए कहा है कि अनुचित विभावादि के विभावाद्याभास होने से रति में अनौचित्यज्ञान सामाजिकों को होता है, इसीलिए वह रति रति न कहलाकर रसाभास कहलाती है। अर्थात् विभावादि में आभासज्ञान रसादि की आभासता में कारण है।

किन्तु रति की आभासता का जो दूसरा कारण बतलाया है वह यह कि आभासस्थल में[2] रति स्थायित्व को प्राप्त नहीं होती अपितु कामना या अभिलाषा मात्र होती है अतः वहां वह व्यभिचारि-भाव ही होती है। व्यभिचारी भाव होते हुए भी वह स्थायी की तरह प्रतीत होती है। अतः वह रसाभास कहलाती है और इसी कारण उसके विभावादि आभास कहलाते हैं। जैसे शुक्ति के वस्तुतः रजत न होने पर भी वह रजत के समान प्रतीत होती है अतः उसमें जैसे रजताभास-व्यवहार होता उसी प्रकार व्यभिचारिभावरूप रति की स्थायी के समान प्रतीति होने से उसे रसाभास कहते हैं। और रति में आभासताज्ञान विभावादि की आभासता में कारण है। रति की आभासता का प्रकारान्तर से प्रतिपादन करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है[3] कि—

दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्,
चेतः कालकलामपि प्रसहते नावस्थितिं तां विना।
एतैराकुलितस्य विक्षततरैरङ्गैरनङ्गातुरैः,
सम्पद्येत कथं तदाप्तिसुखमित्येतन्न वेद्मि स्फुटम्॥

इस उदाहरण में सीता के प्रति रावण की रति वास्तविक नहीं अपितु आभास है। क्योंकि यदि रावण को यह ज्ञान होता कि सीता मेरे प्रति द्वेष या उपेक्षा रखती है तो उसमें सीता के प्रति अनुरागरूप अभिलाषा ही उदित नहीं होती। अतः द्वेषज्ञान या उपेक्षाज्ञान न होने से रावण में सीता के प्रति अभिलाषा उत्पन्न हो जाती है। किन्तु सीता का रावण के प्रति अनुराग नहीं है, अतः परस्पर अनुरागबन्ध न होने से इसे स्थायी नहीं माना जा सकता। क्योंकि 'स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृतिः'[4] इस वचन के द्वारा आचार्य भरत ने परस्परानुराग व परस्पर आस्थानुबन्ध को ही शृंगार रस का स्थायी भाव बतलाया है।

---

१. यदा विभावाभासादनुभावाभासाद् व्यभिचार्याभासाद् रसाभास प्रतीते सर्वेषामाभासात् शृङ्गाराभास। —अ. भा. पृ. २९५

२. कामना ह्यभिलाषमात्ररूपा हि रतिस्तत्र व्यभिचारिभाव न स्थायी। तस्य तु सा स्थायित्वावभासनमात्रं। तद्वशाद् विभावाद्याभासता। —अ. भा. पृ. २९५

३. तत्रैव स्थाय्याभासत्वं यत्र। यतो रावणस्य सीता द्विष्टा सम्मुखीस्थिता वेति हृदये नैव स्फुरतीति। तस्मात् हठानुमानात्मा विनोदनमेव। 'मय्यनुरक्ता' इति निश्चयो प्रवृत्ति। कामस्याभासत्वात्। पुनः रसाभासत्वम्। —अ. भा. पृ. २९५

४. ना. शा. अ. ६ पृ. ३०१

इसीलिये शृंगार रस के निरूपण में 'स च स्त्रीपुरुषहेतुक उत्तमयुवप्रकृति' इस भरत वचन की व्याख्या करते हुए अभिनवगुप्त ने कहा है कि यहाँ स्त्रीपुरुष शब्द से परस्पराभिलाष-सम्भोगरूपा, लौकिकी, इसकी यह स्त्री है, इत्याकारक बुद्धिरूपा, प्रारम्भ से फलपर्यन्त व्याप्त रहने वाली एवं परिपूर्ण सुखरूप प्रयोजनवाली स्थायी रति का ग्रहण है जो कि कामावस्था में होने वाली अन्यतर की अभिलाषमात्ररूप व्यभिचारिणी रति से विलक्षण है। इससे यह सिद्ध है कि कामावस्थाजन्य अभिलाषमात्र रति स्थायी न होकर व्यभिचारिणी होती है।[1]

अभिनव के इस विवेचन से अनुभयनिष्ठा रति तथा अनुचित विभावरूप आलम्बन वाली रति का संग्रह हो जाता है। अर्थात् ये दोनों प्रकार की रतियाँ रत्याभास अतएव शृंगाराभास हैं।

यद्यपि रावण को सीता मुझ में अनुरक्त है' यह निश्चय है—अतः रावण के अनुराग को आभास या मिथ्या नहीं कहा जा सकता। तथापि उपर्युक्त निश्चय कामजन्य मोहरूप होने से अनुराग की यथार्थता में कारण नहीं बन सकता। जैसे—शुक्ति में रजतज्ञान दोषजन्य है, अतः उसे यथार्थ न मान कर मिथ्या माना जाता है उसी प्रकार कामरूप दोष से जन्य होने से 'सीता मुझ पर अनुरक्त है' इत्याकारक रावण का निश्चयात्मक ज्ञान भी रति में यथार्थता का प्रयोजक न होकर आभासता का ही प्रयोजक है। इसी अभिप्राय को अभिनवगुप्त ने लोचन टीका में भी स्पष्ट किया है।[2]

अभिनव गुप्त ने विभावाद्याभासता के कारण रति में आभासता सिद्ध की है किन्तु रत्याभासता के कारण भी विभावाद्याभासता बतलाई है। क्योंकि सीता में रावण का अनुराग अन्यतरनिष्ठ होने से रति न होकर रत्याभास है इसलिए उस रति के जनक सीतादि विभाव, रावण के चेष्टादि अनुभाव तथा चिन्तादैन्यादि व्यभिचारी भी वास्तविक न होकर आभासमात्र हैं।

यद्यपि अभिनवगुप्त ने शृंगाराद्याभास में रत्याद्याभासजन्य चर्वणाभास को कारण बतलाया है। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि आभासस्थल में चर्वणा में किसी प्रकार की कमी होती है या चर्वणा पूर्ण मात्रा में नहीं होती, किन्तु प्रारम्भ में जब तक कि रति में आभासता का ज्ञान नहीं होता तब तक रति की पूर्ण चर्वणा आभासस्थल में भी होती है किन्तु बाद में अनुचित विभावादि के द्वारा या अन्य कारणों से रति में आभासता का ज्ञान होने पर पुरातन चर्वणा में चर्वणाभासज्ञान

---

१ स्त्रीपुंसशब्देन परस्पराभिलाषसम्भोगलक्षणया लौकिक्या 'ममैव स्त्री' इति धिया (उपलक्षिता), तदभिलाषमात्ररागाया कामावस्थानुवर्तिन्या व्यभिचारिण्यारत्या विलक्षणैव इयं स्थायिरूपा प्रारम्भादिफलप्राप्तिपर्यन्तव्यापिनी परिपूर्णसुखैकरूपा रतिरूपा भवति इत्युक्तम्। —अभि भा पृ ३०२

२. ध्वन्यालोकलोचन पृ १७८

होता है। और तभी उनको शृंगाराभास आदि कहा जाता है। इसका प्रतिपादन ध्वन्यालोकलोचन में अभिनवगुप्त ने कर दिया है।[1]

लोचन के टीकाकार श्रीरामशारक ने स्वनिर्मित बालप्रिया टीका में इसका स्पष्टीकरण उत्तम रीति से किया है। उन्होंने लिखा है कि 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव' इत्यादि पद्य में प्रारम्भ में सहृदय सीताविषयिणी रावणरति का तन्मय होकर आस्वादन करते हैं अतः उन्हें शृंगार रस की ही चर्वणा होती है। पश्चात् सीता विभाव और रावणरति में पौर्वापर्यविवेक होने पर रावणरति का विभाव सीता अनुचित है क्योंकि उनमें परस्पर रागानुबन्ध नहीं है इस प्रकार अनुचितविभावालम्बनज्ञान से रति में आभासताज्ञान होने से प्राक्तन शृंगारचर्वणा ही शृंगाराभासचर्वणा कहलाती है।[2]

इसीलिए अभिनवगुप्त ने लोचन में कहा है कि रस भाव, रसाभास आदि सभी में[3] आस्वाद्यमानता ही उनका जीवन है। तथा भाव रसाभास भावाभास भावप्रशमादि सभी रसध्वनि के ही निष्यन्द हैं तथापि आस्वाद के प्रयोजक अंश-विशेष के प्राधान्य के कारण रसध्वनि भावध्वनि आदि व्यपदेशभेद हो गया है।[4] जहाँ स्थायी चित्तवृत्ति का आस्वाद होता है उसे रस कहते हैं। जहाँ हर्षादि व्यभिचारिचित्तवृत्तियों का प्रधानतया आस्वाद होता है उसे भावध्वनि, एवं अनौचित्येन प्रवर्तमान स्थायिनी चित्तवृत्ति के आस्वाद को रसाभास कहते हैं।[5]

निष्कर्ष—

१ रसाभासादिस्थल के रत्यादि स्थायी भावों का अनौचित्यप्रतीतिरूपज्ञान आभासता का मूल कारण (प्रयोजक) है।
२ रत्यादि में अनौचित्यज्ञान विभावादि के अनौचित्य से होता है।
३ रसाभासादिस्थल में रत्यादि स्थायीभाव नहीं होते अपितु व्यभिचारि-भाव होते हैं फिर भी स्थायी की तरह प्रतीत होते हैं।

---

१ तथापि पारदारिक इव प्रतीतिः। तत्तद्विभावनदशायां तु रत्यास्वादेऽपि शृङ्गारेणैव भाति पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्' इत्यादौ।
—ध्वन्यालोकलोचन पृ १८-१९

२ यथाहि सहृदयानां सीताविषयकरावणरतिप्रतीतावनन्तरमास्वादेऽपि शृङ्गारचर्वणैव पश्चात्-तदनुचितत्वज्ञानतः [illegible] शृङ्गाराभासचर्वणा न सह-भासत एव।
—बालप्रिया पृ १९

३ रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणा [illegible] आस्वाद्यमानताप्राणतया भान्ति।
—लोचन पृ १८

४ एवं रसध्वनेरेवामी भावध्वनिप्रभृतयो निष्यन्दाः। आस्वादे प्रधानं प्रयोजकमंशं विभज्य पृथग् व्यवस्थाप्यन्ते।
—लोचन पृ १९

५ औचित्येन प्रवृत्तौ चित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे स्थायिन्या रसः, व्यभिचारिण्या भावः, अनौचित्येन तदाभासः।
—ध्वन्यालोकलोचन पृ १८

४ आभास शब्द का अमुख्यता अर्थ है। अमुख्य होने से ही वह मिथ्या भी कहलाता है।

५. आभासस्थल मे पूर्व क्षण मे विभावादि से परिपुष्ट स्थायिभावत्वेन अभिव्यक्त रति की ही चर्वणा होती है। उस समय उसमे अनौचित्य-ज्ञान नही होता। अत उस समय वह आभास नही कहलाता अपितु रस ही कहलाता है। चर्वणोत्तरकाल मे अनौचित्य का प्रतिसन्धान होने से उसमे आभासत्व का व्यवहार होता है। अत रस या रसाभास की चर्वणा मे किसी प्रकार का अन्तर नही है। इसीलिए रस, भाव, रसाभासादि को समान चर्वणा के कारण असंलक्ष्यक्रम-ध्वनिरूप एक कोटि मे ही आचार्यो ने प्रतिष्ठित किया है। केवल चर्व्यमाण वस्तु के भेद से ही उनमे रस-भावादि व्यपदेश होता है न कि चर्वणा के तारतम्य-भेद से।

मम्मट—

मम्मट ने रसाभास व भावाभास का 'तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिता' इत्याकारक लक्षण प्रस्तुत किया है। वह अभिनवगुप्त के अनुसार ही है। उसमे कोई नवीनता का निरूपण नही किया है।

काव्यप्रकाश के टीकाकारो ने भी पूर्वप्रदर्शित मार्ग का ही अनुसरण किया है। उन्होने आभासता कहा कहा होती है ? इसका दिग्दर्शन किया है जो कि निम्न-कारिका मे उल्लिखित है —

> उपनायकसस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च।
> बहुनायकविषयायां तथाऽनुभयनिष्ठायाम्॥
> आभासत्वं कथितं तथैव तिर्यगादिविषयायाम्। इति।

भोज—

भोज ने रस के प्रकृष्ट, भावरूप व आभास ये तीन भेद बतलाकर तिर्यक्-प्राणियो मे तथा प्रतिनायक आदि मे उपजायमान (उत्पन्न होने वाले) रस को आभास बतलाया है।[1]

पंडितराज जगन्नाथ

प राज जगन्नाथ ने 'अनुचितविभावालम्बनत्व रसाभासत्वम्' यह रसाभास का लक्षण बतला कर अनुचितविभावरूप आलम्बन वाले रत्यादि को रसाभास कहा है। अर्थात् अनुचित रत्यादि के रसाभासपदवाच्य होने पर भी रत्यादि मे अनौचित्य के प्रतिसन्धान का प्रयोजक विभाव का अनौचित्य है और विभाव मे अनौचित्य का

---

१ तदुपाधिस्वायमुपजायमानो रसस्त्रिधा विहन्यते प्रकृष्टो भावरूप आभासरूप। तत्र प्रतिनायका प्रतिनायकादीनां पंरजायते स शृङ्गाराभास। —शृङ्गारप्रकाश भाग २ पृ ४९

रतिभाव का एकघन चमत्काररूप आस्वाद सहृदयों को होता है। अतः वह रस ही है। किन्तु बाद में रति में अनौचित्यज्ञान होने पर उसमें आभासत्वव्यवहार होता है। यह आभासत्वप्रतीति सहृदयों को बाद में होती है प्रारम्भ में नहीं है। अतः रसाभासस्थल में भी रसादि की तरह एकघनचमत्काररूप पूर्ण आस्वाद सहृदयों को होता है।[1]

इसी लिए अभियुक्तों ने कहा है —

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ।
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ॥[2]

यद्यपि रसाभासस्थल में रत्यादि भाव स्थायी नहीं है अपितु व्यभिचारी है। अतः रत्यादि का आस्वाद रस नहीं कहला सकता क्योंकि रत्यादि स्थायिभावों का आस्वाद ही रस होता है न कि व्यभिचारी भावों का तथापि रसाभासस्थल में आस्वादवेला में रत्यादि में स्थायित्व का ही ज्ञान है व्यभिचारित्व का नहीं। पश्चात् (आस्वादानन्तर) उत्तर काल में रत्यादि में अनौचित्यज्ञान होने से व्यभिचारित्व की प्रतीति होती है। अतः आस्वादकाल में रत्यादि में स्थायित्वज्ञान होने से न आस्वाद में किसी प्रकार की बाधा है और न उसके रसत्व में किसी प्रकार की आपत्ति है। पश्चात् उसमें अनौचित्यज्ञान होने से आभासत्वव्यवहार होता है। श्री अभिनवगुप्त ने लोचन में इस तथ्य का स्पष्टीकरण कर दिया है। जैसे—

'स्थायिन्यादिचित्तवृत्तेरास्वाद्यत्वे रसः, व्यभिचारिण्या भावः। अनौचित्येन तदाभासः, रावणस्येव सीतायां रतेः। यद्यपि तत्र हास्यरसरूपतैव शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्य इति वचनात्। तथापि पाश्चात्यय सामाजिकानां प्रतीतिः। तन्मयीभवनदशायां तु रतेरेवास्वाद्यतेति शृङ्गार एव प्रतिभाति पौर्वापर्यविवेकावधीरणेन 'दूराकर्षणमोहमन्त्र इव मे तन्नाम्नि याते श्रुतिम्।' इत्यादौ ध्व लोचन पृ ७८-७९

पण्डितराज जगन्नाथ ने आभासस्थल में विप्रलम्भाभास का—

व्यत्यस्तं लपति क्षणं क्षणमथो मौनं समालम्बते
सर्वस्मिन् विदधाति किं च विषये दृष्टिं निरालम्बनाम्।
श्वासं दीर्घमुरीकरोति न मनागङ्गेषु धत्ते धृतिं
वैदेहीकमनीयताकवलितो हा हन्त लङ्केश्वरः ॥

अर्थात् सीता के सौन्दर्य से ग्रस्त लङ्काधिपति रावण कभी असम्बद्ध भाषण अर्थात् प्रलाप करता है, कभी चुप हो जाता है, सभी विषयों में शून्य दृष्टि डालता है, दीर्घश्वास लेता है, और उसके किसी भी अङ्ग में शान्ति नहीं है।' यह उदाहरण

---

1 'न त्वनुचितत्वात्सहानि। अपितु सदास्वादाभासकावगाह। सदाभासादिव्यवहारकत्व इत्यपर। रसगङ्गाधर पृ ९९.

2 साहित्यदर्पण विमला टीका पृ १०८

दिया है। और इस उदाहरण में, असम्बद्ध भाषण, मौनालम्बन, सभी विषयों में शून्यदृष्टिविन्यास, दीर्घश्वास लेना तथा शरीराङ्गों में ग्लानि का अनुभव करना इन कार्यों से क्रमशः व्यज्यमान उन्माद, श्रम, मोह, चिन्ता, व्याधिरूप व्यभिचारिभावों के द्वारा प्राधान्येन परिपोष्यमाण सीताविषयक रावणगत विप्रलम्भ रति अनुभयनिष्ठ अर्थात् केवल रावणगत होने से अथवा परद्गुरुरामपत्नीविषयक होने से अनौचित्य के कारण विप्रलम्भशृङ्गारध्वनि न कहला कर, विप्रलम्भाभासध्वनि कहलाती है यह कहा है। यहां विप्रलम्भाभास में ध्वनिशब्द का व्यपदेश[1] कर पण्डितराज ने यह स्पष्ट सिद्ध कर दिया है कि आभासस्थल में रस की अपेक्षा चमत्कार की न्यूनता नहीं होती है। क्योंकि रस की तरह प्रधानतया व्यज्यमान एवंभूत चमत्कार वाली वस्तु में ही ध्वनिव्यवहार होता है।

श्री विश्वनाथ ने भी 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम् इस' काव्यलक्षण की व्याख्या करते हुए 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्ति से रसपद से रस, भाव, रसाभास भावाभास आदि सभी का ग्रहण माना है।[2] और यह तभी सम्भव है जब रस की तरह रसाभासादि में एकघनचमत्काररूप आस्वाद हो।

इस प्रकार रसाभासस्थल में प्रारम्भ से रस की तरह पूर्ण आस्वाद होता है। उसमें रस की तरह उस समय पौर्वापर्यविवेक का अभाव होने से विगलितवेद्यान्तरता तथा पूर्ण तन्मयता रहती है और अखण्डरूपता भी रहती है। रसाभास में रस की अपेक्षा आस्वाद में लेशमात्र भी न्यूनता पूर्वकाल में नहीं रहती है।

अतः डा. प्रेमस्वरूप गुप्त ने 'रसगङ्गाधर का शास्त्रीय अध्ययन' नामक शोध प्रबन्ध में रसाभासस्थल में जो निम्न निष्कर्ष निकाले हैं। जैसे —

रसाभास में प्रथम प्रतिक्रिया में बहुत कुछ साम्य होते हुए भी विगलितवेद्यान्तरता का महान् अन्तर होता है। इसकी अनुभूति में तन्मयता की मात्रा क्षीण होती है।

प्रथम प्रतिक्रिया के क्षीण होने के कारण ही द्वितीय प्रतिक्रिया का स्वरूप अधिक स्पष्ट होता है।

रसाभासों व भावाभासों के नाम प्रथम प्रतिक्रिया के आधार पर ही चलते हैं। इत्यादि निष्कर्ष सङ्गत नहीं है। जैसा कि ऊपर बतला दिया गया है कि रसाभास में प्रथम प्रतिक्रिया के क्षीण होने का कोई प्रश्न ही नहीं है। पण्डितराज जगन्नाथ ने रसाभासव्यवहार असत्यानसामान्यव्यवहार की तरह है जिसमें असत्य की तरह

---

1. अत्र सीतालम्बना रावणगता विप्रलम्भरतिः प्राधान्येन परिपोष्यमाणा ध्वनिव्यपदेशहेतुः।
—र. ग. पृ. १०१

2. रस्यते इति रसः इति व्युत्पत्तियोगाद् भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।
—साहित्यदर्पण मोतीलाल बनारसीदास प्रकाशन पृ. १९

रसत्व अर्थात् आस्वाद्यत्व अक्षुण्ण है, इस सिद्धान्त मत का प्रतिपादन कर रसाभासस्थल में रस की तरह पूर्ण आस्वाद्यता, तन्मयता व विगलित-वेद्यान्तरता प्रथमकाल में स्पष्ट है यह सिद्ध कर दिया है।

रसाभास भावाभास नाम भी प्रथम प्रतिक्रिया के आधार पर नहीं परन्तु उत्तरकालिक प्रतिक्रिया के आधार पर हैं, इस तथ्य का प्रतिपादन भी अभिनवगुप्त के उद्धरणों से सिद्ध किया जा चुका है।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसाभासव्यवहार में जो दो मत प्रदर्शित किये हैं उनमें प्रथम हेत्वाभास की तरह रसाभासव्यवहार मानने वालों का मत उनकी दृष्टि से है जो कि रसाभासस्थल में पूर्ण तन्मयता व विगलितवेद्यान्तरता नहीं मानते हैं तथा उसके आस्वाद में रस की अपेक्षा न्यूनता मानते हैं। किन्तु अश्वाभास की तरह रसाभास मानने वाला जो दूसरा मत है वह रसाभासस्थल में रस की तरह पूर्ण तन्मयता व विगलितवेद्यान्तरता मान कर आभासत्वज्ञान से पूर्व पूर्ण आस्वाद मानने वालों का है। पण्डितराज दूसरे मत को मानने वाले हैं। इसीलिए पूर्वमत में 'केचित्' पद के द्वारा अरुचि प्रदर्शित की है। रसाभासस्थल में आभासत्वज्ञान से पूर्व रत्यादि का पूर्ण आस्वाद होता है यह पूर्व में बतलाया हो जा चुका है।

इसी प्रकार अनुचितविषयक भाव भावाभास कहलाता है। अर्थात् प्राधान्येन व्यज्यमान व्यभिचारिभाव जब अनुचितविषयक होता है तब उसे भावाभास कहते हैं। जैसे—

> सर्वेऽपि विस्मृतिपथं विषयाः प्रयाताः,
> विद्यापि खेदकलिता विमुखीबभूव।
> सा केवलं हरिणशावकलोचना मे
> नैवोपयाति हृदयादधिदेवतेव ॥

पण्डितराज जगन्नाथ के इस पद्य में विद्याभ्यास के समय गुरुकुल में रहने वाले किसी युवक का गुरुकन्या के सौन्दर्य से चित्त का आकर्षण हो जाने पर पश्चात् देशान्तर में चले जाने पर युवक का नायिकाविषयक स्मृतिभाव गुरुकन्याविषयक होने से अनौचित्य के कारण भावध्वनि न कहलाकर भावाभासध्वनि कहलाता है। यद्यपि यहाँ सभी लौकिक विषयों ने तथा चिराभ्यस्त विद्या ने भी युवक का परित्याग कर दिया है तथा गुरुकन्यारूप नायिका ने उसका परित्याग नहीं किया है इस प्रकार नायिका में यद्यपि लोकोत्तरत्व की अभिव्यक्ति हो रही है। किन्तु वह व्यज्यमान नायिका का लोकोत्तरत्व नायिका में लौकिक विषयादि की अपेक्षा व्यतिरेकविधया आधिक्य का बोधन करता हुआ नायिकाविषयक युवकनिष्ठ स्मृति का परिपोषक होने से अङ्गभूत है। अतः अङ्गीभूत स्मृति ही प्रधान है। और यह प्रधान स्मृतिरूप भाव गुरुकन्यारूप अनुचितविषयक होने से भावध्वनि न कहला कर

भावाभास शब्द से व्यपदिष्ट होता है। यदि यह स्मृतिरूप भाव उससे विवाह करने वाले युवक का है तो अनुचितविषयक न होने से भावध्वनि कहलायेगा न कि भावाभास। यह पण्डितराज की उक्ति इस बात को सिद्ध कर रही है कि भावाभास में भावध्वनि की अपेक्षा किसी भी दशा में न्यून चमत्कार नहीं होता। प्रारम्भ में सामाजिक को भावाभासस्थल में एकघन चमत्कार की प्रतीति होती है पश्चात् उस भाव में अनुचितविषयकत्वज्ञान होने से आभासत्वज्ञान हो जाता है।[1]

साधारणीकरण

रस, भाव, रसाभास आदि का निरूपण करने के पश्चात् सहृदयों में रसादि की रस्यता (आस्वाद्यता) का मूल कारण साधारणीकरण है जिसके बिना काव्य में वर्णित व नाट्य में अभिनीत सीतादि विभावों से सहृदय में रत्यादि भावों का उद्बोध ही नहीं हो सकता। अतः उसका निरूपण भी प्रसङ्गत आवश्यक है। भट्टनायकादि के मत का प्रतिपादन करते हुए इस साधारणीकरण का पूर्ण विवेचन यद्यपि किया जा चुका है। अतः उनके अनुसार साधारणीकरण के निरूपण की यहाँ आवश्यकता नहीं है। तथापि हिन्दी के मूर्धन्य आलोचकों ने अपनी अपनी रीति से उसका जो आलोचन किया है, उसका समीक्षात्मक अध्ययन संक्षेप में यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—

शुक्लजी के साधारणीकरणसम्बन्धी उद्धरणों[2] का सम्यग् आलोचन

---

१ यदि पुनरयि तत्परिणेतुरवातिस्तदा भावध्वनिरेव। —रसगंगाधर पृ १०२

२ (क) आलम्बन के साधारणीकरण का यह अर्थ नहीं कि उसका व्यक्तित्व ही निराहित हो जाता है अर्थात् वह व्यक्ति न रहकर जाति बन जाता है। उसका व्यक्तित्व तो बना ही रहता है पर उसमें कुछ ऐसे गुणों का समावेश हो जाता है जिन के कारण वह समस्त सहृदयसमाज के उसी भाव का विषय बन जाता है। अर्थात् सीता कामिनीमात्र बन कर रह जाती है यह बात नहीं, वरन् वह अपने शील सौन्दर्य आदि सामान्य गुणों के कारण सभी के प्रेम का विषय बन जाती है। आलम्बन का व्यक्तित्व बना रहे और फिर भी उसका साधारणीकरण हो जाय इस विषमता का समाधान करने के लिए शुक्ल जी अपनी मूल स्थापना (आलम्बन का साधारणीकरण) में थोड़ा संशोधन करते हुए कहते हैं कि साधारणीकरण वस्तुतः आलम्बनधर्म का होता है अर्थात् उन सामान्य गुणों का होता है जिनके कारण सीता राम को प्रिय लगती है। —डा नगेन्द्र का रससिद्धान्त पृ २०२

(ख) शुक्लजी के मत से साधारणीकरण मूलतः आलम्बन या आलम्बन के धर्म का होता है। अर्थात् कवि आलम्बन का इस प्रकार वर्णन करता है कि वह (आलम्बन) अपने वैशिष्ट्य की रक्षा करते हुए भी साधारण धर्मों के कारण सभी पाठकों के मन में वैसा ही भाव उद्बुद्ध करता है, जैसा कि काव्यप्रसङ्ग के अन्तर्गत आश्रय के मन में आता है। —डा नगेन्द्र का रससिद्धान्त, पृ २०५

करने पर यही निष्कर्ष निकलता है कि वे आलम्बन का साधारणीकरण मानते हैं और वह भी इस रूप में कि आलम्बन की वैयक्तिकता या विशेषता भी अक्षुण्ण बनी रहे तथा वह आश्रय के भाव का ही आलम्बन न हो अपितु आश्रय के भावके समान सभी सहृदयों के भावों का आलम्बन भी बन जाय। इसका मार्ग उन्होंने यही निकाला है कि आलम्बन का साधारणीकरण न होकर आलम्बन के धर्मों का साधारणीकरण होता है। अर्थात् आलम्बन में कवि इस प्रकार के शीलसौन्दर्यादि गुणों की स्थापना या वर्णन करता है जिससे कि सभी व्यक्तियों के भावों का वह आलम्बन बन सके। जैसे सीता विभाव की उपस्थिति सहृदयों का सीतात्वरूप से ही होती है न कि कामिनीत्वरूप से। किन्तु सीता में ऐसे शीलसौन्दर्यादि गुणों का विधान कवि ने किया है जो कि समस्त सहृदयों में रति या अनुराग को उत्पन्न करने में समर्थ हैं। सीता यद्यपि राम की प्रेयसी है तथापि उसमें वर्णित शील-सौन्दर्यादि गुण सभी को प्रिय हैं। सहृदयों के अनुराग का विषय सीता नहीं अपितु उसके शीलसौन्दर्यादिगुण हैं।

किन्तु विचार करने पर यह मत समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि सहृदय-निष्ठ अनुराग का आलम्बन सीता है और उसमें रामप्रेयसीत्वरूप विशेषता विद्यमान है। जब तक इस विशेषता का परिहार या प्रतिबन्ध नहीं किया जायगा तब तक शीलसौन्दर्यादि गुणों के आधार पर भी सीता सभी के अनुराग या रतिभाव का आलम्बन नहीं बन सकती। इसीलिए भट्टनायक ने कामिनीत्वरूप सामान्यधर्म के ज्ञान से भी सहृदयों में रतिभाव का अनुदय बतलाया है। पण्डितराज जगन्नाथ ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा है कि जब तक सीतादि विभावों में आराध्यत्व, पूज्यत्व, परकीयात्व आदि रसविरोधी धर्मों का प्रतिबन्ध नहीं किया जायगा तब तक कामिनीत्व धर्मरूप से सीता की उपस्थिति मानने पर भी उसे सहृदय के रतिभाव का आलम्बन नहीं माना जा सकता। अन्यथा कामिनीत्वादि सामान्य धर्म को लेकर स्वसा आदि भी रतिभाव का आलम्बन होने लगेंगी जो कि सर्वथा लोकविरुद्ध व अनुभवविरुद्ध है।

दूसरी बात यह है कि केवल आलम्बन विभाव का ही साधारणीकरण मानना तभी न्यायसंगत हो सकता है यदि केवल आलम्बन विभाव से रसनिष्पत्ति होती हो। किन्तु रसनिष्पत्ति में आलम्बनविभाव के साथ-साथ उद्दीपनविभाव, अनुभाव तथा सञ्चारी भाव भी कारण हैं, अन्यथा विभावमात्र से रसनिष्पत्ति मानने पर व्याघ्रादि विभावों के वीर, भयानक, रौद्र रसों में समान होने से वहाँ किस रस की निष्पत्ति मानी जायगी ? अतः विभावमात्र को रसनिष्पत्ति में कारण न मान कर विभाव, अनुभाव व सञ्चारी सभी को कारण मानना होगा। ऐसी स्थिति में विभाव-मात्र का साधारणीकरण मानने पर अनुभावों व सञ्चारी भावों के साधारणीकरण के अभाव में उनसे सामाजिक के स्थायिभाव का उद्बोध न हो सकेगा और रसनिष्पत्ति का अभाव होगा।

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र—

आचार्य केशवप्रसाद मिश्र ने शुक्लजी के आलम्बन के साधारणीकरण पर आक्षेप करते हुए कहा है[1]—'साधारणीकरण से यहाँ यह अर्थ लिया गया है कि विभाव, अनुभाव आदि को साधारण रूप देकर सामने लाया जाय। विभाव, अनुभाव आदि का साधारण अथवा लोकसामान्य होना दो अर्थों में माना जा सकता है—एक तो स्वरूपतः सामान्य होना और दूसरे परिणाम अथवा उद्देश्य में सामान्य होना। स्वरूपतः सामान्य होने का आग्रह करना ठीक न होगा, क्योंकि उस अवस्था में विभाव, अनुभाव आदि सीमित और शृङ्खलाबद्ध हो जायेंगे और काव्य की व्यापकता नष्ट हो जायगी। परिणामतः या अपने अन्तिम ध्येय में सामान्यता (साधारणीकरण) मानने के भी दो प्रकार हो सकते हैं। एक तो बौद्धिक या द्वैतवादी जिसमें काव्य को नैतिक या अनैतिक द्वन्द्वों के भीतर देखा जाता है और नैतिक पक्ष का रसास्वाद किया जाता है। और दूसरा मनोवैज्ञानिक ध्वन्यात्मक या कलात्मक जिसमें नैतिकता का प्रश्न पृथक् नहीं रहता, ध्वनि में अवसित हो जाता है। इसमें पहला प्रकार भट्ट नायक के भुक्तिवाद के अनुकूल पड़ता है और दूसरा अभिनवगुप्त के ध्वनिवाद से सम्बन्धित है।' इस प्रकार भट्टनायकसम्मत साधारणीकरण तथा अभिनवगुप्तसम्मत साधारणीकरण भेद से साधारणीकरण को दो भागों में विभक्त कर उन्होंने एक को नैतिकता व अनैतिकता से सम्बन्धित व दूसरे को उससे परे सिद्ध किया है। 'इन दोनों में हम आचार्य अभिनवगुप्त का मत मानते हैं। साधारणीकरण कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान व साधारणीकृत होने पर सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है।' किन्तु इससे साधारणीकरण में क्या अन्तर पड़ता है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी तथा रत्यादि स्थायी भावों का साधारणीकरण भट्टनायक भी मानते हैं और अभिनवगुप्त भी। नैतिकता अनैतिकता की गन्ध अभिनवगुप्त के मत में भी विद्यमान है। अन्यथा साधारणीकरण के बिना भी विशेष रूप से अर्थात् रामादि व्यक्तिविशेष से सम्बन्धित सीतादि के द्वारा ही सहृदय के मानस में संस्काररूप से विद्यमान रत्यादि स्थायिभावों की अभिव्यक्ति हो जाने पर साधारणीकरण की आवश्यकता ही क्या होती? किन्तु साधारणीकरण से पूर्व सीतादि कारणों (विभावों), कटाक्षादि कार्यों (अनुभावों) तथा औत्सुक्य, लज्जादि सहकारिकारणों (व्यभिचारिभावों) के व्यक्तिविशेष से सम्बन्धित होने के कारण उनसे सहृदयहृदय में संस्काररूप से विद्यमान रत्यादिभावों का उद्बोध नहीं हो सकता अतः उनका साधारणीकरण माना गया है। और साधारणीकृत होने पर ही उन कारणों, कार्यों तथा सहकारिकारणों को सहृदयहृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादिभावों के आस्वादाङ्कुरयोग्यनिर्माणादिरूप विभावनादि व्यापार के कारण उनको विभावादि संज्ञाओं से भी व्यपदिष्ट किया गया है। अन्यथा साधारणीकरण से पूर्व व्यक्तिविशेषसम्बन्धित सीतादि कारणों में भी

---

१ डा० नगेन्द्र का रससिद्धान्त, पृ० २०२

यह सामर्थ्य होती तो पहिले भी उन्हें विभावादि संज्ञाओं से व्यपदिष्ट किया जाता। इस प्रकार नैतिकता अनैतिकता का प्रश्न तो एक प्रकार से अभिनवगुप्त भी स्वीकार करता ही है। साधारणीकरण के पश्चात् साधारणीकृत सीतादि का व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध हट जाने पर अनैतिकता की गन्ध भट्टनायक के मत में भी नहीं रहती। अतः उसके साधारणीकरण का ही नैतिकता व अनैतिकता से सम्बन्ध जोड़ना न्याय्य प्रतीत नहीं होता। इस नैतिकता व अनैतिकता के प्रश्न के समाधान के लिए तो साधारणी-करण का आश्रय लिया ही गया है। और साधारणीकरण से पूर्व तो नैतिकता व अनैतिकता का सम्बन्ध अभिनवगुप्त के मत में भी है।

श्री मिश्रजी का यह कथन 'कि साधारणीकरण तो कवि अथवा भावुक की चित्तवृत्ति से सम्बन्ध रखता है। चित्त के एकतान व साधारणीकृत होने पर उसे सभी कुछ साधारण प्रतीत होने लगता है'' भी समीचीन नहीं। क्योंकि चित्त की एकतानता व साधारणीकरण एक वस्तु नहीं। चित्त की एकतानता चित्त का अन्य विषयों से सम्बन्ध हट कर किसी एक विषय पर चित्त का एकाग्र व केन्द्रित होना है। और साधारणीकरण किसी वस्तु में विशेष धर्मों का परिहार या प्रतिबन्ध होकर उस वस्तु की सामान्य रूप से उपस्थिति या सामान्यधर्मपुरस्सर उपस्थिति है। और चित्त की एकतानता चित्त का अन्य विषयों से सम्बन्ध हट कर उसी विषय का नैरन्तर्य-रूप में प्रवाह है। उसमें उस विषय की ही प्रतीति होती है, अन्य विषयों की नहीं। जैसे कामिनी पर चित्त के एकतान होने पर कामिनी की ही प्रतीति होती है। आत्मा पर चित्त के एकतान होने पर आत्मा की ही प्रतीति होती है विषयान्तर की नहीं। किन्तु चित्त की एकतानता होने पर सभी विषयों की साधारणरूप से उपस्थिति मानना कैसे सम्भव है? अतः पण्डित श्री केशवप्रसादजी की मान्यता भी समीचीन प्रतीत नहीं होती।

डा. नगेन्द्र—

डा. नगेन्द्र ने रस के विभावादि समस्त अवयवों का साधारणीकरण न मान कर कविभावना का साधारणीकरण माना है। यह कविभावना डा. नगेन्द्र के अनुसार कवि के भाव की कलात्मक पुनःसर्जना की अनुभूति है जिसे उन्होंने भारतीय काव्यशास्त्र की शब्दावली में 'भावना' शब्द से व्यपदिष्ट किया है। इसी का शास्त्रीय नाम उन्होंने ध्वन्यर्थ माना है। यह ध्वन्यर्थ एक ओर कवि के अर्थ को व्यक्त करता है, दूसरी ओर प्रमाता के चित्त में समान अर्थ को उद्बुद्ध करता है। डा. नगेन्द्र के अनुसार काव्यप्रसंग जो कि विभावादि की समष्टिमात्र है कविभावना का बिम्बमात्र है। कविभावना का बिम्बरूप काव्यप्रसङ्ग जड़ है तथा उसकी आत्मा कविभावना है। साधारणीकरण जड़ यान्त्रिक क्रिया न होकर चेतन क्रिया है। अतः काव्यप्रसङ्ग अर्थात् बिम्बशरीर का साधारणीकरण न मान

१ डा. नगेन्द्र का रससिद्धान्त, पृ. २०३

कर उनकी आत्मा कविभावना का साधारणीकरण मानना उचित है जिसका कि बिम्बशरीर काव्यप्रसङ्ग है।¹

इसमें कोई सन्देह की बात नहीं कि कविभावना का साधारणीकरण होता है। कवि लोक से गृहीत विभाव, अनुभाव आदि का भावना द्वारा साधारणीकरण करता है। यदि कविभावना का साधारणीकरण न होता हो तो वह ऐसे समर्थ काव्य का निर्माण करने में समर्थ न होता जो सहृदयों में साधारणीकरण की भावना को जगा सके। क्योंकि लोक से गृहीत विभावादि का साधारणीकरण हो जाने पर उनके कारण कवि में साधारणीकृत रूप में उद्बुद्ध शोकादि स्थायिभाव का हृदयसंवाद व तन्मयीभवनक्रम से जब तक कवि आस्वाद प्राप्त नहीं कर लेता और कवि का हृदय जब तक उससे परिपूर्ण नहीं हो जाता तब तक समुचितछन्दोवृत्तादि-नियन्त्रित गुणालङ्कारसंस्कृत वाग्व्यवहाररूप काव्य का निर्माण सम्भव नहीं है। इसीलिए अनुभवगुप्त ने—

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा।
क्रौञ्चद्वन्द्ववियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः॥

इस ध्वन्यालोक के पद्य की व्याख्या करते हुए स्पष्ट रूप से कहा है कि—

'क्रौञ्चस्य द्वन्द्ववियोगेन सहचरीहननोद्भूतेन साहचर्यध्वंसनेनोत्थितो यः शोकः स्थायिभावो निरपेक्षभावत्वाद् विप्रलम्भशृङ्गारोचितरतिस्थायिभावादन्य एव, स एव तथाभूतविभावतदुत्थाक्रन्दाद्यनुभावचर्वणया हृदयसंवादतन्मयीभावक्रमादा-स्वाद्यमानतां प्रतिपन्नः करुणरसरूपतां लौकिकशोकव्यतिरिक्तां स्वचित्तद्रुतिसमा-स्वादसारां प्रतिपन्नो रसपरिपूर्णकुम्भोच्छलनवच्चित्तवृत्तिनिष्यन्दस्वभाववाग्विला-पादिवच्च समयानपेक्षत्वेऽपि चित्तवृत्तिव्यञ्जकत्वादिति नयेनाकृतकतयैवावेशवशात् समुचितशब्दच्छन्दोवृत्तादिनियन्त्रितश्लोकरूपतां प्राप्तः —

'यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम् ।'[1]

अत काव्यनिर्माणार्थ कविभाव का साधारणीकरण होकर उसका आस्वाद प्राप्त कर उस आस्वाद से हृदय की परिपूर्णता आवश्यक है। तभी वह रसरूप आस्वाद उच्छलित होकर काव्यरूप मे परिणत होता है।

परन्तु मेरे विचार मे डा नगेन्द्र का उपर्युक्त केवल कविभावना का साधारणीकरण भी समुचित प्रतीत नही होता, क्योकि उनके अनुसार कविभावना के साधारणीकरण से यही अभिप्रेत है कि 'जब कोई कवि अपनी अनुभूति को इस प्रकार अभिव्यक्ति कर सके कि वह सभी के हृदयो मे समान अनुभूति जगा सके तो पारिभाषिक शब्दावली मे उसमे साधारणीकरण की शक्ति वतमान है, ऐसा कहा जा सकता है। वैसी शक्ति सभी मे नही होती किन्तु कवि मे ही होती है क्योकि उसे लोकहृदय की पहचान है।'[2]

परन्तु इस प्रकार कविभावना के साधारणीकरण द्वारा कवि मे अपनी अनुभूति को समर्थ शब्दो मे अभिव्यक्त करने का सामर्थ्य आ जाने पर भी वह अपनी अनुभूति को शब्दो द्वारा ही व्यक्त करता है। और कवि इतना ही कर सकता है कि वह अपनी अनुभूति को सुन्दर (गुणालङ्कारसम्वृत तथा दोषरहित) शब्दो के द्वारा अभिव्यक्त कर उसमे चमत्कार या सौन्दर्य उत्पन्न कर दे। और सुन्दर वस्तु सौन्दर्य के कारण श्रोता के हृदय मे प्रविष्ट हो जाय। वह श्रोता के हृदय मे स्थान प्राप्त कर मानस बन जाय। किन्तु इतने से साधारणीकरण की क्रिया समाप्त नही होती। यह तो साधारणीकरण के लिये उपयुक्त पृष्ठभूमि तैयार हुई है। क्योकि जो वस्तु मन मे स्थान प्राप्त नही करती अर्थात् मानस नही बन जाती उसकी भावना नही होती और भावना के विना साधारणीकरण निष्पन्न नही होता। कवि कितने ही सुन्दर, चमत्कारपूर्ण व समर्थ शब्दो मे अपनी अनुभूति का अभिव्यक्ति प्रदान करे, किन्तु विभावादि की वह अभिव्यक्ति शब्दो द्वारा विशेषरूप से ही होगी न कि साधारणीकृतरूप से, अर्थात् देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धराहित्यरूप से। और साधारणीकरण विभावादि का देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धराहित्यरूप से उपस्थापन करता है। विभावादि के मानस बनने पर भी जब तक श्रोता या सहृदय मे सहृदयता अर्थात् वर्णनीयवस्तु मे तन्मयीभवन की योग्यता नही है और उस वस्तु की या भाव की पुन पुन अनुसधानरूप भावना नही की जाती है तब तक साधारणीकरण की सम्भावना नही। जिस सहृदय के हृदय मे वर्णनीय वस्तु मे तन्मयीभाव की योग्यता है और वह उस मानसवस्तु की पुन पुन अनुसधानरूप भावना करता है, उसका उस वस्तु मे कुछ क्षणो के लिये तन्मयीभाव हो जाता है और तब विषयान्तर-सम्पर्करहित तथा देशकालव्यक्तिविशेषसम्बन्धरहितरूप मे उस वस्तु की या भाव की उपस्थिति होती है यही साधारणीकरण है। इस साधारणीकरण के पश्चात्

१ ध्वन्यालोकलोचन, पृ ८७

२ डा नगेन्द्र का रसविद्धान्त पृ २११

ही वह सहृदय उस साधारणीकृत रत्यादिस्थायिभावोपहित आत्मा का ज्ञानरूप आस्वादन करता है, वही रस है। अतः कविभावना के साधारणीकरण से तथा तज्जनित अपनी अनुभूति की समर्थ शब्दों में अभिव्यक्तिमात्र से सहृदय के भावों का साधारणीकरण सम्भव नहीं। साधारणीकरण के लिए तो सहृदयता तथा भावना (वस्तु या भाव का पुनः पुनः अनुसन्धान) दोनों अपेक्षित हैं। इन दो तत्त्वों के बिना सहृदय के भावों का साधारणीकरण सम्भव ही नहीं। ये दोनों तत्त्व जिस सहृदय में विद्यमान हैं वही कवि की भावना के साथ अपना तन्मयीभाव कर सकता है और उस भाव की समान अनुभूति करने में समर्थ होता है, सब नहीं। अतएव समर्थ कवि के काव्य से भी सभी को रसानुभूति नहीं होती अपितु सहृदयों को ही होती है। कविभावना के साधारणीकरण से ही यदि काम चल जाता तो समर्थ कवि के काव्य से सभी में समानरूप से उस भाव की अनुभूति होने से सभी को रसानुभूति होनी चाहिए।

पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिए साधारणीकरण में सहृदयता व भावना-विशेष दोनों को कारण माना है।[1] अतः जिस प्रकार कवि के लिए रसास्वादन करने के लिए विभावादिचर्वणा द्वारा अपने रत्यादि भाव का साधारणीकरण आवश्यक है उसी प्रकार सहृदय के लिए अपने हृदय में वासनारूप से विद्यमान स्थायिभाव का साधारणीकृतरूप में उद्बोधन तथा उसके आस्वाद के लिए उस भाव का साधारणीकरण आवश्यक है। और सहृदयस्थ रत्यादि भाव का साधारणीकृत रूप में उद्बोधन के लिए विभावादि का साधारणीकरण अपेक्षित है। इसलिए कविभावना का साधारणीकरण कवि के रसास्वादन व तदनन्तर समर्थशब्दगुम्फित काव्यनिर्माण द्वारा सहृदयों के भाव के साधारणीकृत रूप से उद्बोधन में कारण ही हो सकता है। किन्तु सहृदय के भावों के साधारणीकरण में समर्थ नहीं है। उसके लिए सहृदय को अपने भावों का तथा विभावादि का साधारणीकरण करना आवश्यक है। उसका प्रकार ऊपर बतला दिया गया है।

डा. राकेश गुप्त तथा रस

इस प्रकरण मे डा राकेश गुप्त ने अपने शोधप्रबन्ध 'साइकोलोजिकल स्टडीज इन् रस' अर्थात् 'रस का मनोवैज्ञानिक अध्ययन' मे भट्टलोल्लट शङ्कुक, भट्टनायक व अभिनवगुप्त द्वारा प्रतिपादित रसस्वरूप मे जिन दोषों का उद्घाटन किया है, उन मे कतिपय दोषों का निराकरण किया जा रहा है। इन दोषों का निराकरण भट्टलोल्लटादिसम्मत रसविवेचन के समय नही किया गया। अत इस स्वतन्त्र प्रकरण मे परिशिष्ट के रूप मे किया जा रहा है।

डा राकेश गुप्त ने भट्टलोल्लट के मत का खण्डन प्रस्तुत करते हुए कहा है कि भट्टलोल्लट के अनुसार प्रेक्षक या सहृदय नट में रामादि के भ्रान्तिज्ञान से उस मे रति का ज्ञान प्राप्त करता है और उससे सहृदय को आनन्दानुभूति होती है। जैसे रज्जु मे भ्रान्त सर्पज्ञान से भ्रान्तिज्ञान वाले पुरुष को भय, कम्पन आदि वास्तविक होते हैं। किन्तु भ्रान्तिज्ञान से एकमात्र आनन्द की ही अनुभूति सहृदयों को नही हो सकती, क्योंकि भ्रान्तिज्ञान मे जिस वस्तु की भ्रान्ति होती है उस वस्तु के यथार्थज्ञान से जो कार्य उत्पन्न होते हैं वे ही कार्य उसके भ्रान्तिज्ञान से होते हैं। जैसे वास्तविक सर्प के ज्ञान से भयकम्पादि लोक मे उत्पन्न होते हैं न कि आनन्द। वैसे ही रज्जुसर्पादिस्थल मे भ्रान्त सर्पज्ञान से भी भयकम्पादि ही उत्पन्न होते हैं न कि आनन्द। जैसे वास्तविक रजतज्ञान से रजतार्थी को लोक मे सुख उत्पन्न होता है तो भ्रान्त शुक्तिरजतज्ञान से भी सुख ही उत्पन्न होता है। अत वास्तविक रत्यादिज्ञान से लोक मे सुख उत्पन्न होने के कारण नट मे भ्रान्त रत्यादिज्ञान से भी सहृदय को आनन्दानुभूति हो सकती है, किन्तु करुण, वीभत्सादि रसों मे वास्तविक शोक, जुगुप्सा आदि भावों के दु खजनक होने से नट मे भ्रान्त शोकादिज्ञान से भी सहृदय को दु खानुभूति ही होनी चाहिए सुखानुभूति नही। किन्तु भट्टलोल्लट सर्वत्र रसों में सुखानुभूति ही मानता है इस की उपपत्ति कैसे होगी? अत इस दृष्टि से भट्टलोल्लट का रससिद्धान्त सदोष है।[1] किन्तु भट्टलोल्लट के मत मे डा श्री राकेश गुप्त का यह आक्षेप निराधार है क्योंकि भट्टलोल्लट ने सभी रसों को आनन्दरूप कहाँ माना है? उनका ऐसा कोई उल्लेख तो कही मिलता नही। केवल अभिनवभारती आदि मे जो उनके मत का उल्लेख मिलता है वह केवल शृङ्गारस्थल का है अर्थात् रतिभाव के रसरूप मे परिणत होने का है। और वास्तविक रति लोक मे निर्विवाद रूप से सुखजनक है। अत नट मे उसके भ्रान्तिज्ञान से सुखानुभूति सहृदयों को होना नियमानुसार सिद्ध है। अन्य करुणादि रसों मे शोकादि की सुखजनकता का भट्टलोल्लट के मत मे कोई उल्लेख नही मिलता। अपितु तथ्य तो यह है कि भट्टलोल्लट

1 Psychological studies in Rasa page 39 Second Para

लौकिक रत्यादि को ही व्यभिचार्यादि से परिपुष्ट होने पर रस मानता है। और लौकिक रत्यादि वस्तुस्वभावानुसार लोक में सुख या दुःख के जनक होते हैं। तदनुसार ही काव्य व नाट्य में भी वे सुख व दुःख के जनक ही होंगे। इसीलिए सभी रसों को सुखात्मक मानने वाले अभिनवगुप्त ने भी अभिनवभारती में लौकिक रत्यादि भावों को लोकस्वभावानुसार सुखदुःखात्मक ही माना है,[1] तथा भट्टलोल्लट के मतानुसार ही रस की व्याख्या प्रस्तुत करने वाले नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र गुणचन्द्र भी रसों को सुखदुःखोभयात्मक ही मानते हैं न कि एकान्तत सभी रसों को सुखात्मक।

जैसा कि भट्टलोल्लट की तरह विभावों व व्यभिचारियों के द्वारा उत्कर्ष को प्राप्त अर्थात् उपचित रत्यादि स्थायिभावों को रस मानने वाले नाट्यदर्पणकार ने कहा है—कि 'भयानक बीभत्स, करुण व रौद्र रसों में उन के स्थायिभावों भय, जुगुप्सा, शोक व क्रोध से सहृदयों को अनाख्येय (अवर्णनीय) क्लेशदशा की ही प्राप्ति होती है और उन स्थायिभावों के आस्वादन से उनको उद्वेग ही होता है'।[2]

फिर भी भयानकादिरसप्रधान काव्यों व नाटकों के अध्ययन व दर्शन में सहृदयों की प्रवृत्ति में रसास्वादन के अनन्तर यथावस्थित वस्तु के प्रदर्शक कवि व नट के कौशल से जन्य चमत्कार को ही कारण माना है। अर्थात् जिस तरह मस्तकच्छेदन करने वाले प्रहारकुशल शत्रु के प्रहार से मुग्ध होकर वीर लोग तज्जन्य चमत्कार का अनुभव करते हैं उसी तरह कवि व नट के वर्णन व अभिनय के कौशल से मुग्ध होकर सामाजिक दुःखजनक करुणादि रसों में भी परम आनन्द का अनुभव करने लगते हैं।[3] वस्तुत सीता के हरण, द्रौपदी के केशाकर्षण, हरिश्चन्द्र की चाण्डालदासता आदि में किस सहृदय को आनन्द हो सकता है।[4]

डा राकेश का भट्टलोल्लट के मत पर यह आक्षेप भी है कि "भट्टलोल्लट ने

जो यह माना है कि प्रेक्षकों को नट में रामादि के समान चतुर्विध अभिनय के कारण रामादि की भ्रान्ति हो जाती है, अतएव वे उसमें रामादि का भ्रान्तिज्ञान करते हैं। यह भ्रान्तिज्ञान नाटक में सारे समय नहीं होता, कतिपय क्षणों तक ही वे नट को भ्रान्ति से राम समझते हैं। अर्थात् प्रेक्षकों को नट में रामादि की भ्रान्ति कुछ क्षणों के लिए होती है न कि सम्पूर्ण समय। अतः सारे समय भ्रान्ति न होने से भ्रान्ति-ज्ञान पर आधारित आनन्दानुभूति वाला भट्टलोल्लटसिद्धान्त संगत नहीं है।"[1]

डा॰ गुप्त का यह आक्षेप भी संगत नहीं क्योंकि कतिपय क्षणों तक ही रसानुभूति अभिनयस्थल में होती है न कि सारे समय। नाटकदर्शनादिस्थल में दर्शकों की अभिरुचि चाहे सारे समय बनी रहे किन्तु रसानुभूति तथा तज्जन्य आनन्दानुभूति तो कुछ ही क्षणों तक होती है अतः भ्रान्तिज्ञान के कतिपय-क्षणस्थायी मानने में भी क्या आपत्ति है? यदि बाद में नट में वास्तविक रामादि का भ्रान्तिज्ञान सहृदयों का नहीं होता तो उसमें रत्यादि का ज्ञान न होने से आनन्दानुभूति भी बाद में नहीं रहती।

भट्टलोल्लट के मत में प्राचीन आचार्यों द्वारा जो सामानाधिकरण्य की अनुपपत्तिरूप दोष दिया गया है अर्थात् नट में भ्रान्त रत्यादिज्ञान से सहृदयों को आनन्द आता है, ऐसा मानने पर आनन्द की जनक रति की स्थिति नट में रहेगी और आनन्द सहृदयों में, इस प्रकार कार्य और कारण के सामानाधिकरण्य-सिद्धान्त का भङ्ग होगा। इस आक्षेप का खण्डन करते हुए डा॰ राकेश ने जो यह कहा है कि रति चाहे नट में रहे या राम में, वह रति सहृदयों के आनन्द का कारण नहीं है अपितु नट में रति है इत्याकारक भ्रान्तिज्ञान कारण है। और वह ज्ञान सहृदयों में ही रहता है और तज्जन्य आनन्द भी सहृदयों में ही है। अतः सामानाधिकरण्यसिद्धान्त का भङ्गरूप दोष निराधार है।[1] यह कथन भी समीचीन नहीं, क्योंकि आनन्द का कारण रति है। आत्मधर्मों की ज्ञायमान सत्ता मानी गई है अतः ज्ञायमान रति आनन्द में कारण मानी जाती है। किन्तु यदि रति आत्मस्थ है तब तो उसरति का प्रत्यक्षात्मक ज्ञान होने से उससे आनन्दानुभूति हो सकती है। और यदि उसका तटस्थतया ज्ञान है अर्थात् नट में रति है इत्याकारक ज्ञानमात्र सामाजिकों को है तो सहृदय में आनन्दजनक रति की सत्ता न होने से आनन्दानुभूति नहीं हो सकती। रति के अभाव में भी रतिज्ञानमात्र से कार्य माना जाय तो चन्दन के शैत्यज्ञान से ग्रीष्म ऋतु में भी व्यक्ति को तज्जन्य सुखानुभूति होनी चाहिए। परन्तु नहीं होती। अतः रतिरूप कारण तथा आनन्दरूप कार्य का सामानाधिकरण्य आवश्यक है। ज्ञानमात्र के सामानाधिकरण्य से आनन्दानुभूति मानने पर चन्दन में शैत्यज्ञान से पुरुष में सुखानुभूति होनी चाहिए परन्तु नहीं होती। अतः रत्यादि के ज्ञानमात्र को आनन्द का कारण न मान कर ज्ञायमान रत्यादि को ही कारण मानना होगा। इसलिए नट में रति है इत्याकारक ज्ञान से सहृदय में आनन्दानुभूति हो नहीं सकती, क्योंकि कार्य

---

1 Psychological studies in Rasa Page 39

और कारण मे सामानाधिकरण्य का अभाव है। इसी तथ्य का काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने निरूपण किया है—

· रामादावनुकार्ये रस । नटे तु तुल्यरूपतानुसन्धानादारोप्यमाण सामाजिकाना साक्षात्कारानुभवश्चमत्कारहेतुरिति । तदपेशलम् । सामाजिकेषु तदभावे (रसाभाव) तत्र चमत्कारानुभवविरोधात् । न च तज्ज्ञानमेव चमत्कारहेतु । शाब्द-तज्ज्ञानेऽपि तदापत्ते । लौकिकशृङ्गारादिदर्शनेनापि चमत्कारप्रसङ्गात् । चन्दन-सुखादौ वैपरीत्यदर्शनात् ।[1]

अर्थात् अनुकार्य मे रस मानने पर तथा रामादितुल्यरूपता के अनुसन्धान द्वारा नट मे रस का आरोप अर्थात् भ्रान्तिज्ञान मानने पर भी सामाजिकों मे रस के न होने से उनमे चमत्कार का उदय न होगा। सामाजिक मे वस्तुत रस (रति) के न होने पर भी यदि रति के ज्ञानमात्र से सामाजिकों मे चमत्कारोत्पत्ति मानी जायगी तो शब्दजन्यरतिज्ञान म भी सामाजिकों मे चमत्कारोत्पत्ति होनी चाहिए। तथा लौकिक स्त्री पुरुष के शृङ्गारदर्शन म भी चमत्कार का उदय होना चाहिए। अपि च चन्दन का लेप न होने पर भी केवल चन्दन के शैत्यज्ञान से सुखानुभूति लोक मे दृष्ट नही है। अत रतिज्ञानमात्र से सामाजिकों मे चमत्कारोदय नहीं माना जा सकता।

डा राकेश गुप्त ने शङ्कुक के मत का निराकरण करते हुए कहा है कि शङ्कुक ने सामाजिकों के नट मे यह राम है इत्याकारक ज्ञान को सम्यग् ज्ञान से भिन्न माना है क्योंकि यह ज्ञान राम मे यह राम ही है इत्याकारक नहीं है अपितु रामभिन्न नट मे राम है इत्याकारक है। यह मिथ्याज्ञान भी नहीं है क्योंकि मिथ्याज्ञान का उत्तरकाल मे बाध होना है। जैसे रज्जु मे सर्पज्ञान का रज्जुज्ञान हो जाने पर बाध हो जाता है। और नट मे राम है इत्याकारक ज्ञान का उत्तरकाल मे बाध नही होता, अपितु बाद मे भी वे उसे यह राम है ऐसा कहते हैं। सामाजिकों को नट मे राम है इत्याकारक ज्ञान, स्थाणुपुरुष की तरह यह राम है अथवा नहीं इस रूप मे संशयरूप भी नहीं है। और यह ज्ञान नट राम के सदृश है इस प्रकार सादृश्यरूप भी नही है। किन्तु जैसे चित्र में बालक को यह अश्व है इत्याकारक ज्ञान उपर्युक्त सम्यग्ज्ञानादि चारों ज्ञानों से विलक्षण है उसी प्रकार नट में यह राम है इत्याकारक ज्ञान भी है। किन्तु शङ्कुक की यह मान्यता निराधार है क्योंकि बालक को चित्र मे जो अश्व का ज्ञान हो रहा है वह सम्यग् ज्ञान है और वहाँ अश्व शब्द लक्षणा वृत्ति से अश्व के चित्र का बोधक है न कि केवल अश्व का।[2] और अश्व के चित्र का चित्र मे यथार्थ ज्ञान है। अत इसकी समानता को लेकर नट में यह राम है इत्याकारक ज्ञान को सम्यग्ज्ञानादि चारों ज्ञानों से विलक्षण ज्ञान का विषय नहीं माना जा सकता। अपितु लक्षणावृत्ति द्वारा

अश्व शब्द अश्व के चित्र का बोधक होने से यह ज्ञान यथार्थ है।[1] किन्तु डा. राकेश गुप्त का उपर्युक्त कथन सङ्गत नहीं, क्योंकि चित्र में अश्वज्ञान बालकों को है जो कि लक्षणावृत्ति से सर्वथा अपरिचित हैं। अशिक्षित पुरुष भी जिसको कि चित्र में अश्व का ज्ञान है वह भी लक्षणावृत्ति से अपरिचित ही है।

शङ्कुक के चित्रतुरगज्ञान की व्याख्या करते हुए श्री विश्वनाथ ने काव्यप्रकाशदर्पण में कहा है—

'यथा बालाना चित्रतुरगे वस्तुपरिच्छेदशून्या तुरगोऽयमिति बुद्धिर्भवति, तथा 'रामोऽयमिति प्रतिपत्त्या ग्राह्यं नटे अभिनेतरि।'[2]

अर्थात् जैसे बालकों को चित्र के तुरग में वस्तुशून्य (अश्व वस्तु से शून्य) यह अश्व है ऐसी बुद्धि होती है उसी प्रकार सामाजिकों को नट में यह राम है ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान पतञ्जलि के विकल्पात्मक ज्ञान के समान है। पतञ्जलि ने 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्प,[3] यह विकल्प का लक्षण बतलाया है। *विकल्पात्मक ज्ञान वस्तुशून्य है फिर भी वस्तु का ज्ञान वहाँ होता है। उसी प्रकार* चित्रतुरग में वस्तुत अश्व के न होने पर भी उसमें यह अश्व है इत्याकारक ज्ञान होता है। अत चित्रतुरग में बालकों को लक्षणा द्वारा अश्व का चित्र है ऐसा ज्ञान *नहीं होता किन्तु चित्र में यह अश्व है ऐसा ज्ञान ही होता है। अत अनश्व में अश्व*ज्ञान होने से इसे सम्यक् बुद्धि नहीं माना जा सकता। उत्तरकाल में चित्रतुरगज्ञान का बाध न होने से मिथ्याज्ञान भी नहीं माना जा सकता। संशयबुद्धि व सादृश्यबुद्धि का यहाँ प्रश्न ही नहीं उत्पन्न होता। क्योंकि चित्रतुरगज्ञान में सादृश्यज्ञान व संशयज्ञान नहीं है। किन्तु चित्रतुरग में अश्वज्ञान बालकों को अवश्य होता है अत इसे सम्यग्ज्ञानादि चारों प्रकार के ज्ञानों से विलक्षण ही मानना होगा। उसी प्रकार का ज्ञान रामभिन्न नट में यह राम है ऐसा सामाजिकों को है।

डा राकेश गुप्त ने शङ्कुक की 'नट शिक्षाभ्यासादि के द्वारा इस प्रकार कुशलता से रत्यादि स्थायिभावों के विभावों, अनुभावों व व्यभिचारियों का अभिनय प्रदर्शित करता है कि जिससे वे *कृत्रिम होते हुए भी सामाजिकों को कृत्रिम नहीं* प्रतीत होते। अत नट द्वारा प्रदर्शित उन विभावादि से अव्यभिचरित रत्यादि भावों का सामाजिक नट में अनुमान कर लेते हैं। वे अनुमीयमान रत्यादि नट में वास्तविक *नहीं हैं किन्तु अनुकार्यनिष्ठ रत्यादि के अनुकरण हैं।* उन रत्यादि के अनुमितिज्ञान से सहृदयों को आनन्दानुभूति होती है अत आनन्दजनक होने से वे अनुमीयमान रत्यादि रस कहलाते हैं'—इस मान्यता का निराकरण करते हुए कहा है कि जब अनुकार्य में विद्यमान रत्यादि के ज्ञान से भी सामाजिकों को आनन्दानुभूति नहीं

---

१ Psychological Studies in Rasa, Page 43

२ काव्यप्रकाश बालबोधिनी टीका पृ ८९

३ पातञ्जल योगदर्शन समाधि पाद सूत्र ९

होती है तब नट में रत्यादि के अनुकरण के ज्ञान से आनन्द कैसे आ सकता है ? अपि च, वास्तविक रति के आनन्दजनक होने से उसका अनुकरण कथञ्चित् आनंद का जनक हो भी जाय किन्तु वास्तविक शोकादि की तो दुःखजनकता ही लोक में अनुभवसिद्ध है तब शोकादि की अनुकरणता का ज्ञान सामाजिक के आनन्द का जनक कैसे बन सकता है ? यह दोष उसी प्रकार का है जैसा कि शङ्कुक ने भट्टलोल्लट के मत में नट में रत्यादि के आरोपज्ञान से सामाजिकों को आनन्द कैसे उत्पन्न होगा ? इस प्रश्न का उत्तर भी भट्टलोल्लट के मत में डा. राकेश गुप्त द्वारा प्रदत्त दोष के निराकरण में दिया जा चुका है।

दूसरा समाधान—अभिनवभारती में शङ्कुक के मतानुसार रत्याद्यनुकरण को सुखजनक मानने पर शोकादि स्थायिभाव कैसे सुखजनक होंगे ? क्योंकि वे लोक में दुःखजनक हैं, इस शङ्का का समाधान करते हुए शङ्कुक ने कहा है कि नाट्यगत विशेषताओं के कारण लोक में दुःखजनक शोकादि भी नाट्य में सुखजनक हो जाते हैं। यह समाधान अभिनवभारती में अभिनवगुप्त ने, शङ्कुक के मतानुसार शोकादि भी नाट्यगत विशेषता के कारण सुखजनक हैं, इस रूप में दिया गया है।[1]

डा. राकेश गुप्त ने काव्य व नाट्य में शोकादि आनन्दजनक हैं, इस शङ्कुक की मान्यता को अग्राह्य ठहराया है। क्योंकि शोकादि लोक में दुःखजनक-रूप में ही प्रसिद्ध हैं। अनुकार्य रामादि में जब वास्तविक शोकादि भी दुःखजनक हैं तब उनका अनुकरण कैसे आनन्दजनक हो सकता है ? किन्तु डा. राकेश गुप्त की यह मान्यता भी सङ्गत प्रतीत नहीं होती। क्योंकि यह लोकोत्तर काव्यव्यापार की महिमा है जिसके कारण अरमणीय शोकादि पदार्थ भी अलौकिक आनन्द के जनक हो जाते हैं। प्रमाणान्तरजन्य अनुभव की अपेक्षा काव्यव्यापारजन्य आस्वाद कमनीय तथा विलक्षण होता है। अतः लौकिक अनुभव के द्वारा काव्य से प्रतीयमान शोकादि में दुःखजनकता न मान कर आह्लादजनकता मानना उचित है।[2] इसीलिए करुणरसप्रधान काव्यों के श्रवण व उनके दर्शन में सामाजिकों की प्रवृत्ति देखी जाती है और उनको उनसे किसी प्रकार का उद्वेग नहीं होता। शोकप्रधान काव्यों के श्रवण व दर्शन से सामाजिकों में जो अश्रुपातादि देखे जाते हैं वे भी आनन्दजन्य हैं न कि दुःखजन्य। क्योंकि दुःख की तरह आनन्द में भी अश्रुपातादि होते हैं। इसीलिए नादद्वर्णन के सुनने से भक्तों को अश्रुपातादि होते हैं।[3]

(१) डा राकेश गुप्त ने भट्टनायकसम्मत रससिद्धान्त का खण्डन करते हुए भट्टनायक द्वारा काव्यशब्दो मे अभिमत भावकत्व व्यापार का निम्न रीति से खण्डन प्रस्तुत किया है—'भट्टनायक ने काव्यशब्दो मे एक भावकत्वनामक व्यापार और माना है। जो अन्य शास्त्रीय शब्दो मे नही होता। इस भावकत्व व्यापार का कार्य विभाव अनुभाव, व्यभिचारी तथा स्थायिभावो को देश-काल-अवस्था-व्यक्तिविशेषसम्बन्धरहित रूप से उपस्थित करना है। अर्थात् उनमे जो भी देश-काल-व्यक्तिविशेषसम्बन्धादि विशेषताएँ हैं उनको हटा देना तथा सीता शकुन्तला आदि विभावो को कान्तात्वरूप से उपस्थित कराना है। इसी प्रकार भावकत्व व्यापार आश्रय से सम्बन्धित अनुभावो मे आश्रयविशेष के सम्बन्ध को तथा लज्जादि व्यभिचारियो मे व स्थायिभावो मे भी सीतारामादिव्यक्तिविशेष-सम्बन्ध को दूर कर उन्हे कटाक्षत्व, लज्जात्व व रतित्वरूप से उपस्थित कराता है। इसी व्यापार का नाम साधारणीकरण भी है, क्योकि यह विभावादि को व्यक्ति-विशेषता सम्बन्ध से हटा कर साधारणरूप मे उपस्थित कराता है।

यह व्यापार अन्य शास्त्रीय शब्दो मे न रह कर काव्यशब्दो मे ही क्यो रहता है? इसका कारण भट्टनायक ने यह बतलाया है कि काव्यशब्द दोषरहित तथा गुणालङ्कारादि से सम्भृत हैं अतएव सुन्दर हैं। इसी प्रकार दृश्यकाव्य नाट्य मे आङ्गिकादि चतुर्विध अभिनयो द्वारा उन विभावादि का प्रदर्शन होता है और वे अभिनय भी सुन्दररूप से उन विभावादि की उपस्थिति कराते हैं। इस प्रकार यह व्यापार काव्य-शब्दो मे ही रहता है अन्य शास्त्रीय शब्दो मे नही। इसीलिए भट्ट-नायक ने साधारणीकरण को—'तस्मात् काव्ये दोषाभावगुणालङ्कारलक्षणन, नाट्ये चतुर्विधाभिनयरूपेण निविडनिजमोहसङ्कटतानिवारणकारिणा विभावादिसाधारणी-करणात्मनाऽभिधातो द्वितीयेनांशेन भावकत्वव्यापारेण भाव्यमानो रस इति।'[1]

इन शब्दो द्वारा प्रतिपादित किया है। सक्षेप मे यही आशय भट्टनायक के मत का भावकत्व व्यापार द्वारा विभावादि का साधारणीकरण मानने मे प्रतीत होता है। किन्तु यह उचित नही क्योकि काव्य व नाट्य मे क्रमश. दोषाभाव व गुणालङ्कार-सम्भृत सुन्दर शब्दो द्वारा तथा चतुर्विध अभिनय द्वारा उपस्थापित सीतादि विभाव, कटाक्ष-भुजाक्षेपादि अनुभाव, लज्जा-धृति आदि मानस व्यभिचारिभाव सभी प्रेक्षको व सहृदयो मे विशेष रूप से ही उपस्थित होते हैं न कि साधारणीकृत रूप से। जैसे 'ज्वाला' सिनेमा मे रेखा देवी तथा काननबाला दोनो नायिकायें दर्शको को अपनी अपनी विशेषता को लेकर ही प्रतीत होती हैं। अन्यथा साधारणीकृत रूप मे दोनो मे कोई भेद न रहने से नाटक का सारा कथानक ही नष्ट हो जाता। रामायण मे सीता, ऊर्मिला, माण्डवी, श्रुतकीर्ति, चारो बहिनें अपने-अपने विशेष रूप मे ही उपस्थित होती हैं, अन्यथा सभी के परस्पर एकरूप हो जाने पर सारा कथानक ही व्यर्थ हो

---

[1] Psychological studies in Rasa, Page 52-53

जाना। अतः काव्य व नाट्य में भी विभावादि की प्रेक्षकों व सहृदयों को विशेष रूप में ही उपस्थिति होती है यह मानना पड़ता है।[1]

(२) साधारणीकरण की जो शक्ति गुणालङ्कार-संस्कृत शब्दों में व वाचिकादि चतुर्विध अभिनयों में मानी है वह भी निराधार है। क्योंकि उपमादि अलङ्कार वर्णनीय वस्तु को और भी स्पष्ट रूप में उपस्थित करते हैं न कि उनको परस्पर अभिन्न रूप में अर्थात् अस्पष्ट रूप में उपस्थित करते हैं। जो वस्तु जितनी स्पष्ट रूप में उपस्थित होगी वह उतनी ही विशेष रूप में उपस्थित होगी न कि सामान्य रूप में। चतुर्विध अभिनय भी वस्तु की अपनी निजी विशेषताओं के बोधक हैं। उन्हीं विशेषताओं के प्रदर्शन से उनका अभिनय होता है अतः उनसे भी वर्णनीय वस्तु विभावादि का विशेष रूप में ही उपस्थापन सहृदयों को होगा, सामान्य रूप में कैसे हो सकता है?[2]

(३) विभावादिचर्वणा व स्थायिभावचर्वणा के समय सहृदय विभावादि व स्थायिभाव से भिन्न विषय के ज्ञान से रहित हो जाता है। अर्थात् उस समय विषयान्तर-सम्पर्कशून्य विभावादि का ही ज्ञान उसको रहता है यह कथन भी भट्ट-नायक का उपयुक्त नहीं है। क्योंकि नाटक व काव्य का लोकजीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध है। अतः उनके ज्ञान के समय उन काव्यों में वर्णनीय वस्तुओं से सम्बद्ध जीवन की अन्य वस्तुओं का ज्ञान भी प्रेक्षक को या सहृदय को होना स्वाभाविक है। उनके ज्ञान का अभाव उसमें कैसे बतलाया जा सकता है? गणित शास्त्र या रसायन-शास्त्र की समस्याओं का विचार करते समय चाहे कुछ क्षणों के लिए विचारक उनमें निमग्न होकर भले ही लौकिक वस्तुओं के ज्ञान से रहित हो जाय किन्तु काव्य में व नाट्य में इसकी सम्भावना नहीं है। और यदि कुछ क्षणों के लिए ऐसी स्थिति मान भी ली जाय तो भी अन्य क्षणों में तो लौकिक परिस्थितियों व वस्तुओं का ज्ञान भी प्रेक्षकों व सहृदयों को रहता है ऐसा मानना ही होगा। अतः रसानुभूति के समय सहृदय को विषयान्तरसम्पर्कशून्य मानना भी समुचित व तर्कसम्मत प्रतीत नहीं होता।[3]

किन्तु विचार करने पर डा राकेश के उपर्युक्त आक्षेप अविचारमूलक ही सिद्ध होते हैं। डा राकेश का कहना है कि काव्य व नाट्य में सीतादि विभाव विशेष रूप में ही सहृदयों को प्रतीत होते हैं किन्तु यह कथन अभिधा व्यापार द्वारा शब्दों से जब सीतादि विभावों की उपस्थिति होती है उस दशा में सम्भव है। अर्थात् प्रारम्भ में सीतादि विभाव अभिधा व्यापार द्वारा विशेष रूप में ही सभी को उपस्थित होते हैं और इस तथ्य को भट्टनायक भी स्वीकार करता है। किन्तु साधारणीकृत रूप में उपस्थिति तो उस दशा के उत्तर काल में होती है जब कि

अभिधा व्यापार द्वारा उपस्थित वस्तुएँ सौन्दर्य के कारण मन मे स्थान प्राप्त कर लेती हैं और तब सहृदय वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मयीभवनयोग्यतारूप सहृदयता के साथ उन अर्थों की पुन पुनरनुसन्धानरूप भावना करता है। वर्णनीय वस्तुओ मे तन्मय होकर उनकी भावना करने से सर्वविध विशेषताओं का परिहार होकर मात्र वस्तुरूप से ही उनको प्रतीति होती है। यही उनका साधारणीकरण है । और यह स्थिति सभी सहृदयो को अनुभव-सिद्ध है । इसका अपलाप नही किया जा सकता । चाहे डा राकेश व उनके द्वारा कल्पित सहृदयो को इसकी प्रतीति न हो। डा राकेश जब गणित शास्त्र तथा रसायन शास्त्र जैसे नीरस विषयो मे भी विचारक की ऐसी तन्मयीभाव की दशा को कुछ क्षणो के लिए मानने को उद्यत हो सकते हैं जहाँ उसी गणित-समस्या की साधारणीकृत रूप मे उपस्थिति होती है तथा अन्य लौकिक वस्तुओ की नही। वहाँ भी यह स्थिति उस विषय की पुन पुनरनुसन्धानरूप भावना से ही होती है। गणितज्ञ व रसायनशास्त्रज्ञ को उन प्रश्नो के विवेचन सुन्दर प्रतीत होते हैं अत वे उस व्यक्ति के हृदय मे स्थान प्राप्त कर लेते हैं। और तब गणितज्ञ व रसायनशास्त्रज्ञ विद्वान् उनका बार-बार चिन्तन करता है। उस बार-बार चिन्तन का यही परिणाम होता है कि चिन्तन करते करते समस्या ही उनके विचार का विषय बन जाती है, उसके आसपास की परिस्थितियो तथा तत्सम्बद्ध पुस्तक, विषय आदि का तिरोधान हो जाता है। तब सुन्दर शब्दो द्वारा उपस्थापित विभावादि विषयो के सुन्दररूप मे उपस्थित होने से सौन्दर्य के कारण उनका सहृदय के मन मे स्थान प्राप्त कर मानस बनना तथा सौन्दर्य के कारण उनका बार बार चिन्तन करना और सहृदय का तन्मय बन जाना स्वाभाविक है। तन्मय बन जाने का आशय ही यह है कि अन्य सभी विशेषताओं का तिरोधान होकर उस वस्तुमात्र का सहृदय के मन मे शेष रह जाना अर्थात् वस्तुमात्र-रूप से, भावमात्ररूप से उसका ज्ञान होना। यही तो साधारणीकरण है और यह साधारणीकरण सहृदयों के लिए एक अनुभवसिद्ध तथ्य है। अत इसका अपलाप न मनोविज्ञान कर सकता है और न सहस्रों मनोवैज्ञानिक ही। 'ज्वाला' सिनेमा की नायिकायें काननबाला और रेवा देवी प्रारम्भ में अपनी-अपनी विशेषताओं से युक्त ही प्रतीत होती है। किन्तु उनके मानस बनने पर सहृदयता-सम्पन्न भावना द्वारा उनका पुन पुनश्चिन्तन करने पर उनका भी कुछ क्षणो तक सहृदय को कामिनीरूप से ही भान होता है न कि काननबाला या रेवादेवी रूप मे, अर्थात् अपनी अपनी विशेषताओं के साथ। कुछ क्षणो तक साधारणीकृत रूप से इनकी उपस्थिति होने मात्र से कथावस्तु में या सिनेमा में किसी प्रकार के केऑस (Chaos) की सम्भावना नही है, क्योंकि उसमे पूर्व तथा उसके बाद की स्थिति मे उनकी सर्वविध विशेषताओ का भान बना रहता है। कुछ क्षणो तक ही ऐसी उपस्थिति होती है यह कथन हमे मान्य है, क्योंकि बार-बार तन्मयतापूर्वक चिन्तन करने से जो स्थिति आती है वह कतिपयक्षणस्थायिनी ही होती है। अत एव रसा-स्वादन भी तो कतिपयक्षणस्थायी ही है, चिरकाल तक उसकी प्रतीति नहीं होती।

और यह स्थिति भी उन्ही पुरुषो की होती है जिनका निर्मल चित्त वर्णनीय वस्तु या भाव के तन्मयीभवन मे समर्थ है। ऐसे ही पुरुष सहृदय कहलाते हैं और इसीलिए साधारणीकरण मे भावना के साथ साथ सहृदयता को भी कारण माना है। इसीलिए पण्डितराज जगन्नाथ ने 'सहृदयतासहकृतेन भावनाविशेषमहिम्ना' के द्वारा सहृदयता और भावना दोनों को ही साधारणीकरण मे कारण माना है। गुणालङ्कार-संस्कृत काव्यशब्दो से या चतुर्विध अभिनय से साधारणीकरण नही होता है। वे तो साधारणीकरण मे प्रयोजक अर्थात् परम्परया कारण हैं। क्योकि उनके द्वारा वर्णनीय वस्तु मे सौन्दर्य का उत्पादन किया जाता है, उन्हें सुन्दरता प्रदान की जाती है। और सुन्दर वस्तु मे मानव का मन रमता है और वह वस्तु उसके मन मे स्थान प्राप्त कर लेती है तथा सौन्दर्य के कारण व्यक्ति उसकी पुन पुन चिन्तना करता है। इसी आशय से भट्टनायक ने परम्परया गुणालङ्कार-संस्कृत शब्दो व चतुर्विध अभिनय को साधारणीकरण मे कारण बतलाया है न कि साक्षात् रूप से। पण्डितराज जगन्नाथ ने इसीलिए 'समुचितललितसंनिवेशचारुणा काव्येन समर्पितं सहृदयहृदय प्रविष्टे' शब्दो द्वारा इसी रहस्य की व्यक्ति की है कि गुणालङ्कार-संस्कृत काव्यशब्दो द्वारा उपस्थापित विषय सौन्दर्य के कारण सहृदयहृदय मे स्थान प्राप्त कर लेता है।

उपर्युक्त सन्दर्भ मे डा राकेश के इस आक्षेप का भी निराकरण हो जाता है कि 'गुण व अलङ्कारो मे तथा वाचिकादि चतुर्विध अभिनयो मे ऐसी क्या विशेषता या सामर्थ्य है जो विभावादि का साधारणीकरण कर देती है। ऐसी कोई शक्ति उनमे अनुभूत नही होती जो उन वस्तुओं को विशेषतारहित साधारण रूप में उपस्थापित कर सके। अपितु अलङ्कार आदि तत्त्व वर्णनीय वस्तु को अतिस्पष्ट रूप से उपस्थित कराते हैं और वह प्रतीति विशेषरूप से उपस्थित होने मे ही होती है न कि साधारण रूप मे।'[1] क्योकि गुण व अलङ्कार वर्णनीय वस्तु को सुन्दरता प्रदान कर सुन्दर रूप में उपस्थित करते हैं और सुन्दर वस्तु सहृदयहृदय मे प्रवेश करने में समर्थ होती है तथा उसकी पुन पुन चिन्तना कराने मे सक्षम है। इसी पुन पुनश्चिन्तनारूप भावना से वस्तु का साधारणीकरण होता है। अत गुणालङ्कारयुत शब्दो में साधारणीकरणयोग्यता अगत्या माननी ही पड़ती है और यह सहृदयानुभव-सिद्ध तथ्य है।

भट्टनायक के भोगकृत्व या भोजकत्व व्यापार का खण्डन करते हुए डा राकेश गुप्त ने उस व्यापार को 'यह एक दार्शनिक विश्वास है जो कि मनोविज्ञान का विषय नहीं है' कह कर टाल दिया है। उनके अनुसार मनोविज्ञान सांसारिक विषयों का ही ज्ञान कराता है, उससे बहिर्भूत आध्यात्मिक विषयो का नही। साथ ही उन्होंने यह भी कहा है कि रसानुभूतिदशा मे सत्त्वगुण का उद्रेक कैसे हो जाता है? और उसके उद्रेक मे विषयान्तरसम्पर्कशून्य मनोविश्रान्ति कैसे हो जाती है? अर्थात् ये दोनो ही स्थितियाँ सम्भावित नही हैं।

किन्तु जिस वस्तु का मन से ज्ञान होता है वह चाहे सासारिक हो या ससार से परे शुद्ध आध्यात्मिक हो, वह मनोविज्ञान के क्षेत्र मे आती ही है। सासारिक वस्तुए तथा उससे बहिर्भूत भी जो वस्तुए मन से सम्बन्धित है वे सभी मनोवैज्ञानिक अध्ययन के क्षेत्र मे आती ही हैं। मनोवैज्ञानिक अध्ययन मन के द्वारा अनुभूत होने वाले या मन से सम्बन्ध रखने वाले ज्ञान तथा उसके प्रभावो या परिणामो का अध्ययन है। इस अध्ययन क्षेत्र मे रस भी आता है। मन मे सत्त्व-गुण का किन्ही कारणो से उद्रेक होकर रज और तम के अभिभूत होने पर अन्तर्मुख होकर साधारणीकृत रत्यादि स्थायिभावो या आत्मा का मन-सम्बन्ध द्वारा कैसा ज्ञान होता है तथा उसके क्या परिणाम होते है? यह अध्ययन क्या मनोवैज्ञानिक अध्ययन का क्षेत्र नही है? अवश्य है। इस तथ्य को मान लेने पर सत्त्व का उद्रेक होकर रत्यादिमिश्रित आत्ममयी सविद्विश्रान्ति को दार्शनिक विश्वास कहकर टाल देना कहाँ तक सगत है? इसका सहृदय पाठक ही निर्णय करें। रही सत्त्व-गुण के उद्रेक की बात। त्रिगुणात्मक मन के जो सत्त्व, रजस्, तमस् तीन गुण हैं इनका विभिन्न कारणो व परिस्थितियो से उद्भव व अभिभव होता ही रहता है। लोक मे भी प्रतिदिन कभी सत्त्वगुण का, कभी रजस् का और कभी तमस् का उद्रेक होता है यह अनुभवसिद्ध है। सुखानुभूति, शान्त्यनुभूति एव ज्ञान की परि-स्थिति मे सत्त्वगुण का उद्रेक सभी स्वीकार करते हैं। किसी भी वस्तु का ज्ञान होता है या किसी प्रकार के आनन्द का अनुभव होता है उस समय सत्त्वगुण का उद्रेक सभी मानते हैं। क्योकि ज्ञान या आनन्द सत्त्व के स्वरूप हैं। इसीलिए साख्यकारिकाकार ने प्रीति अर्थात् सुख को सत्त्व का, दुख को रज का तथा मोह को तम का स्वरूप बतलाया है। ज्ञान या प्रकाश सत्त्व का कार्य है।[1] गीता मे भी चतुर्दश अध्याय मे सत्त्वादि के इन कार्यों का विवेचन किया गया है।[2] सत्त्व के उद्रेक के कारण बहुत हो सकते हैं, प्रकृत मे रसानुभूति मे साधारणीकृत सुन्दर वस्तुओ के सम्पर्क या चिन्तन से मन मे उसका उद्रेक होता है। और जब उसका उद्रेक होता है तब मन के अन्तर्मुख व एकाग्र होने पर रत्यादियुक्त आत्मा मे उसकी विश्रान्ति भी स्वत सिद्ध है। और उसमे विश्रान्ति होने पर रत्यादिमिश्रित आत्मानन्द की प्रतीति भी युक्तियुक्त है। चाहे इसको Miraculous Power माना जाय या और कुछ। किन्तु यह तथ्य सहृदयहृदयानुभवसिद्ध है, इसका अपलाप नही किया जा सकता।

रसानुभूतिजन्य आनन्द को ब्रह्मानन्दसहोदर मानना भी सर्वथा सगत है, क्योकि जैसे ब्रह्मानन्द की अनुभूति सत्त्वगुण का उद्रेक होने पर मन के अन्तर्मुख होने पर आत्ममात्रविश्रान्ति से होती है और वहाँ लौकिक विषयो का सम्पर्क नही होता उसी प्रकार रसानुभूति के समय काव्य या नाट्य के साधारणीकृत विभावादिरूप सुन्दर विषयो द्वारा सत्त्वगुण का उद्रेक होने पर मन अन्तर्मुख होकर आत्मानन्द

१. प्रीत्यप्रीतिविषादात्मका. प्रकाशप्रवृत्तिनियमार्था । सा का कारिका १२

२ भगवद्गीता अ १४ श्लोक ६, ७, ८, ११, १२, १३

का भान करता है और वहाँ भी अन्य लौकिक विषयों की प्रतीति नहीं होती किन्तु साधारणीकृत अत एव देशकालव्यक्तिसम्बन्धरहित रत्यादि स्थायिभावों की प्रतीति होती है। अत उसे ब्रह्मानन्दरूप न कहकर स्थायिभावों के सम्पर्क के कारण ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है। रसास्वाद में और सब बातें ब्रह्मानन्द के समान हैं, केवल रत्यादि स्थायिभावों का अधिक भान वहाँ होता है, एतावन्मात्र भेद है, इसी भेद के कारण तथा अन्य सभी समानताओं के कारण इसे ब्रह्मानन्दसहोदर (सदृश) कहा गया है।

डा राकेश गुप्त अपने शोध प्रबन्ध 'साईकोलोजिकल स्टडीज इन् रस' में आचार्य अभिनवगुप्तपाद के मत का निराकरण करते हुए कहते हैं कि "राम सीतादि पात्रों अर्थात् विभावों का तथा उनके मानसिक भावों व्यभिचारियों व स्थायिभावों का साधारणीकरण मनोविज्ञान के सिद्धान्त से अनुपपन्न है। हम ऐसे किसी प्रमाता सहृदय की सभावना नही कर सकते जिसे नाटकीय विभावादि के प्रत्यक्ष के समय इनके अतिरिक्त अन्य बाह्यवस्तु का ज्ञान न हो। अत देशकालव्यक्तिविशेषादि के सम्बन्ध से रहित रूप से विभावादि की उपस्थितिरूप साधारणीकरण सर्वथा अनुपपन्न है।

किन्तु डा राकेशगुप्त का यह कथन अनुभवविरुद्ध है। नाटकीय उपकरणों के द्वारा होने वाले विभावादि के ज्ञान मे तन्मय हो जाने पर अन्य वस्तु के ज्ञान के होने की बात को तो दूर जाने दीजिए। लोक मे भी जब कोई व्यक्ति किसी वस्तु मे तन्मय हो जाता है उस समय अन्य वस्तुओं का ज्ञान उसे नहीं रहता। अर्जुन ने जब लक्ष्यवेध किया था उस समय अर्जुन की मनोवृत्ति लक्ष्याकार ही हो गई थी, लक्ष्य से भिन्न उसे अन्य किसी वस्तु का ज्ञान या भान नही रहा था। तभी वह लक्ष्यवेध करने में समर्थ हो सका।

इसी आधार पर ब्रह्मरूपी लक्ष्य का वेध करने के लिए ब्रह्म में मन की तन्मयता उपनिषद् मे बतलाई गई है—

> प्रणवो धनु शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
> अप्रमत्तेन वेद्धव्य शरवत्तन्मयो भवेत् ॥[1]
>
> धनुर्गृहीत्वौपनिषद महास्त्र शर ह्युपासानिशित सन्धयीत।
> आयम्य तद्भावगतेन चेतसा लक्ष्य तदेवाक्षर सोम्य विद्धि ॥

एक गणितज्ञ किसी प्रश्न का समाधान तलाश करता है उस समय बहुत बार ऐसा होता है कि गणितज्ञ उस पर विचार करते करते इतना तन्मय हो जाता है कि उस प्रश्न को छोड़कर कोई भी वस्तु उसके चिन्तन में नही रहती। आत्मानुसन्धान करने वाला जब अन्यविषयों से चित्त को हटाकर आत्मा मे लगाता है उस समय समाधि मे उसकी मनोवृत्ति आत्माकार ही हो जाती है और आत्मा को छोड़ कर अन्य किसी भी वस्तु का भान उसे नहीं होता। क्योंकि मन से मनुष्य जिस वस्तु

1 मुण्डकोपनिषद् द्वितीय मुण्डक खण्ड २ मन्त्र ३, ४।

का बार बार चिन्तन करता है, मनुष्य की मनोवृत्ति उस समय तदाकार ही हो जाती है। और जिस वस्तु के आकार की मनोवृत्ति बनती है उसी वस्तु का ज्ञान उसे होता है अन्य वस्तु का नही। क्या मनोवैज्ञानिक किसी समस्या का चिन्तन करता हुआ ऐसी स्थिति मे नही पहुचता? अवश्य पहुचता है। तब गुणालङ्कारसस्कृत सुन्दर काव्यशब्दो द्वारा तथा सुन्दर अभिनय द्वारा उपस्थापित सीतादि विभावो तथा अनुभावो आदि के मन मे पहुचने पर तन्मयता से उनका चिन्तन करता हुआ सहृदय ऐसी स्थिति मे पहुच जाय और वे वस्तुएँ या वे मनोभाव ही उनके चित्त मे रहे शेष सभी सम्बद्ध वस्तुओ के सम्बन्ध का ज्ञान हटजाय तो कौनसी असम्भव बात है। यह तो तन्मयता से चिन्तन मे सर्वत्र ही होता है। इसी लिए अभिनवगुप्त ने कहा है—एकघनशोकसविच्चर्वणेऽपि लोके स्त्रीलोकस्य विश्रान्तिरन्तरायशून्यत्वात्[1]। सभी को किसी न किसी दशा मे ऐसी स्थिति का अनुभव होता है। फिर साधारणीकरण को अनुपपन्न बतलाना कैसे सम्भव है? अत साधारणीकरण की अनुपपत्ति बतलाना अनुभवविरुद्ध और अमनोवैज्ञानिक है। विभावादि का साधारणीकरण मानने वालो ने उसमे किसी वर्णनीय वस्तु या मनोभाव मे तन्मयीभवन की योग्यतारूप सहृदयता और उस भाव के पुन पुनरनुसन्धानरूप भावना को कारण बतलाया है। और यह स्थिति सहृदयो के हृदयसवाद से सिद्ध है अत: उसको अनुभवविरुद्ध बतलाना ही अनुभवविरुद्ध है।

डा राकेश गुप्त ने अभिनवगुप्त के—'साधारणीकृत विभावादि के द्वारा सहृदय के हृदय में वासनारूप से वर्तमान स्थायिभाव उद्बुद्ध हो जाता है किन्तु वह भी व्यक्तिविशेषसम्बन्धरहित रूप से उद्बुद्ध होता है, अत साधारणीकृत है। उसी साधारणीकृत रतिभाव का सहृदय प्रमाता ज्ञानरूप आस्वादन करता है और उपर्युक्त रीति से आस्वाद्यमान वही रत्यादिभाव रसपदाभिधेय है'—इस कथन का प्रत्याख्यान करते हुए कतिपय प्रश्नो का उद्भावन किया है—"जैसे साधारणीकृत विभावो तथा अनुभावो का सम्बन्ध सहृदय से नही है, क्यों कि अनुभाव आश्रयवर्ती हैं तथा विभावों का सम्बन्ध भी आश्रय मे है। अत. वे आश्रय मे विद्यमान रतिभाव का उद्बोध करने मे समर्थ हो सकते हैं किन्तु वे अनुभाव तथा विभाव सहृदय मे वासनारूप से विद्यमान भाव के उद्बोधन मे कैसे समर्थ होंगे? इसी प्रकार प्रेक्षक या सहृदय नाटक देखते समय या काव्य पढते समय काव्य मे चित्रित तथा नाटक मे अभिनय द्वारा प्रदर्शित रत्यादि वासनाओं का अनुभव नहीं करते हैं किन्तु यदि उनकी किसी पात्र के साथ सहानुभूति होती है तो उसके प्रेम-प्रदर्शन से वे हर्ष का तथा उस पर आपत्ति आने पर दु:ख का अनुभव करते हैं। रति का आस्वादन तो सहृदय उसी दशा मे कर सकते हैं जब कि नाट्यमच पर प्रदर्श्यमान पात्र के प्रेम-दर्शन मे उन्हें अपनी प्रेयसी की स्मृति या अपने निजी व्यक्ति की मृत्यु का स्मरण हो जाय। किन्तु यह सम्भव नहीं, क्योंकि प्रमाता सहृदय उस समय वेद्यान्तर के सम्पर्क से शून्य है। अपि च कभी

---

1. अभिनव भारती पृ २८२

कभी तो ऐसी स्थिति आती है कि रंगमंच पर प्रदर्श्यमान रति के विभावादि से विपरीत भाव की सहृदय को अनुभूति होती है। जैसे यदि किसी दुष्ट नायक के प्रेम का प्रदर्शन किया जाता है तो सहृदय में उस प्रेम-प्रदर्शन से रति की भावना जागरित न होकर दुःख या क्षोभ की भावना जागरित होती है। यदि यह कहा जाय कि वे विभावादि साधारणीकृत हैं अतः नायक में दुष्टता आदि का ज्ञान नहीं रहता तो उन साधारणीकृत अर्थात् व्यक्तिविशेषादिसम्बन्धरहित विभावादि से सहृदय में न सहानुभूति और न किसी विरोधी भाव का ही जागरण हो सकेगा फिर रति कैसे उद्बुद्ध हो सकती है ? ऐसी स्थिति में उन साधारणीकृत विभावादि का सहृदय के साथ किसी प्रकार का सम्बन्ध न होने से उनसे सहृदय के हृदय में वासनारूप से विद्यमान स्थायिभाव का उद्बोध मानना सर्वथा अनुपपन्न है।"

किन्तु डा० गुप्त के ये सब आक्षेप अविचारविजृम्भित हैं। क्योंकि यह तो यथार्थ है कि अनुभाव आश्रयवर्ती हैं और वे सीतादि विभाव रति के आश्रय राम के प्रति ही हैं न कि सहृदय के प्रति। किन्तु अभिनवगुप्त व्यक्तिविशेषसम्बद्ध कारण व कार्यों से सहृदयहृदयनिष्ठ रति का उद्बोध नहीं मानता अपितु साधारणीकृत अतएव व्यक्तिविशेषादि के सम्बन्ध से रहित विभावादि से मानता है। रत्यादि के कारण कार्य आदि में विभाव अनुभाव आदि का व्यपदेश ही उनके साधारणीकृत होने पर होता है। अतः विभावों व अनुभावों का आश्रय से सम्बन्ध मानना डा० गुप्त का सर्वथा निराधार है क्योंकि साधारणीकरण से पूर्व सीतादि कारण के व्यक्तिविशेष से सम्बद्ध होने से सहृदयहृदय में वासनारूप से विद्यमान रत्यादि भावों को आस्वादाङ्कुरयोग्य बनाना आदि विभावनादि व्यापार ही उनमें नहीं हैं। ये व्यापार तो साधारणीकरणानन्तर ही आते हैं और तब ही विभावादि संज्ञायें उनकी होती हैं। ऐसी स्थिति में यह कहना कि विभावादि आश्रय से सम्बन्धित हैं, उचित नहीं।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि साधारणीकरण के पश्चात् भी उनका सहृदय से कोई सम्बन्ध नहीं है तो सहृदय की रति का उद्बोध उन विभावादि से कैसे होगा किन्तु यह शङ्का भी समीचीन नहीं, क्योंकि व्यक्तिविशेषसम्बन्धरहित सामान्य कारणों से प्रत्येक पुरुष में रत्यादि भावों का उद्बोध होना सम्भव है। उनके व्यक्तिविशेषसम्बद्ध न होने के कारण सहृदय के साथ भी उनका सम्बन्ध माना जा सकता है। सीतादि की रामादिव्यक्तिविशेषसम्बन्धिता ही सहृदयों में रत्यादि भावों के उद्बोध में प्रतिबन्धक है और साधारणीकरण द्वारा उसका परिहार हो चुका है। अतः अब सहृदय में उन विभावों से रत्यादि के उद्बोध में कोई बाधा नहीं है। फिर भी प्रत्येक व्यक्ति में उनसे रत्यादि के उद्बोध की सम्भावना नहीं है, क्योंकि जिनमें सहृदयता है उन्हीं में विभावादि पदार्थों में तन्मय होकर भावना द्वारा साधारणीकरण की योग्यता है। उन्हीं सहृदयों में विभावादि का साधारणीकरण होता है। तथा जिनमें साधारणीकरण हो चुका है उन्हीं में साधारणीकृत विभावादि द्वारा रत्यादि का उद्बोध होता है। शेष व्यक्तियों के प्रति तो वे सीतादि व्यक्ति-

विशेष से सम्बन्धित हैं और व्यक्तिविशेषसम्बन्धित सीतादि, जिनसे उनका सम्बन्ध है उन्हीं में, रत्यादि भावों की जागर्ति के कारण हो सकते हैं अन्यों में नहीं।

अन्तिम आक्षेप जो डा राकेश गुप्त ने अभिनव के सिद्धान्त पर किया है वह यह है कि *'अभिनव रसानुभूति को आनन्दरूप इसलिए मानते हैं कि वहाँ* सविद्विश्रान्ति हो जाती है। और सविद्विश्रान्ति ही साम्ख्यमतानुसार सुख तथा सविच्चान्चल्य ही दुःख है। किन्तु सविद् की अविश्रान्ति अर्थात् चान्चल्य ही साम्ख्यमतानुसार दुःख माना जायगा तो लौकिक दशा में सदा दुःखानुभूति ही होगी। और लौकिक दशा अर्थात् व्यक्तिविशेषसम्बद्ध दशा को अभिनवगुप्त स्वय वैयक्तिक सुखदुःखरूप मानते है, अत उनका अपने वचन से ही विरोध है। किन्तु डा गुप्त अभिनवगुप्त के आशय को हो नही समझ सके। रसानुभूतिदशा मे सविद्विश्रान्ति होती है और सविद्विश्रान्ति साख्यमतानुसार सुखरूप है इसलिए रसानुभूति सुखमयी ही होती है न कि दुःखमयी यह अभिनव का आशय है। इसका यह तात्पर्य नही है कि लौकिक दशा मे सविद्विश्रान्ति होती ही नही वहाँ भी सविद्विश्रान्ति होती है अत वहाँ भी सुखानुभूति होती है किन्तु वहाँ कदाचित् ही सविद्विश्रान्ति होती है सर्वदा नही। अत लोक मे रत्यादि स्थायी भाव सुखदुःखो-भयात्मक हैं न कि एकान्तत सुखमय। किन्तु रसानुभूति मे तो सविद्विश्रान्ति अवश्य भावी है अत उस दशा मे एकान्तत सुख का ही भान होता है दुःख का नही। साख्य, वेदान्त आदि सभी शास्त्र इस तथ्य को स्वीकार करते हैं कि जब किसी अभीष्ट विषय पर मन कुछ क्षण के लिए स्थिर हो जाता है उस समय उस विषय पर मनोविश्रान्ति होने से सुख की प्रतीति होती है और जब मन कभी किसी विषय पर चलायमान रहता है तब सविद्विश्रान्ति नही होने पाती अत उस समय दुःखानु-भूति होती है। वेदान्त ने तो सविद्विश्रान्ति मे सुखानुभूति क्यों होती है इसका भी स्पष्ट विश्लेषण कर दिया है कि सविद्विश्रान्ति सत्त्वगुणोद्रेक मे होती है और उस समय मन अन्तर्मुख होकर स्थिर हो जाता है। उस पर आत्मा का पूर्ण प्रतिबिम्ब पड़ता है और आत्मा आनन्दरूप है, उसी आत्मानन्द की प्रतीति व्यक्ति को होती है। किन्तु मनोवृत्ति के चचल होते ही आत्मा का पूर्ण प्रतिबिम्ब नही पडने पाता अत उस समय उस आनन्द की प्रतीति नही होती।

इस विषय का निरूपण पन्चदशी, विचारसागर आदि ग्रन्थों मे स्पष्ट तौर से किया गया है। अत सविद्विश्रान्ति मे आत्मानन्द की प्रतीति होने से रसानुभूति मे आनन्द का ही भान होता है यह अभिनवगुप्त का कथन यथार्थ है। इसीलिए उन्होंने स्पष्ट कहा है कि 'अस्माकं मते तु सवेदनमेवानन्दघनमास्वाद्यते तत्र का दुःखाशङ्का'[1] अर्थात् रसानुभूतिदशा मे मन अन्तर्मुख होकर आत्मानन्द का ही ज्ञान-मय आस्वादन करता है और आत्मा आनन्दघन है। अत वहाँ दुःख की आशङ्का करना भी निरर्थक है। किन्तु यह दशा अभीष्ट विषय की प्राप्ति मे लौकिक

1 अभिनवभारती पृ २९२

दशा में भी होती है। अर्थात् व्याक्तावशपसम्वद्धता दशा में भी कतिपय क्षणों के लिए यदि संविद्विश्रान्ति हो जाती है तो वहाँ भी आत्मानन्द का भान होता है, किन्तु उसके माध्यम लौकिक विषय हैं अत उसे वैषयिक सुख या लौकिक सुख कहते हैं। अत संविद्विश्रान्ति को सुख मानने पर लोक में एकान्तत दु खानुभूति होने लग जायगी जो कि अनुभवविरुद्ध है, यह निष्कर्ष डा गुप्त का सर्वथा अज्ञानमूलक है।इति शम्।